सुभगोदयस्तोत्रम्

(तन्त्रम्)

महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

ॐ

(आनन्दवनग्रन्थमालायास्त्रयोविंशं कुसुमम्)

सुभगोदयस्तोत्रम्

अमृतझरिकान्वयार्थबोधिनीभ्यां सहितम्

महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

प्रकाशक :

श्री स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट

मूल्य : अजिल्द ३०.००
सजिल्द ४०.००

प्रथमावृत्ति : ११००

सन् : १९८६

प्राप्तिस्थान

आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम)
बम्बई ४०००६७



श्रीदक्षिणामूर्ति मठ
मिश्र पोखरा वाराणसी

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी



प्रस्तावना

भगवद्गौडपादाचार्य विरचित सुभगोदयस्तोत्रम् नाम का यह तन्त्र-शास्त्रग्रन्थ प्राचीनतर होने पर भी पाठकों के सम्मुख नवीन रूप से प्रस्तुत हो रहा है। समयमार्ग का सर्वाङ्गपूर्ण किन्तु अति संक्षिप्त यह अद्भुत ग्रंथ सदियों से ओझल-सा रहा यह कैसी ईश्वरीय लीला है। कई वर्ष पूर्व उपासनार्थ कोल्लूर मूकाम्बिका क्षेत्र (जो दक्षिण कर्णाटक में आता है) मैं गया था वहीं एक महान् संत से यह ग्रंथ मुझे मिला (बाद में इसका मुद्रण भी श्रीरंग से हुआ) मुझे उस समय बड़ा आनंद भी हुआ। उस समय मैं अल्प ऊमर का एक छोटा बालक था संस्कृत का मेरा ज्ञान शून्यप्राय था। फिर भी सन्तों की कृपा से थोड़ा-बहुत भाव समझ सका था। किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना के लिए उत्सुकता बनी रही। बाद में काशी में आकर व्याकरण-न्याय-वेदान्तादि का क्रमशः आचार्यपर्यन्त अध्ययन किया। एवं तंत्रशास्त्र के अनेक ग्रंथों का परिशीलन किया। लक्ष्मीधरीय टीका सहित सौन्दर्यलहरी का मनन किया। जब अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित अर्थनिश्चय (अपनी दृष्टि से) हुआ तब प्रथम अन्वयार्थबोधिनी नाम की छोटी व्याख्या लिखी। लग-भग आठ वर्ष पूर्व जगन्माता की प्रेरणा हुई तो यह विस्तृत व्याख्या भी लिख डाली।

सुभगोदय नाम

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम सुभगोदय है। सुभगोदयस्तोत्र एवं सुभगोदय-स्तुति नाम से भी इसे पुकारते हैं। यह नाम कैसे रखा गया? क्या एक अच्छा नाम होने मात्र से ऐसा नामकरण किया या अन्य किसी कारण से? त्रिपुरोपनिषद में आया है—

मदन्तिका मानिनी मङ्गला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरूपा ललिता लालयन्ती॥

इसमें पञ्चदश देवियों का या देवी के पञ्चदश रूपों का निरूपण किया है। ललितासहस्रनाम मे भी सुभगा नाम आता है। सम्भव है सुभगोदय इनमें आगत सुभगा को लेकर हुआ हो और सौन्दर्यलहरी सुन्दरी को

लेकर। 'शोभनाः भागाः यस्याः सा सुभगा' इस प्रकार व्युत्पत्ति भी हो सकती है। भग शब्द का ऐश्वर्यादि अर्थ है जिसको लेकर भगवान् भगवती आदि शब्दों की प्रवृत्ति हुई है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥

ऐश्वर्यादि छह को भग कहते हैं। पृथक् पृथक् नहीं। किन्तु छहों एक साथ में हो तो वह भगवान् है। विशेषरूप से सुष्ठुरूप से ये जहाँ हो वही सुभगा है।

वस्तुतः यहाँ सुभगा का मुख्यार्थ कुण्डलिनी है। उसका उदय अर्थात् उत्थान सुभगोदय है। उत्थान तो जागरणपूर्वक होगा। अतः कुण्डलिनी का जागरण और उत्थान—सहस्रार कमल के प्रति उद्गमन यहाँ अभिप्रेतार्थ है। यही बात आचार्य ने ग्रंथ के अंत में फलरूपेण बताया—

सहस्रारे पद्मे सुभगसुभगोदेति सुभगे

यही मूलाधार में परावाक् या पराशक्ति रूप से स्थित है। अत एव वेदों में इसे सरस्वती बताया—**"सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्"**। वह सर्वैश्वर्यसंपन्न है। लघुस्तव में कालिदासजी ने **"वाग्बीजे प्रथमे स्थिता" "शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननी"** इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। परा वाक् होने से वेदोक्त सरस्वती शब्द कुण्डलिनी में उपपन्न है। दूसरी बात

अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम्

के अनुसार मूलाधार गुद से ऊपर ध्वज से नीचे है। वही भगस्थान है। **गुदमेढ्रान्तरं योनिः** बताया है। अत एव 'शोभनो भगो भगस्थानमाश्रयो यस्याः' इस विग्रह से मूलाधारस्थान स्थित शक्ति ही सुभगा सिद्ध होती है। इतना अर्थ होने के बाद तद्रूप या तदभिन्न होने से उपनिषत्प्रोक्त तथा सहस्रारनामप्रोक्त सुभगा लेने में भी कोई हर्जा नहीं है। प्रकृत ग्रंथ में कुण्डलिनी जागरण ही मुख्य विषय है। तदर्थ ही श्रीचक्र षट्चक्रादि का वर्णन है। अर्थात् कुण्डलिनीजागरण एवं उसके उपाय श्रीविद्योपासनादि का वर्णन होने से प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम सुभगोदय हुआ। सुभगाया उदयः सुभगोदयः, सुभगाया उदयो यस्मात् ये दो अर्थ यहाँ तन्त्रतः विवक्षित होने से कुण्डलिनीजागरण एवं कुण्डलिनीजागरण

का उपाय ये दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। तादर्थ्यात् ग्रंथ भी सुभगोदय हुआ। 'सुभगाया उदयो यस्मिन्' ऐसा विग्रह कर फलार्थ भी किया जा सकता है। क्योंकि अन्तिम दो पद्यों में सायुज्यपदवीरूप विदेहमुक्ति तथा "**विचरति कृतार्थीकृतमतिः**" से अभिप्रेत जीवन्मुक्ति भी वर्णित है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कुण्डलिनीजागरण की प्रक्रिया का वर्णन योगशास्त्र में भी है। किन्तु योगपद्धति अलग है। तन्त्र-पद्धति अलग है। योगपद्धति में प्राणायाम की मुख्यता है तो तन्त्रपद्धति में भावना (ध्यान) की मुख्यता है। योग में प्राणायाम के द्वारा नाभि में अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। अत एव योगशास्त्रोक्त जठराग्निदीप्ति आदि अवान्तर फल की उपपत्ति है। किन्तु तन्त्रपद्धति में भावना से स्वाधिष्ठान में अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी का जागरण अग्निप्रज्वलन से होता है। तो स्वाधिष्ठान समीपतर होने से वहीं उसको सम्पन्न करना अधिक उपयुक्त है। इसीलिये योगशास्त्र में मणिपूर में अग्नितत्त्व माना तो तन्त्रशास्त्र में स्वाधिष्ठान में अग्नि-तत्त्व माना। इस रहस्य को न जानने और तन्त्रशास्त्रपरिशीलन न करने के कारण सौन्दर्यलहरी के षट्चक्रवर्णनप्रसङ्ग में कई व्याख्याकार दिग्-भ्रमित हो गये। वामकेश्वरादि तन्त्रों में इसका स्पष्टतर वर्णन है। हमारा यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि योगशास्त्रोक्त जटिल पद्धति को जो आत्म-सात् करने में असमर्थ हैं वे भी तन्त्रपद्धति से अभीष्ट (कुण्डलिनीजाग-रणादि) सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ भावना के द्वारा ही सब कुछ होता है यह विशेषता है।

श्रीविद्योपासना

यद्यपि कुण्डलिनी-उदय यहाँ का मुख्य विषय है। किन्तु वह श्रीविद्यो-पासना रूप मे यहाँ वर्णित हुआ है। अत एव श्रीविद्योपासना के विषय में भी विचार करना आवश्यक है। जैसे योग दो प्रकार का है—एक आकाशगमनादिसिद्धि का प्रयोजक है, दूसरा कुण्डलिनी जागरणयोग है, वैसे श्रीविद्योपासना भी दो प्रकार की है। एक नाना अभीष्ट फलप्रद बाह्यपूजारूप है। दूसरी कुण्डलिनीजागरणप्रयोजक अन्तर्याग है। वैसे तो शक्ति-उपासना अनादि वैदिक परम्परा से ही चली आ रही है। वेदों में देवीसूक्त, लक्ष्मीसूक्त, श्रीसूक्तादि शक्तिविषयक अनेक सूक्त एवं मंत्र

प्रसिद्ध हैं, एवं श्रीविद्या से सम्बन्धित अनेक ऋचायें भी वेदों में उपलब्ध हैं जिनमें कुछ का उल्लेख इस ग्रंथ में "तैत्तिर्यक ऋचि" आदि कह कर आचार्य ने किया है। त्रिपुरोपनिषत्, भावनोपनिषत्, अरुणोपनिषत् आदि अनेक उपनिषदें भी श्रीविद्या से सम्बन्धित हैं। यहाँ विवेच्य विषय तो श्रीविद्योपासना ही है। फिर भी सामान्य शक्ति-उपासना के बारे में भी किंचित् ऊहापोह अप्रासंगिक नहीं होगा।

शक्ति उपासना का विस्तृत वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है। देवीभागवत पुराण तो शक्ति का ही सांगोपांग वर्णन करता है। इसे शाक्त अठारह महापुराणों में अन्यतम मानते हैं। श्रीमद्भागवत को वे उपपुराण कहते हैं। किन्तु वैष्णव इससे विपरीत श्रीमद्भागवत को महापुराण एवं देवीभागवत को उपपुराण मानते हैं। दोनों में श्लोक संख्या बराबर ही मानी जाती है। विषय वर्णन भी दोनों में गहनरूप से हुआ है। अन्य पुराणों में वर्णित भागवत लक्षण भी दोनों में एक बराबर मिलते हैं, जैसे गायत्री से प्रारम्भ, वृत्तासुर-वध की कथा आदि। व्यासविरचित होने से प्रामाणिकता में भी दोनों समान ही हैं। तब कौन महापुराण और कौन उपपुराण यह निर्णय करना कठिन है। बल्कि आधुनिक गवेषकों की दृष्टि से देवीभागवत प्राचीन है। श्रीमद्भागवत अर्वाचीन है। क्योंकि नवम शताब्दीस्थ वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में देवीपुराण के श्लोकों का उद्धरण दिया है। एकादशशताब्दीस्थ रामानुजाचार्यपर्यन्त भी किसी ने श्रीमद्भागवत का उद्धरण नहीं दिया है। देवीभागवत माहात्म्य में देवीभागवत को भी श्रीमद्भागवत शब्द से ही उल्लेख किया है। मेरे विचार से पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों को मिलाकर जैसे **"पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राणि"** इत्यादि स्मृतियों में उल्लेख किया है वैसे अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत तथा देवीभागवत मिलाकर एक ही भागवत शब्द से उल्लेख किया है। यद्यपि दोनों के मिलाने पर छत्तीस हजार श्लोक हो जायेंगे। अठारह हजार की संख्या नहीं होगी। तथापि जहाँ अठारह हजार लिखा है वहाँ एकैकविवक्षा से समझना चाहिये। कहीं अठारह-अठारह हजार इस आवृत्ति में तात्पर्य समझना चाहिये। उभय जब व्यासविरचित हैं और प्रामाणिक हैं तथा समशरीर हैं तब पुराण उपपुराण की व्यवस्था अपने-अपने अभिनिवेशमात्र की ही बात होगी। अस्तु।

देवीभागवत से अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण में शक्ति का वर्णन आता है। मार्कण्डेय पुराण की दुर्गासप्तशती सर्वविदित है। अत्यन्त प्रसिद्ध है। ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तर खण्ड में ललितोपाख्यान आया है। वहीं पर ललितासहस्र नाम भी है जिसमें श्रीविद्या से सम्बन्धित अनेक विशिष्ट बातें हैं। भास्करराय कृत ललितासहस्र नाम भाष्य में उन सबका स्पष्टीकरण किया गया है। कालिका पुराणादि भी शक्तितत्त्वप्रतिपादक है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद एवं उपनिषदों में शक्ति-उपासना एवं श्रीविद्योपासना का वर्णन होने से यह वैदिक है ही और पुराणों में वर्णित होने से उपबृंहित भी है, वैदिकशिष्ट परिगृहीत भी है यह एक निर्विवाद तथ्य है।

शक्ति-उपासना का सांगोपांग विशद वर्णन तन्त्रग्रन्थों में पाया जाता है। वैसे तो सभी उपासनायें प्रायः तान्त्रिक या तन्त्रमिश्रित ही होती हैं, चाहे वह शिव-उपासना हो चाहे विष्णूपासना। तन्त्र ग्रन्थों को ही आगमशास्त्र भी कहते हैं। हमने ऊपर त्रिपुरोपनिषद का उल्लेख किया, जो नामतः ही त्रिपुरा श्रीविद्या की विशिष्ट प्रतिपादक प्रतीत होती है। उसी का विशेष विस्तार दक्षिणामूर्ति संहिता, ज्ञानार्णव, वामकेश्वर-तन्त्रादि में किया गया है। परशुराम कल्पसूत्र भी त्रिपुरोपनिषद का उपबृंहणरूप है। त्रितुरोपनिषद पर भास्करराय का भाष्य विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने उसे शांखायन आरण्य का ही भाग माना है। कुल मिलाकर श्रीविद्योपासना की वैदिकता आक्षेपायोग्य है।

शक्ति-उपासना में अनेक शाखा-प्रशाखायें हैं। दश महाविद्या प्रसिद्ध ही हैं। सबकी उपासना पद्धतियाँ अपनी-अपनी हैं। बगलामुखी छिन्नमस्ता तारा आदि देवी के ही नानारूप हैं। सबसे श्रेष्ठ एवं मुख्य श्रीविद्या ही मानी जाती है। ऐसी स्थिति में अन्य विद्याओं की क्या आवश्यकता यह प्रश्न उठ सकता है। वास्तविकता यह है कि **"सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ"** इस प्रकार सर्वफलार्थ दर्शपूर्णमास होने पर भी जैसे तत्तद् विशेष फल के लिये अन्यान्य याग भी किये जाते हैं वैसे यहाँ पर भी तत्तद् विशेष फल प्राप्ति के लिये अन्य उपासनाओं की उपयोगिता है। कुछ विद्यायें तो श्रीविद्योपासना में सहायक भी मानी गयी हैं। जैसे हमारी गुरुपरम्परा में महापुरुषों ने यह अनुभव कर बताया कि बाला की उपासना करने पर श्रीविद्योपासना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। निर्विघ्नतया वह फलपर्यवसायिनी होती है।

तीन सरणियाँ

शक्ति-उपासना का, उसमें भी श्रीविद्योपासना का सांगोपांग विशद वर्णन तन्त्र ग्रन्थों में है यह हम बता आये। तन्त्रग्रन्थों की संख्या कितनी यह कहना संभव नहीं है। वामकेश्वर तन्त्र में चौंसठ तन्त्रों के नाम गिनने के बाद सीधा ही कह दिया कि तन्त्र अनन्त है। शाक्ततन्त्र मुख्यतया तीन सरणियों में विभक्त हैं। कौल मार्ग, मिश्र मार्ग एवं समय मार्ग ये तीन सरणियाँ हैं। चौंसठ तन्त्रों में मुख्य रूप से कौल मार्ग का ही वर्णन है। महामाया शम्बर भैरवाष्टकादि उन तन्त्रों के नाम इसी ग्रन्थ के 'चतुःषष्टिस्तन्त्राणि' इत्यादि श्लोक में द्रष्टव्य हैं। मिश्र मार्ग में चन्द्रकला ज्योत्स्नावती आदि तन्त्र आते हैं। वे भी वहीं द्रष्टव्य हैं। समय मार्ग के मुख्य पाँच तन्त्र हैं। उनको शुभागम पञ्चक भी कहते हैं। वसिष्ठ संहिता, सनक संहिता इत्यादि उनके नाम हैं। इनमें कौल तामस सरणि है। इस सरणि में पञ्च मकारों का खुलकर प्रयोग होता है। मद्य-मांसादि पंच मकार हैं। इसी को वाम मार्ग भी कहते हैं। मिश्र राजस सरणि है। इसमें सव्य-अपसव्य दोनों प्रकार के अनुष्ठानों का प्रतिपादन है। समय मार्ग सात्त्विक सरणि है। उसमें कहीं भी मद्य-मांसादि के उपयोग की बात नहीं आती। यही दक्षिण मार्ग है।

श्री लक्ष्मीधरादि आचार्यों का मत

पूजा दो प्रकार से होती है। एक बाह्य पूजा है और दूसरी आभ्यन्तर पूजा है। इसी को अन्तर्याग भी कहते हैं। पूजा विधि का वैसे तो वर्णन प्रायः सभी तन्त्र ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। किंतु मुख्यतया कल्पसूत्रादि में पूजाविधि बतायी गयी है। परशुराम कृत कल्पसूत्र शाक्त जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध है। नित्योत्सवादि आधुनिक ग्रन्थ भी पूजाविषयक ही है। यद्यपि कल्पसूत्रों में बाह्यपूजन का ही विशेष निरूपण है, तथापि उन्हीं क्रियाकलापों को मानस रूप में भी करना संभव है। मानस पूजा दो प्रकार से होती है। एक तो बाह्य पूजा को ही मानस संकल्प रूप से किया जाता है। जैसे "कल्लोलोल्लसितामृताब्धिलहरीमध्ये.... सिंहासनं कल्पये" इत्यादि। दूसरी संपत्तिरूपी पूजा है। "जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना" इत्यादि सौन्दर्यलहरी श्लोक में स्पष्ट है। षोढैक्य चतुर्धैक्य चिन्तनादि को भी सपर्या बताया है। इसे मानस पूजा

का तृतीय प्रकार भी कह सकते हैं। सौन्दर्य लहरी के प्रसिद्ध एवं मुख्य टीकाकार श्रीलक्ष्मीधराचार्य की मान्यता है कि बाह्यपूजा अवैदिक है। समय मार्ग में बाह्यपूजन है नहीं। "बाह्यपूजा न कर्त्तव्या कर्त्तव्या बाह्यजातिभिः" इत्यादि शुभागमपञ्चकीय वचन को भी वे इस विषय में प्रमाणतया उद्धरण देते हैं। इसी बात का समर्थन भावनोपनिषद आदि की व्याख्या में अप्पय दीक्षित ने भी बडे जोरदार शब्दों में किया है। श्रीचक्र पूजा का खण्डन भो उन्होंने वहाँ किया है।

समालोचना

परन्तु बाह्यपूजा का सर्वथा निराकरण संगत नहीं है। क्या शिव-विष्णु-गणेशादि की बाह्यपूजा नहीं होती ? सुप्रसिद्ध बात है कि अप्पय दीक्षित बड़े शिवभक्त थे। शिवपूजापरायण थे। उनकी बाह्यपूजा का भी उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है। भारतवर्ष में हजारों वर्षों से बाह्यपूजा, मूर्त्तिपूजा आदि के रूप में चली आ रही है। स्मृतियों में इसका वर्णन भी है। पुराणों में तो अनेक विध बाह्य पूजाओं का सांगोपांग विधान जगह-जगह मिलेगा। इस प्रकार स्मृति एवं शिष्टाचार से शिव-विष्णु आदि का बाह्य-पूजन प्राप्त है तो कोई कारण नहीं कि उसी से देवी पूजन की सिद्धि न हो। अप्पय दीक्षित का कहना है कि इन रेखाओं का पूजन करने से क्या होगा ? परन्तु यह बात शालग्राम-शिवलिंगादि प्रस्तरपूजन में भी लागू हो सकती है। पत्थर की पूजा करने से क्या होता है ? ऐसा प्रश्न नहीं उठा सकते क्या ? शालग्रामशिलादि में यदि विष्णु आदि की भावना की जा सकती है तो श्रीचक्र में देवता भावना दण्डवारित नहीं हो सकती। श्रीचक्रपूजन भी स्मृति एवं शिष्टाचार से प्राप्त है। अनादिवैदिक परम्परा उभयत्र समान है। लक्ष्मीधराचार्य ने कुण्डलिनी के ऊर्ध्वनयन प्रसंग में मणिपूर में मणियों से पूजन हृदय में स्नानवस्त्रादि कण्ठ में नैवेद्यादि आज्ञा में आरात्तिक्यादि का वर्णन किया है। परन्तु यह सब बाहर आपने कहाँ देखा ? जिससे मानस-चिन्तन हो। बाह्यदृष्ट पूजन का ही मानस चिन्तन कुछ विशेषताओं के साथ किया जाता है। क्या बाह्य जाति (शूद्र जाति) वालों की पूजा देखकर उसका मानस चिन्तन आप करेंगे ? तब तो मानस पूजन वालों के गुरु शूद्र ही सिद्ध होंगे। शिव-विष्णु आदि का बाह्य पूजन देखकर

तदनुरूप देवीपूजन की अन्दर कल्पना करना अभिप्रेत है तो बाह्य देवीतूजन ने क्या बिगाड़ा ? कि उसे बाह्य जातियों के लिये छोड़ दिया गया। वस्तुतः बाह्य पूजा या कौलमत की त्याज्यता तामस होने के कारण ही है। किन्तु तामसता में प्रयोजक बाह्यत्व नहीं, किन्तु मद्य-मांसादि प्रयोग है। उसका परित्याग करने पर बाह्य पूजा की तामसता में कोई कारण नहीं है। यदि यह कहें कि मद्यादि के बिना बाह्यपूजा नहीं होगी, अनुकल्प ग्रहण करने पर भी उस की भावना रहेगी तो तुल्ययुक्ति मानस पूजा में भी है। बाह्यपूजानुकरण करते समय मानस पूजन में भी मद्यादि भावना के आने से तामसता निश्चित है। मद्यादि कल्प अनुकल्पादि चिन्तन के बिना यदि मानस पूजा हो सकती है तो वैसी ही बाह्य पूजा भी कर लीजिये। उसके बिना भी बाह्य पूजा का संभव हम आगे बतायंगे। हाँ कौलों का प्रत्यक्ष त्रिकोण पूजादि तो अतितामस शिष्टाचार विरुद्ध एवं लोकाचार से भी विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है। और वैसे पूजन के बारे में हम यही समझते हैं कि यह बाह्य जातियों के लिये भी उपादेय नहीं है। बाह्यपूजा निषेधवादियों का कहना है कि **"नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्"** इस श्रुति में ऋषि स्मरण को छोड़ने के लिये बताया है। ऋषिस्मरण के बिना बाह्यपूजन जपादि नहीं होता। वस्तुतः श्रीविद्या का एक ऋषि कामदेव है। यह श्लोकव्याख्या में स्पष्ट होगा। उस ऋषि का स्मरण न करने का अर्थ है मन में काम भाव रख कर नगर (श्रीचक्र) में प्रवेश न करो। वह पञ्चम-कारत्यागोपलक्षण है यह बात हम श्लोकव्याख्या में इंगित करेंगे।

कौलाचार्यमत

कौलाचार्यों का सिद्धान्त ठीक विपरीत है। उनका कहना है कि पञ्चमकार के प्रयोगमात्र से कौलमार्ग को तामस मान बैठना नितान्त अनुचित है। यदि ऐसा हो तो वैदिक यज्ञ भी तामस सिद्ध होंगे। सौत्रा-मणि, वाजपेय पौण्डरीक आदि यज्ञों में कई मकारों का प्रयोग होता है। यदि वह विधिविषय होने से ग्राह्य है, तामस नहीं है, तो शक्ति-उपासना में भी पञ्चमकार प्रयोग विधिविषय होने से समान है। **"परिस्रुतं झष-माद्यं पलं च"** इत्यादि पञ्चमकार विधायक वाक्य त्रिपुरोपनिषद में आता है। भास्करराय आदि आधुनिक विद्वानों का यहाँ तक कहना है कि मुख्य लाभ होने पर प्रतिनिधि का भी उपयोग नहीं किया जाता।

अर्थात्—बहुत स्थानों में मुख्य के बदले प्रतिनिधि से काम जो लेते हैं, जैसे यज्ञोपवीत के न मिलने पर उसके बदले अक्षतान् समर्पयामि इत्यादि वैसे मद्यमांसादि के बदले अनुकल्प (प्रतिनिधि) से काम तभी ले सकते हैं यदि मुख्य प्राप्त न हो।

"गोक्षीरं वह्निना पाच्यं खर्जूरस्य रसं प्रिये"
"गुडं तस्य मद्यतुल्यं"

इत्यादि मद्यानुकल्प है। "गोधूमं लोहितं चार्द्रं" इत्यादि मांसानुकल्प है। ये सब मद्यादि के प्रतिनिधि हैं। सात्त्विक पूजक इन्हीं से पूजन करें। इत्यादि सिद्धान्त है। किन्तु कट्टर कौल सात्त्विकादिभाव को नहीं समझते। उनका कहना है कि कदाचित् पञ्चमकार न मिले तो ही इनसे निर्वाह करना चाहिये।

समालोचना

किंतु यदि एकदम आसमान में चढ़ना उचित नहीं है तो सर्वथा पाताल में पड़ना भी ठीक नहीं है। मद्यमांसादि प्रतिषिद्ध तत्त्व होने से उनका प्रयोग पूजा में नहीं हो सकता। प्रतिषिद्ध होने से उस वस्तु का अस्पर्श प्राप्त है। अत एव उसका अलाभ भी है। अतः मुख्य का अलाभ नित्य-सिद्ध होने से प्रतिनिधि से ही सर्वत्र कार्य करना चाहिये। अत एव दुर्गा-पूजादि में प्रतिनिधि रूप से कुष्माण्डबलि आदि शिष्ट प्रचलित है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जो मद्य-मांसादि भक्षण करते हैं जिनके लिये वे अस्पृश्य नहीं है उनके लिये मकार का अलाभ नहीं माना जा सकता। वे भले प्रतिनिधि को ढूंढने का प्रयास न करे। अत एव सर्वत्र यदि प्रतिनिधि से ही काम लिया जाता है तो मुख्य विधायक शास्त्र अननुष्ठा-पक होने से मुख्यांश में अप्रामाणिक होगा इत्यादि पूर्वपक्ष का भी अवसर नहीं है। जैसे भीलनी ने श्रीराम को जूठा बेर खिलाया। जूठा खाना खिलाना दोनों प्रतिषिद्ध है। तथापि भील जाति में उस प्रति-षिद्धाचार का प्रचलन होने से भगवान की पूजा भी उसी प्रकार हुई। उससे भगवान् प्रसन्न भी हो गये। "मार्गावर्त्तितपादुका पशुपतेरङ्गस्य कूर्चायते" इत्यादि श्लोकों में आद्यशंकराचार्य ने वनचर का ऐसा ही वर्णन किया है।

यह बात भी हमने कौलमतानुसारी पूजा को लेकर बताया। समय-मतानुसार पञ्चमकार से पूजा का विधान आया ही नहीं है तो वहाँ प्रतिनिधि आदि का सवाल ही नहीं उठता। बाममार्गियों का जो इस पर यह वक्तव्य है कि जहाँ शुभागमों में पञ्चमकार बताया नहीं है वहाँ पर भी उपसंहार न्याय से उसे समझना चाहिये, जैसे वेदों में इतरशाखा-गत गुणों को अन्य शाखा में उपसंहार किया जाता है, नितान्त गलत है। क्योंकि वैदिक कर्म एवं उपासना से स्मार्त्त पूजनादि में काफी अन्तर है। पूजा में जहाँ जितनी बात बतायी गयी है उसमें भी संक्षेप एवं विस्तार होता है। ऐसी स्थिति में इतरग्रन्थों से उपसंहार का अवश्य कर्त्तव्य सिद्ध करना किसी भी हालत में संभव नहीं है। अन्यथा राजोपचार में प्राप्त हाथी, घोड़ा रत्नसिंहासनादि का समर्पण अवश्यकर्त्तव्य होगा। तब पूजा ही असंभव हो जायेगी। क्या भास्कर राय रोज एक-एक हाथी खरीदकर देवी को समर्पण करते थे।

यह कहना संभव नहीं है कि राजोपचार पूजा पृथक् प्रयोग है। नैमित्तिक है। नित्यपूजा पृथक् है। क्योंकि ऐसी स्थिति में राजोपचार पूजादिवस में नित्य पूजा का लोप मानना पड़ेगा। या फिर नित्यपूजा और राजोपचारपूजा ऐसी दो पूजा माननी पड़ेगी। परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आया है। बल्कि नित्यपूजा करते-करते कुछ राजपूजो-पचार सामग्री आयी तो उसे भी जोड़कर नित्यपूजा विस्तार ही देखने में आता है। अतः राजोपचारों से पूजन पृथक् प्रयोग नहीं है। नित्य-पूजा का ही वह विस्तार है। तात्पर्य यह कि स्वीयागमोक्त उपचार से भी पूजा पूर्ण ही मानी जाती है। उपसंहार न्याय से ग्रन्थान्तरोक्त उपचारों की एवं अंगों की अवश्यकर्त्तव्यता असिद्ध है। सात्त्विक अंगों की भी उपसंहार न्याय से अवश्यकर्त्तव्यता नहीं है तो प्रतिषिद्ध तामस पञ्चमकारोपसंहार कथा तो उसी सेवित मकार का ही प्रभाव मालूम पड़ता है। इस दुराग्रह का ही परिणाम यह हुआ कि पूरी तान्त्रिक उपासना को ही लोग घृणित तामस एवं हेय दृष्टि से देखने लगे। और परमशिष्ट समयाचार्यों ने बाह्यपूजा को ही त्यागने के लिये कहा।

सौन्दर्यलहरी और सुभगोदय

भगवान् आद्यशंकाराचार्य की सौन्दर्यलहरी शाक्त जगत में विशेष ख्याति प्राप्त एक विशिष्ट रचना है। सौन्दर्यलहरी भी स्तोत्ररूप है। और

वस्तुतः स्तुति ही है। सुभगोदय में प्रथम श्लोक में ही स्तुतित्वबोधक वन्दे पद का प्रयोग है। सौन्दर्यलहरी में तो जगह-जगह वन्दे ईडे इत्यादि आया है। देवी के गुणगण वर्णन से भी वह भरपूर है। विषय की दृष्टि से सुभगोदय तथा सौन्दर्यलहरी की अत्यन्त समता है। कहीं-कहीं तो शब्दतः भी समानता है जैसे—**जनकजननीमज्जगदिदम्** इत्यादि। दोनों में यह समान प्रयोग है। विषयतः अन्तर कहीं आया भी हो तो वह नगण्य है। **"मुखं बिन्दुं कृत्वा"** इत्यादि श्लोकों में कुछ काम्य प्रयोगों का वर्णन सौन्दर्यलहरी में आया है, किन्तु सुभगोदय में काम्य प्रयोग वर्णन का सर्वथा अभाव है। लक्ष्मीधरजी के अनुसार काम्यप्रयोग समयमार्गियों का नहीं होता। इसी कारण से मिश्र मत को भी अवैदिक सिद्ध करने का उनका प्रयास रहा है। सुभगोदय में भी **"यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह"** कहकर मिश्रमत की त्याज्यता ही बतायी है। तथापि सौन्दर्यलहरी में उन काम्य प्रयोगों का वर्णन काम्य फल लाभ संभव होने से किया गया है। सिद्धान्ततः काम्य प्रयोगों की हेयता तो आचार्य शंकर का भी सिद्धान्त है। अतएव सैद्धान्तिक मतभेद दोनों में नहीं ही है।

साहित्यिक दृष्टि से सौन्दर्यलहरी चरम उत्कर्ष का प्राप्त है इसमें संदेह नहीं है। किन्तु विषय की दृष्टि से सुभगोदय में अधिक सामग्री का निवेश दीखता है। व्याख्याकारों ने प्रसक्तानुप्रसक्तरूप में संपूर्ण विषयों का समावेश सौन्दर्यलहरी में करने का प्रयत्न किया है। किन्तु मूलतः अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों को लेते हुए भगवती की स्तुति करना ही सौन्दर्यलहरी का उद्देश्य प्रतीत होता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय श्रीचक्र, मन्त्र, षट्चक्रादि हैं। उनका सम्यक् वर्णन सौन्दर्यलहरी में है। अतएव उनके अनुप्रसक्त विषयों का वर्णन करना भी टीकाकारों का ससंगतिक है। परन्तु सम्भव है कि उनके पूर्वाचार्य ने ही विषय संकलन सुभगोदय में कर लिया। अतः आवश्यक विषयविस्तार सौन्दर्यलहरी का लक्ष्य रहा हो। उदाहरणार्थ—सुभगोदय में षट्चक्र वर्णन अल्पमात्रा में है। उसका विशद स्पष्ट वर्णन सौन्दर्यलहरी में है। सुभगोदय में श्रीचक्र का नाम ग्रहणमात्र किया है। कोणवर्णनादि विस्तार सौन्दर्यलहरी में मिलता है इत्यादि। अतः सौन्दर्यलहरी एक प्रकार से अनुपूरण का काम भी करती हुई प्रतीत होती है।

मन्त्र का उद्धार दोनों में गूढ तरीके से हुआ है। **"शिवः शक्तिः कामः"** इत्यादि सांकेतिक शब्दों में सौन्दर्यलहरी में मन्त्रोद्धार हुआ है। है। उससे भी जटिल तरीके से **"स्मरो मारो मारः"** इत्यादि शब्दों में सुभगोदय में हुआ है। विशेषता यही कि सौन्दर्यलहरी में भिन्न-भिन्न शब्दों में मन्त्रोद्धार है। सुभगोदय में केवल कामदेव पर्याय से ही काम ले लिया गया है। सुभगोदय का उक्त श्लोक पढ़ते समय ऐसा लगने लगता है कि मानो विषय पूर्ण करना आवश्यक होने से उक्त श्लोक लिखा गया। अन्यथा एक ही कामपर्यायवाची शब्दों से पूरे मन्त्र का उद्धार कर समझना किसो महाबुद्धिमान के भी वश की बात नहीं है। यदि कहें कि मन्त्र गुरुमुख से ही अवगत करना है तो फिर यह श्लोक केवल विषयपूर्त्ति मात्रार्थ हुआ। मन्त्र गुरुमुख से ही प्राप्त हो किन्तु कुछ संशय-विपर्यासादि निराकरण श्लोक से होता हो तो भी सार्थक माना जा सकता था। पर वह भी बात यहाँ नहीं है। यह है यहाँ की आपातिक स्थिति। वस्तुतः सौन्दर्यलहरी में भी बात इससे भिन्न नहीं है। "शिवः शक्तिः कामः" से कोई हादिविद्या का उद्धार करते हैं तो कोई कादिविद्या का। शिव 'ह्' को भी कहते हैं 'क' को भी कहते हैं। अन्य भी कई अक्षरों का वह संकेत है। वैसे ही शक्तिं आदि शब्द भी हैं। ऐसी स्थिति में "शिवः शक्तिः कामः" इत्यादि से मन्त्र को समझ लें यह भा असंभावित है। सांकेतिक शब्दों से, बिना गुरु मन्त्र समझना असम्भव समझकर ही सुभगोदयकार ने केवल ग्रन्थ पूर्त्यर्थ एक ही कामदेव के पर्यायों से संभवतः काम ले लिया। अलग-अलग शब्दों को ढूंढ़ने की क्यों खटपट करें। यथार्थ बात यह है कि मन्त्र तो गुरुमुख से ही प्राप्त करने का विधान है। वह काम कला विद्या है यह बताने के लिये कामपर्यायों को आचार्य ने रखा। लौकिक काम की व्यावृत्ति के लिये सौन्दर्यलहरी में शिव और शक्ति को बोलकर काम शब्द जोड़ा। यह विद्या जगत्सृष्टि मूल है यह द्योत्यार्थ है।

शंकराचार्य तथा सौन्दर्यलहरी

सौन्दर्यलहरी का कर्त्ता कौन ? श्रीशंकराचार्य ही या और कोई ? और शंकराचार्य ही हों तो भी आद्यशंकराचार्य या अन्य कोई शंकराचार्य ? यह प्रश्न काफी समय से जटिल बना हुआ है। श्रीलक्ष्मीधरजी ने स्पष्ट ही आद्यशंकराचार्य की कृति के रूप में इसे माना है। डिण्डिम

भाष्य में **"तव स्तन्यं मन्ये"** इस श्लोक की व्याख्या में सम्बन्ध नाम के व्यक्ति को द्रविडशिशु बताया है और लक्ष्मीधरजी ने स्वयं आचार्य को। अतः इस स्तोत्र के रचयिता डिण्डिमानुसार सम्बन्ध कवि है ऐसे आलोचक वर्ग का कहना है। परन्तु यह बात सही नहीं हैं। डिण्डिम भाष्यकार स्वयमेव **"महीं मूलाधारे"** इस श्लोक के भाष्य में लिखते हैं– **"प्रामाणिकचूडामणेर्भगवतः शंकराचार्यस्य निर्देशादेव समूलकताङ्गी-कर्त्तव्या"**। अर्थात् मणिपूर में जलतत्त्व और स्वाधिष्ठान में अग्नितत्त्व यह योगशास्त्र प्रतिकूल होने पर भो **"कमपि मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने"** इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य ने निर्देश किया है। अत एव समूलक है। (वामकेश्वरादि तन्त्रों में इसका स्पष्ट निर्देश है यह बात प्रस्तुत ग्रन्थ की अमृतझरिका में द्रष्टव्य है) तात्पर्य यह है कि डिण्डिम भाष्यकार ने मंगलाचरण में सौन्दर्यलहरी के कर्त्ता के बारे में जो विकल्प किया है वह स्वाभिमत नहीं किंवदन्ती कथन मात्र है। "तव स्तन्यं मन्ये" में आचार्य ने स्वयं का निर्देश किया या सम्बन्धकवि का यह विषयान्तर है। उससे सौन्दर्यलहरी का कर्तृत्व संशयास्पद नहीं हो सकता।

आधुनिक कतिपय समीक्षकों का कहना है कि केवलाद्वैत के प्रतिपादक ज्ञाननिष्ठा वाले आद्यशंकराचार्य द्वैतमिश्रित उपासनाप्रधान तन्त्रसिद्धांत-वादी कैसे हो सकते हैं। ये समीक्षक इस ढंग के तर्कों को लाकर काफी काट-छाँट करते रहते हैं। किन्तु यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि ज्ञानप्रतिपादन करते हुए भी आचार्य शंकर ने साधना के रूप में उपासना का पूर्ण समर्थन किया है। आचार्य स्थापित मठों में आज भी ऐसी उपासना-पूजा-पद्धति विद्यमान है। कुछ लोग उक्त तर्क का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि आचार्य ने ज्ञानप्राप्ति से पूर्व ही सौन्दर्यलहरी का निर्माण किया। इसमें उन्हें लक्ष्मीधरजी का समर्थन भो मिल जाता है। क्योंकि लक्ष्मीधरजी इसे आचार्य की बाल्यावस्था की कृति मानते हैं।

वस्तुतः ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व या पश्चात् कभी भी सौन्दर्यलहरी निर्माण सम्भव है। प्रपञ्चसार नाम के विशाल तन्त्रग्रंथ की रचना आचार्य ने की है। प्रपञ्चसार को आचार्य शंकर ने ही बनाया, सो भी आचार्यत्व प्राप्ति के बाद इसमें ही क्या प्रमाण है ऐसा भी तर्क ये लोग प्रस्तुत करते हैं। किन्तु सौभाग्यवश उस पर पद्मपादाचार्य की उपलब्ध टीका

इन समस्त संशयों को काट देती है। वे ही प्रसिद्ध पद्मपादाचार्य टीकाकार हैं या अन्य कोई ? अत एव प्रपञ्चसार कर्त्ता भी आद्यशंकराचार्य ही हैं या अन्य कोई ? इत्यादि तो अतिकुशंका है। दो-दो व्यक्ति बदल जाये यह अत्यन्त असम्भावित है। माना कि शंकराचार्य गद्दी पर बैठने वाले सभी शंकराचार्य कहलाते हैं, किन्तु पद्मपादाचार्य की ऐसी कोई गद्दी है नहीं, जिससे दूसरा पद्मपादाचार्य लेखक हो सके। जो गांभीर्य पद्मपादिका टीका में है वही साम्भीर्य प्रपञ्चसार टीका में भी परिलक्षित होता है। इतने प्रौढ़ दो-दो लेखक अपना जाली नाम चढ़ावें यह सम्भावना कौन कर सकता है ? शारदातिलकतन्त्र के कर्ता लक्ष्मणदेशिक के समान प्रपञ्चसार कर्त्ता (आचार्य शंकर से भिन्न होते तो भी) क्या प्रसिद्ध नहीं हो सकते थे ? नवम-दशम शताब्दी के शिवानन्द आदि ने नित्याषोडशिक्यावर्ण की :टीका में प्रपञ्चसार के अनेक उद्धरण जो दिए हैं एवं अन्य भी प्राचीन तन्त्राचार्यों ने प्रपञ्चसार को परम प्रमाण माना है इससे भी उसके आचार्यकृतित्व होने में संशय का अवसर नहीं रह जाता है। अति प्रौढ़ होने के कारण ही वह बाल्यावस्था में लिखा या युवावस्था में इत्यादि प्रश्न भी नहीं उठता। अद्वैताचार्य तन्त्र पर ग्रन्थ नहीं लिख सकते इत्यादि भी कल्पनामात्र है। वाचस्पति मिश्र ने छहों दर्शनों पर ग्रन्थ लिखा तो क्या छः वाचस्पतिमिश्र माने जायेंगे ? ग्रंथकर्त्ता भिन्न-भिन्न माने जायेंगे ? अतः सौन्दर्यलहरीकर्त्ता आद्यशंकराचार्य ही हैं यह सुनिश्चित है।

सुभगोदयकर्त्ता गौडपादाचार्य

इसके बाद सुभगोदय स्तोत्र का कर्त्ता कौन ? यह विचार उपस्थित होता है भगवान् अद्यशंकराचार्य सौन्दर्यलहरी के कर्त्ता हैं तो उनके पथ-प्रदर्शक के रूप में उन्हीं के परमगुरु गौडपादाचार्य को सुभगोदय कर्त्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। अजातवाद के समर्थक माण्डुक्यकारिका के रचयिता देवीस्तुति में कैसे लग सकते हैं इस शंका का समाधान तो सौन्दर्यलहरी के कर्त्ता के रचयिता के बारे में जो विचार प्रस्तुत किया उसी से गतार्थ है। परन्तु आज तक इसका प्रचार क्यों नहीं हुआ ? जैसा सौन्दर्यलहरी का हुआ। आज तक इस पर किसी ने कोई टीका क्यों नहीं लिखी ? जब कि सौन्दर्य लहरी पर बीसों टीकायें लिखी गयी है। इनसे भी परवर्त्ती अनेक आचार्यों के शाक्त

ग्रन्थों पर भी टीकायें हुई हैं। पर सुभगोदय पर एक भी टीका उपलब्ध नहीं हुई। इससे क्या यह कल्पना नहीं होती कि यह किसी अर्वाचीन शाक्त कवि की रचना है ?

यह एक संभावित तर्क है। अतिजटिल प्रश्न है। इस प्रश्न पर प्रथम विचार कर हम आगे विचार चलायेंगे। इस विषय में हमें आभास यही होता है कि अद्वैताचार्य वर्ग हमेशा द्वैतसन्देही ग्रन्थों की उपेक्षा करते आये हैं। आज भी परम वेदान्ती सन्त उपासना आदि की विशेष महत्ता नहीं मानते। औपासनिक ग्रन्थों की तो बात दूर, आचार्यशंकर कृत योगसूत्रभाष्य विवरण को भी वेदान्तियों ने प्रकट नहीं किया। कुछ वर्ष पुर्व हो वह दक्षिण से प्रकाशित हुआ था। उससे पूर्व उसका नामनिशान भी समाज में लुप्त हो गया था। उस पर भी आचार्यकृति होने का संशय आधुनिक लोग करते हैं। परन्तु वाचस्पत्य तत्त्ववैशारदो से वह पूर्वकालिक होने से वह संशय भी निराधार है। भाष्यविवरण में में प्राचीन अनेक पाठभेद दिये हैं। किन्तु वाचस्पत्य व्याख्यानुसार जो पाठभेद होते हैं उनमें एक को भी नहीं दिखाया। वाचस्पत्ति के बाद उनके ग्रन्थ इतनी त्वरित गति से प्रचारित हुए कि अर्धशताब्दी से पूर्व ही न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य की तात्पर्यपरिशुद्धि बन गयी। एक जगह योगसूत्र भाष्यविवरण के संपादक को 'अपरेतु' कह कर वाचस्पति मत के उद्धरण का संशय हुआ है। किन्तु मनन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाचस्पति मत के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ दूर तक मैंने विवरण पर टीका लिखी थी (बाद में समय न मिलने से छोड़ दिया) उसमें इसका स्पष्टीकरण किया है। प्रश्न होगा कि वाचस्पति ने भी तो विवरण या विवरणधृत भाष्यपाठों का कहीं उल्लेख नहीं किया है। हो सकता है वाचस्पतिमिश्र को भी विवरण न मिला हो। क्योंकि वेदान्ती लोगों ने केवल वेदान्तग्रन्थों का ही प्रचार किया। ऐसी स्थिति में सुभगोदय स्तोत्र यदि अप्रचारित हो रहा तो कौन सी बड़ी बात है। मठों में वह दबा ही पड़ा रह गया। सौन्दर्य लहरी को भी वेदान्तियों ने प्रचारित नहीं किया। वह कुछ साहित्यरसिकों के हाथ लग गयो। उन्होंने उसका प्रचार किया साहित्यिक दृष्टि से। उसका लाभ तान्त्रिकों को मिला और उन्होंने उस पर टीकायें लिख डालीं। दूसरी बात, कौल एवं मिश्रमत की त्याज्यता तथा

अन्तर्यागममात्र की कर्त्तव्यता पर जोर देने के कारण बाद के आचार्यों ने सुभगोदय को विशेष रूप से अपनाया नहीं। यहाँ सकाम उपासना की कहीं चर्चा ही नहीं है जो जनाकर्षक है।

साहित्यिक दृष्टि से सुभगोदय सौन्दर्य लहरी के बराबर नहीं माना जा सकता। उसका कारण यह नहीं कि गौडपादाचार्य वैसा लिख नहीं सकते थे। क्योंकि सुभगोदय में कोई कोई श्लोक साहित्य दृष्टि से उत्कृष्ट नमूने के भी हैं।

ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाशकमले
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्काररसिका

इत्यादि शब्दमाधुर्यपूर्ण अर्थालङ्कारयुक्त देखे जा सकते हैं। किन्तु आचार्य की दृष्टि विषयप्रतिपादन में अधिक होने से अनेक स्थानों में काव्यकलादृष्टि को पीछे रखा। यह स्वभाव तो माण्डूक्य कारिकाओं में भी समान रूप से पाया जाता है।

सुभगोदय और लक्ष्मीधरीय

एक और विशेष बात यह सामने आती है कि सौन्दर्य लहरी पर लक्ष्मीधराचार्य की जो लक्ष्मीधरा टीका है वह विषय दृष्टि से लगभग पूर्णरूप से सुभगोदय से मिलता-जुलता है। यदि सुभगोदय और लक्ष्मी-धरीय को एक साथ में रख कर अवलोकन किया जाये तो ऐसा लगेगा कि सौन्दर्यलहरी की व्याख्या के बहाने लक्ष्मीधर जी ने सुभगोदय का ही प्रायः विवरण लिख दिया है। यदि लक्ष्मीधरीय के पदार्थों को संगृहीत कर संक्षेपतः श्लोक लिखे जाये तो बहुत अंशों में सुभगोदय का ही स्वरूप बन सकता है। लक्ष्मीधरीय की शिवः शक्तिः कामः इत्यादि श्लोक की व्याख्या की इन पंक्तियों को देखिये—

योगी यदा समाहितचित्तः चन्द्रं चन्द्रस्थाने सूर्यं सूर्यस्थाने वायुना निरोद्धुं क्षमते तदा सूर्यचन्द्रौ निरुद्धौ अमृतसेचनतदाहरणयोरशक्तौ तदानीं वायुना प्रेरितेन स्वाधिष्ठानवह्निना शुष्कीभूतेऽमृतकुण्डे नि-राहारा कुण्डलिनी सुप्तोत्थिता सती सर्पवत् फूत्कारं कुर्वती ग्रन्थि-त्रयं भित्त्वा सहस्रदलकमलवर्त्ति चन्द्रमण्डलं दशति। तस्माद् गलत्पीयूषधारा आज्ञाचक्रोपरिस्थितचन्द्रमण्डलमाप्लावयन्ति। तस्माद् गलिताभिरमृतधाराभिः सर्वं देहमाप्लावयन्ति॥

अब सुभगोदय का यह श्लोक देखिये—

यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
दशक्तौ पीयूषस्रवणहरणे सा च भुजगी।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं
सुधाधारासारैः स्नपयसि तनुं बैन्दवकले॥

इस प्रकार प्रायः सर्वत्र अर्थतः अत्यन्त समानता और कहीं शब्दतः भी समानता देखने में आती है। इसे देखकर आधुनिकों को संशय हो सकता है कि किसी कवि ने लक्ष्मीधरा टीका का मनन कर तदनुसार इस ग्रंथ को नहीं बनाया? और अपना नाम प्रकट न कर गौडपादाचार्य के नाम से तो नहीं कर दिया? या नाम प्रकट न होने से सौन्दर्यलहरी से मिलते-जुलते श्लोकों को देख कर सौन्दर्यलहरी के प्रेरणास्रोत की कल्पना कर परवर्त्तियों ने गौडपादाचार्य का नाम तो नहीं चढ़ाया? इस कल्पना में एक दलील यह भी है कि ऐसी कल्पना करते समय किसी ने गोविन्दपादाचार्य की ही कल्पना कर डाली है। केरल में कहीं कहीं यह ग्रन्थ गोविन्दपादविरचित के रूप में प्रसिद्ध है। यहाँ दूसरे प्रकार की शंका है कि स्वयं लक्ष्मीधरजी ने ही इस ग्रन्थ की रचना तो नहीं की? लेखनपरम्परा में पुष्पिका नष्ट होने पर परवर्त्तियों ने पूर्वोक्त युक्तियों से रचयिता के रूप में गौडपादाचार्य की या गोविन्दपादाचार्य की कल्पना तो नहीं की?

इन शंकाओं में प्रथम शंका का निराकरण स्वयं लक्ष्मीधरजी कृत एक उद्धरण से हो जाता है। लक्ष्मीधरजी ने सुभगोदय स्तोत्र के एक श्लोक का उद्धरण सौन्दर्यलहरी (श्लोक ४१) में दिया है। परन्तु उस उद्धरण ने दूसरे प्रकार की शंका को तो प्रायः समूल ही बना दिया है। वहाँ की पंक्ति है—

उभयमस्माकं संमतमेव। कर्णावतंसस्तुतौ मदीयायां—
भवानि श्रीहस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमथो.........।

भवानि इत्यादि यहाँ का सोलहवाँ श्लोक है। इस पंक्ति से यही मालूम पड़ता है कि लक्ष्मीधरजी ने 'कर्णावतंसस्तुति' नाम का कोई ग्रन्थ लिखा है। उसी का 'भवानि श्रीहस्तैः' इत्यादि श्लोक है। लक्ष्मीधरजी धृत श्लोक में कुछ पाठभेद है। किन्तु श्रीरंग मुद्रित सुभगोदय में उन पाठ-

2i

भेदों को यहीं का पाठभेद दिखाया है। तब क्या सुभगोदय लक्ष्मीधरीय रचना है?।

सुभगोदय गौडपादीय रचना ही है—

शंका का समाधान यह है कि लक्ष्मीधरजी के उक्त उद्धरण से यह तो सिद्ध ही हो गया कि त्रयोदश या चतुर्दश शती में स्थित लक्ष्मीधरजी के बाद का यह स्तोत्र तो नहीं ही है। प्रश्न इतना ही रह जाता है कि लक्ष्मीधरजी ने स्वयं रचना की या उससे पूर्व किसी ने? जो ऊपर कर्णावतंसस्तुति का उल्लेख किया इसका नामान्तर यह सुभगोदय नहीं है। कारण इसके कुछ ही पूर्व लक्ष्मीधरजी ने कर्णावतंस स्तुति के एक दूसरे श्लोक का उद्धरण दिया है—

आज्ञात्मकद्विदलपद्मगते तदानीं
विद्युन्निभे रविशशिप्रियतोत्कटाभे।
गण्डस्थलप्रतिफलत्करदीपजाल-
कर्णावतंसकलिके कमलायताक्षि॥

इससे अवगत होता है कि कर्णावतंसस्तुति केवल शिखरिणीवृत्त में नहीं है। वसन्ततिलका आदि छन्दों में भी श्लोक हैं। परन्तु सुभगोदय में सभी श्लोक शिखरिणीवृत्त में हैं। दूसरी बात यह है कि कर्णावतंस का अर्थ है कर्णभूषण। वसन्ततिलका में 'कर्णावतंसकलिके' इस सम्बोधन से स्पष्ट है कि वह कर्णभूषणस्तुति है। किन्तु "भवानि श्रीहस्तैः" इस श्लोक में कर्णावतंस का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं हो रहा। और न पूरे सुभगोदय में ही कहीं कर्णावतंस स्तुति की झलक मिलती है।

दूसरी बात यह है कि लक्ष्मीधरजो की श्लोकरचनापद्धति से सुभगोदय की रचनापद्धति अत्यन्त भिन्न है—

वन्दामहे महीयांसमंसलम्बिजटाधरम्।
यत्कङ्कणझणत्काररवः शब्दानुशासनम्॥

इत्यादि मंगल श्लोकों में तथा—

वयमिह पदविद्यां तन्त्रमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्त्तयामः स पन्थाः।

ऐसी अन्तिम स्वप्रशस्ति में जो शब्दालंकारादि है वही पूर्वोक्त "आज्ञात्मकद्विदलपद्मगते तदानीं" इत्यादि कर्णावतंसस्तुति के श्लोक में भी परिलक्षित होता है।

"सायं संफुल्लमल्लीसुमसुरभिसुधामाधुरी साधुरीति, प्रेङ्खत्पुङ्ख" इत्यादि में लक्ष्मीधरजी का साहित्यप्रेम प्रयत्नपूर्वक शब्दसमावेश आदि स्पष्टतया दीखते हैं। सौन्दर्यलहरी के श्लोकों में प्रतिश्लोक अलंकारादि विभाग प्रदर्शन से यह भी स्पष्ट होता है कि वे अलंकारादि शास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। साथ ही दुरूह को सुगम बनाने की उनकी प्रवृत्ति भी सौन्दर्यलहरी (३२वें श्लोक) की टीका में निम्नलिखित पंक्तियों से अवगत होती है—

"अयं च संप्रदायक्रमः सम्यगुक्तोऽपि दुर्विज्ञेयं
प्रमेयजातमिति विस्पष्टार्थं पुनरुच्यते"

सुगमता के सामने पुनरुक्ति की भी वे गणना नहीं करते। ऐसे शिष्य दयालु—

ककाराकाराभ्यां स्वरगणमवष्टभ्य निखिलं
कलाप्रत्याहरात्सकलमभवद् व्यञ्जनगणः।
त्रिखण्डे स्यात्प्रत्याहरणमिदमञ्चत्कषयुगं
क्षकरश्चाकारोऽक्षरतनुतया चाक्षरमिति॥—

जैसा दुरूह अन्वय वाला श्लोक लिखेंगे यह कल्पना नहीं हो सकती। बल्कि भाष्य के होने पर भी गौडपादाचार्य के

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते॥

इत्यादि श्लोक ऐसे हैं कि सम्हालने वाले कृपालु आनन्दगिरि न होते तो घण्टों तक आगे पीछे मिलाते ही रह जाते फिर भी ग्रन्थाशय न खुलता। गौडपादाचार्य जी ऐसे हैं कि वे शब्दसौन्दर्यादि पर ध्यान बिलकुल नहीं देते थे। स्वाभाविक रूप से कहीं आ गया तो अलग बात है। जैसे हमने पूर्व दरसाया।

इन्हीं कल्पनाओं के आधार पर ही हम लक्ष्मीधर जी की कृति होने का निरास नहीं करते। अपितु सुभगोदय के प्रमेय में और लक्ष्मीधर जी के प्रमेय में काफी अन्तर भी जगह-जगह देखने में आता है। "भवानि श्रीहस्तैः" इस श्लोक का जहाँ उद्धरण दिया है वहाँ लक्ष्मीधर जी लिखते हैं—"यहाँ भगवान् शंकराचार्य के मत में चतुर्विध ऐक्य के अनुसन्धान के बाद मणिपूर में प्रत्यक्ष होने वाली भगवती का "क्वणकाञ्चीदामा" (सौ० श्लो० ७) इत्यादि ध्यान श्लोक में प्रतिपादित धनुष-बाण-

पाश-अंकुशवाली चार भुजाओं से युक्त स्वरूप होता है। उनके मत का जो अनुसरण करते हैं उनको भी भगवती उसी रूप में प्रत्यक्ष होती है। हमारे (लक्ष्मोधर जी के) मत में षड्विध ऐक्य चिन्तन के बाद मूलाधार और स्वाधिष्ठान का भेदन कर मणिपूर में प्रसन्नवदना भगवती दशभुजा के रूप में प्रत्यक्ष होती है। दस भुजाओं में आठ में धनुष, बाण, पाश, अंकुश, वर, अभय, पुस्तक और अक्षमाला तथा दो हाथों में वीणा इस प्रकार आयुधादि हैं। मेरे (लक्ष्मोधरजो के) एकदेशी मत में विशेषता यह है कि आठ भुजाओं में पाश, अंकुश, पुण्ड्रेक्षुधनुष, पुष्पबाण, जपमालिका, शुक अभय और वर होते हैं और दो में वक्षःस्थ वोणा।" यही एक देशी मत "भवानि श्रीहस्तैः" इत्यादि श्लोक में प्रतिपादित हुआ है। यदि सुभगोदय लक्ष्मीधरकर्त्तृक हो तो उसमें स्वमत न बताकर एकदेशी मत मात्र का सिद्धान्त रूपेण प्रदर्शन कैसे संभव है? अतः **"उभयस्माकं संमतमेव। कर्णावतंसस्तुतौ मदीयायां—भवानि श्रीहस्तैः"** इस लक्ष्मीधरीय पङ्क्ति में कुछ पाठ च्युति हुई होगो। या उपरोक्त पङ्क्ति का अर्थ ऐसा लगना चाहिये कि—उभयमस्माकं संमतमेव स्वीकृतमेव कवर्णावतंसस्तुतावुभममस्माभिः प्रतिपादितमेव। किं तदेकदेशिमतं?—"भवानि श्रीहस्तैः"। अर्थात् दोनों मतों को हमने कर्णावतंसस्तुति में प्रतिपादित किया है। एकदेशी मत है—भवानि श्रीहस्तैः इत्यादि। जो सुभगोदय में आया है। गौडपादाचार्य जी पूर्ववर्त्ती होने से लक्ष्मोधर जी के एकदेशी कैसे? और स्वयं लक्ष्मीधर निर्मित हो सुभगोदय तो भी स्वयं का स्वयं एकदेशी किस प्रकार? परवर्त्ती कोई लेखक हो तो परवर्त्ती को देखा-सुना ही नहीं तो वह भी एकदेशी कैसा?। अतः मदेकदेशी का अर्थ होगा गुरुपरम्परा से मुझे प्राप्त सिद्धान्त का एकदेशी सिद्धान्त। अत एव यह एकदेशी मत पूर्व परम्परागत ही निश्चित होता है। तब लक्ष्मीधर जी ने सुभगोदय कर्त्ता का नाम निर्देश क्यों नहीं किया? जब कि इसके बाद ही कालिदास जी का नामोल्लेख करते हैं—**"चर्चास्तोत्रेऽपि कालिदासकृते"**। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। पूर्वोक्त पाठच्युति में गौडपादाचार्य का नाम छूट गया हो। या चर्चास्तुति अधिक प्रसिद्ध न होने से प्रामाण्यार्थ कालिदास का नाम लिया हो। सुभगोदयस्तुति के कर्त्ता का नाम उस समय अज्ञात रहा हो।

सुभगोदयस्तोत्र और सुभगोदयवासना

वैसे सुभगोदय नाम तो कई बार लक्ष्मीधर जी ने लिया है। परन्तु वहाँ निर्दिष्ट श्लोक प्रकृत सुभगोदय में उपलब्ध नहीं होता। अत एव वह इससे पृथक् ही है। रचयिता का नाम वहाँ भी लक्ष्मीधर जी ने नहीं लिया है। फिर भी शिवानन्द विरचित सुभगोदयवासना में वे सभी श्लोक उपलब्ध होते हैं। अतः सुभगोदय का सुभगोदयवासना में ही तात्पर्य प्रतीत होता है। किन्तु एक जगह शंकराचार्यकृत सुभगोदय व्याख्या का निर्देश लक्ष्मीधराचार्य ने किया है। वह सुभगोदय कौन सा है? शिवानन्दाचार्य तो शंकराचार्य के परवर्त्ती हैं। क्योंकि उन्होंने नित्याषोडशिकार्णव की व्याख्या ऋजुविमर्शिनी में प्रपञ्चसार का काफी उद्धरण दिया है। यद्यपि उद्धरण के मूलस्रोत के रूप में न तो प्रपञ्चसार का उन्होंने नाम लिया है ओर न शंकराचार्य का ही। फिर भी उद्धरण अतिप्रसिद्ध वाक्य के समान किया है। अत एव शंकराचार्य से परवर्त्ती होने में कोई संशय नहीं है। अत एव शिवानन्दीय सुभगोदय से पृथक् ही यह सुभगोदय प्रतीत होता है।

"शिखिज्वालारूपः समय इह सैवात्र समया"

इस श्लोक पाद के उद्धरण से प्रतीत होता है कि शंकराचार्यकृत सुभगोदय व्याख्या गद्यपद्यात्मक है और पञ्चकसाम्य वर्णनरूप होने से प्रस्तुत सुभगोदय की व्याख्या है। यदि यह यथार्थ है तो प्रस्तुत सुभगोदय के कर्त्ता के विषय में संशय के लिये अवसर ही नहीं रहेगा। अस्तु।

लक्ष्मीधरीय एवं सुभगोदय में अन्य असमानतायें

लक्ष्मीधरीय मत में और सुभगोदय मत में एक भेद हमने ऊपर दिखाया। इससे अतिरिक्त और भी असमानतायें दोनों में है जिनका भी थोड़ा दिग्दर्शन यहाँ कराना अप्रासंगिक नहीं होगा। पूर्वोक्त आधार श्लोक (श्लोक० ४१) की व्याख्या में लक्ष्मीधर जी कहते हैं—"समयमत में चतुर्धैक्य प्रायः सर्वसम्मत है। कुछ लोग षोढैक्य कहते हैं" [समयिनां चतुर्धैक्यसंधानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत् सर्वसम्मतम्। केचित्तु-षोढैक्यमाहुः] अब सुभगोदय में देखिए—

"तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां
चतुर्धैक्यं तेषां भवति हि सपर्या समयिनाम्।"

षोढैक्यवालों को ही चतुर्धैक्य होता है। यहाँ विकल्प नहीं है।

लक्ष्मीधर मत में	सुभगोदय मत में
(१) षट्चक्र श्री चक्रैक्य	(१) षट्चक्र,
(२) चतुरश्र-सहस्रकमलैक्य	(२) श्रीचक्र,
(३) देवी-शिवैक्य	(३) मातृका,
(४) चक्रमन्त्रैक्य	(४) मन्त्र इनका परस्पर चार ऐक्य

इस प्रकार चतुर्धैक्य में दोनों में भिन्नता है।

लक्ष्मीधरी—"नादबिन्दुकलानां परस्परैक्यानुसन्धानं षोढा भवतीति षोढैक्यमाहुः"।—नाद, बिन्दु और कला तीन के परस्परैक्य छः हैं यही षोढैक्य है। अर्थात् नाद में बिन्दु ऐक्य, बिन्दु में नादैक्य इत्यादि तीनों दुगुने हैं।

सुभगोदयः—यहाँ परस्परैक्य दो नहीं एक ही है। किन्तु नाद में काला बिन्दु उभयैक्य, बिन्दु में नाद कला उभयैक्य, कला में नाद बिन्दु उभयैक्य ऐसे तीन जोड़कर षोढैक्य है।

लक्ष्मीधरी—(सौ. श्लो. १४) आज्ञाचक्र में चन्द्रकला ही रहती है चन्द्र नहीं [आज्ञाचक्रोपरि स्थितश्चन्द्र इति यदुक्तं तत्तु चन्द्रकलावस्थानमात्रं न तु चन्द्रस्य स्थानम्]

सुभगोदय—आज्ञा में और सहस्रार में अलग-अलग चन्द्र बिम्ब है।

"तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं रविनिभं।
सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरम्।"

लक्ष्मीधरी—पूरे कृष्णपक्ष तिथियों को अमावस्या संज्ञा वाली मानते हैं। और पूरे शुक्लपक्ष को पूर्णिमातिथियुक्त। जब कुण्डलिनी प्रबोध होता है (सौ. श्लो. ३२)

सुभगोदयः—एक ही तिथि अमावास्या है। शेष सबमें कुण्डलिनी प्रबोध होता है—

इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ
तमस्याधारे तौ यदि तु मिलितौ सा तिथिरमा।

लक्ष्मीधरी—मूलाधार अन्धतामिस्र है। स्वाधिष्ठानादि मिश्रलोक है [आधारमन्धतामिस्रं स्वाधिष्ठानं सूर्यकिरणसंपर्कान्मिश्रोलोक···· एवमनाहतचक्रपर्यन्तं ज्योतिस्तमोमिश्रलोकः]

सुभगोदय—मूलाधार और स्वाधिष्ठान दोनों तामिस्रलोक हैं—

भवेन्मूलाधारं तदुपरितनं चक्रमपि तद्
द्वयं तामिस्राख्यं·········

लक्ष्मीधरीय व्याख्या एवं सुभगोदय में अन्य भी अनेक भेद सूक्ष्म-निरीक्षण करने से अवगत होंगे। इन असमानताओं का मतलब यह नहीं है कि अन्यतर अप्रमाण है। स्वसंप्रदायानुसार उपासना करने से ये सभी सिद्धिप्रद हैं। उपासकों को नानाविध अनुभव तो होते ही हैं।

समयिमत समीक्षा

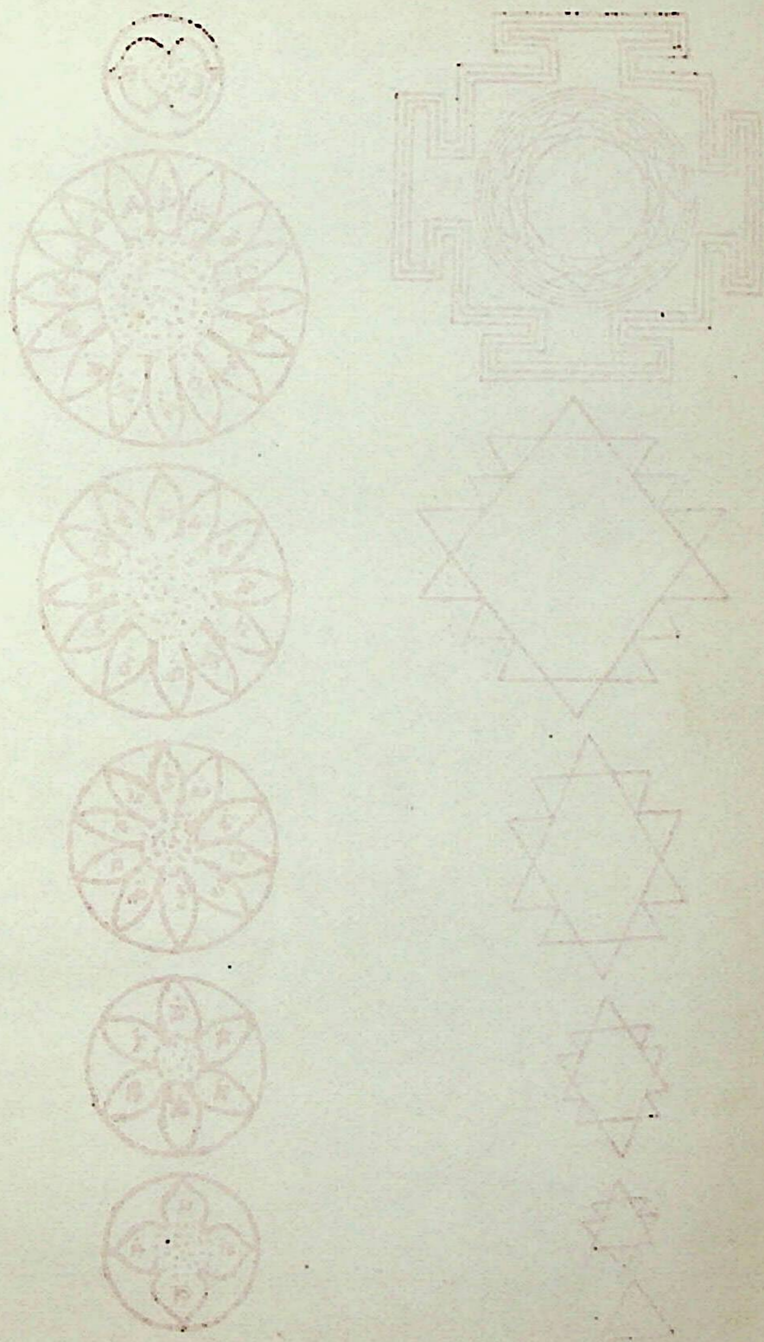
स्मरं योनिं लक्ष्मीं (सौ. श्लो. ३३) इस सौन्दर्यलहरी के श्लोक की व्याख्या में लक्ष्मीधरजी का कहना है—"समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृदयकमले एव सर्वं यावदनुष्ठेयम्।"—समयमत में मन्त्र का पुनश्चरण नहीं है, जप नहीं है, बाह्य होम नहीं है, पूजाविधियाँ भी नहीं हैं। हृदयकमल में ही सब कुछ करना है। उनका कहना है—"बाह्य-पूजा न कर्त्तव्या" यह सतत्कुमार संहितावचन वस्तुतः बाह्यपूजा निषेध-परक है। सूभगोदय में इतना स्पष्ट निषेध देखने में नहीं आता। "निषिद्धाचरोऽयं" यह केवल वाममार्ग के लिये ही आया है। चतुःषष्टि-तन्त्र श्लोक में कौलमत तथा मिश्रमत को निन्दित एवं परित्याज्य बताया "विदेहो नैऋत्या" इस श्लोक में "ऋषिं हित्वा" (ऋषि को छोड़कर पूजादि करो) जो बताया उससे केवल अंदाजा किया जाता है कि पुर-श्चरणादि नहीं है। क्योंकि बाह्य पुरश्चरण जपादि के लिये ऋषिस्मरण परमावश्यक है। "नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्" यह इसके लिये मूल श्रुतिवचन है। किंतु इतना अर्थ वहाँ प्रतीत नहीं होता। मन्त्र का ऋषि कामदेव है। कामदेव को छोड़कर जपादि करो इतना ही वहाँ अर्थ है। अर्थात् कामदेव भले मन्त्र का ऋषि हो, फिर भी कामभोग किये बिना ही जपादि करो। बल्कि काम का स्मरण भी न करो। पूर्ण ब्रह्म-चारी होकर पूजाजपादि करो। यह पंचमकारोपभोग करने वाले कौलों

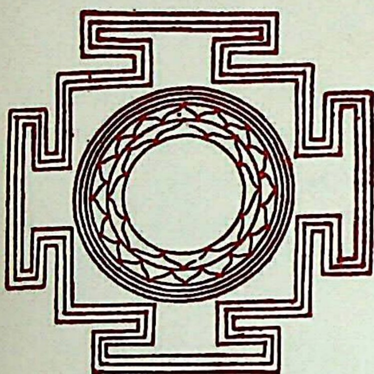
का ही मतनिरास है। शिष्टाचार से सात्त्विक पूजन जपादि बाह्य आन्तर दोनों कर्त्तव्य है। साधक जब निर्मल हो जाता है, समर्थ हो जाता है तो उसके लिये फिर बाह्य पूजा की आवश्यकता नहीं रहती। वह फिर केवल हृदय में ही आन्तर पूजन अन्तर्याग करें इतना ही आचार्य का तात्पर्य है यही गुरुपरम्परया हमें ज्ञात है। हमने व्याख्या भी तदनुरूप ही लिखी है।

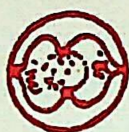
आज से सात-आठ वर्ष पहले ही इसे मुद्रित करने का विचार चलता रहा। अभी तक इस ग्रन्थ की विशद व्याख्या कहीं देखने में नहीं आयी। भगवत्पाद शंकराचार्य विरचित व्याख्या की बात तो केवल लक्ष्मीधरीय व्याख्या में उल्लेख होने से अवगत होती है। यह तन्त्रमतानुसार कुण्डलिनी जागरण का प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ है। प्रथम मैंने एक छोटी व्याख्या लिखी। उसके बाद यह विस्तृत व्याख्या लिखी। किन्तु मैंने देखा—विस्तृत व्याख्या में श्लोकार्थ प्रथम हृदयंगम नहीं होता। सौन्दर्य लहरी में लक्ष्मीधर जी को भी कहीं-कहीं अन्वयार्थ पृथक् लिखना पड़ा। मैंने सोचा अपनी ही प्रथम व्याख्या को प्रथम स्थान दिया जाय तो श्लोकार्थ शीघ्र हृदयंगम हो जायेगा। परिश्रम भी सार्थक होगा। अतः अन्वयार्थबोधिनी नाम देकर उसे प्रथम दे दिया। उससे भी अधिक सरलता लाने के लिये श्लोकों का भाषानुवाद भी दे दिया।

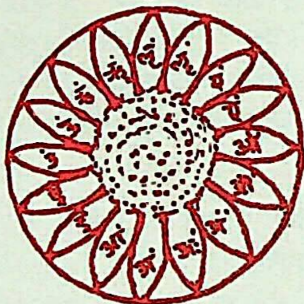
इस व्याख्या की रचना में अनेक तन्त्रों से समुचित उद्धरण लिया गया है। कहीं-कहीं साक्षात् तन्त्रवचन उपलब्ध नहीं हुआ, वहाँ अन्य तन्त्रग्रन्थों के व्याख्याताओं के उद्धृत वचन का ही उद्धरण दिया गया है। यह पद्धति तो व्याख्याताओं में प्रचलित है। यद्यपि दो-तीन साल पहले कुछ भाषानुवाद व्याख्या आदि कहीं से प्रकाशित हुआ है। उन्हें देखने का प्रयास मैंने इसलिये नहीं किया कि इनको देखने के बाद कुछ खण्डन-मण्डन या घटाने-बढ़ाने की इच्छा हो सकती है। पर अब "आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्ते" यही उचित समझ कर उन्हें देखने या आवापोद्वाप करने का प्रयत्न नहीं किया। अपनी गुरुपरम्परा से जितना ज्ञात हुआ और देवी प्रसाद से जितना स्फुरण हुआ उसी को पर्याप्त समझ लिया। अन्त में प्राथमिक ग्रन्थप्रदाता से लेकर जितने भी सन्त सद्गुरुओं से हम उपकृत हुए सबके प्रति नम्र कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

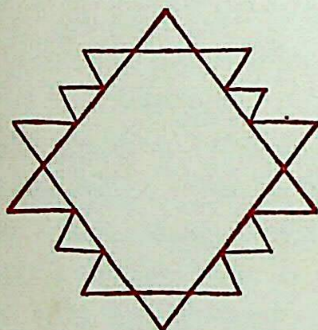
—लेखक

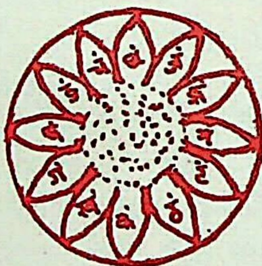


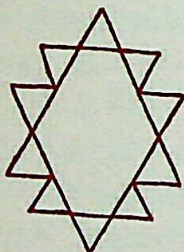


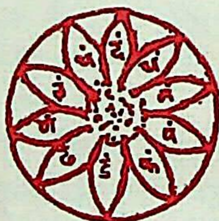


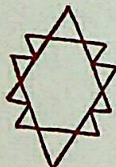


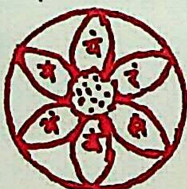








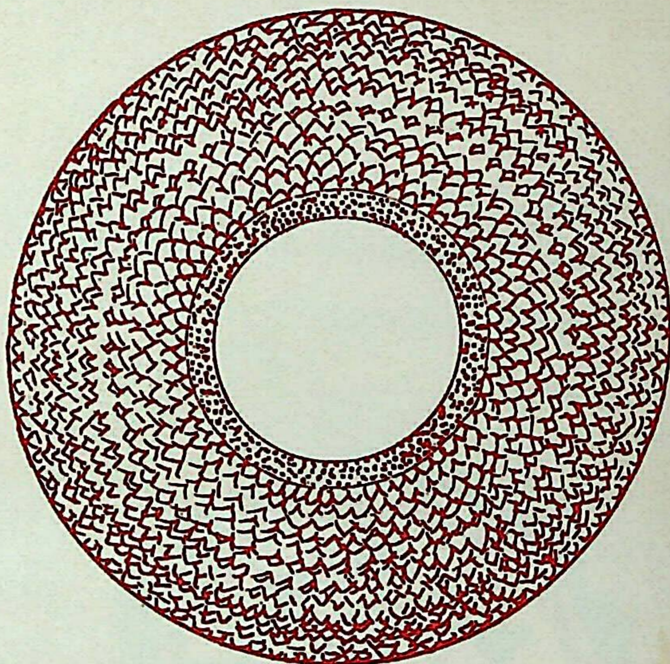


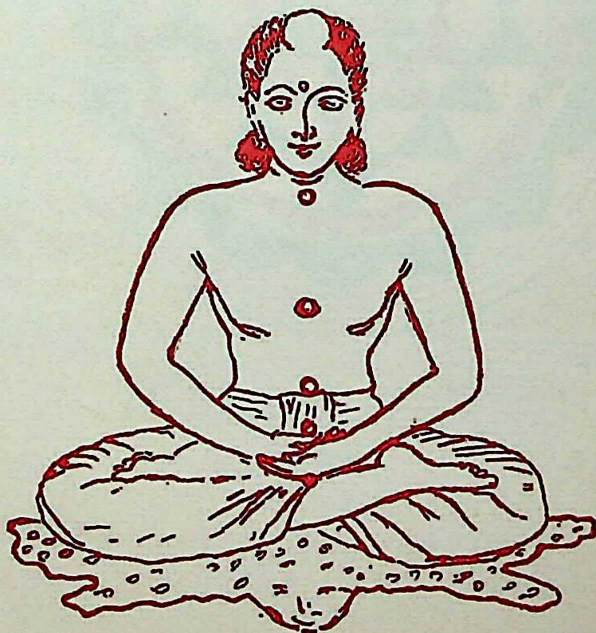


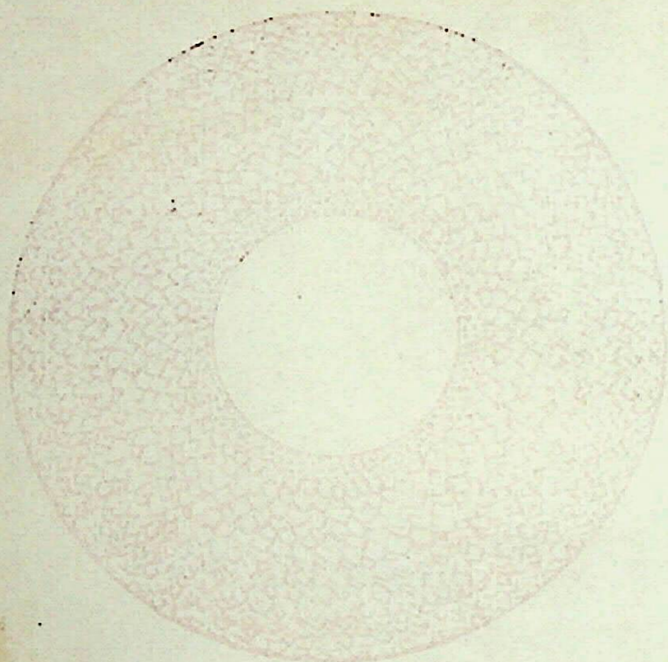


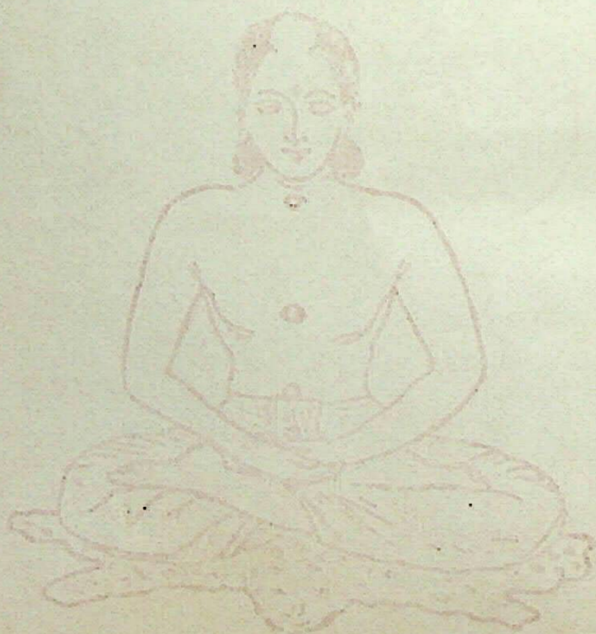




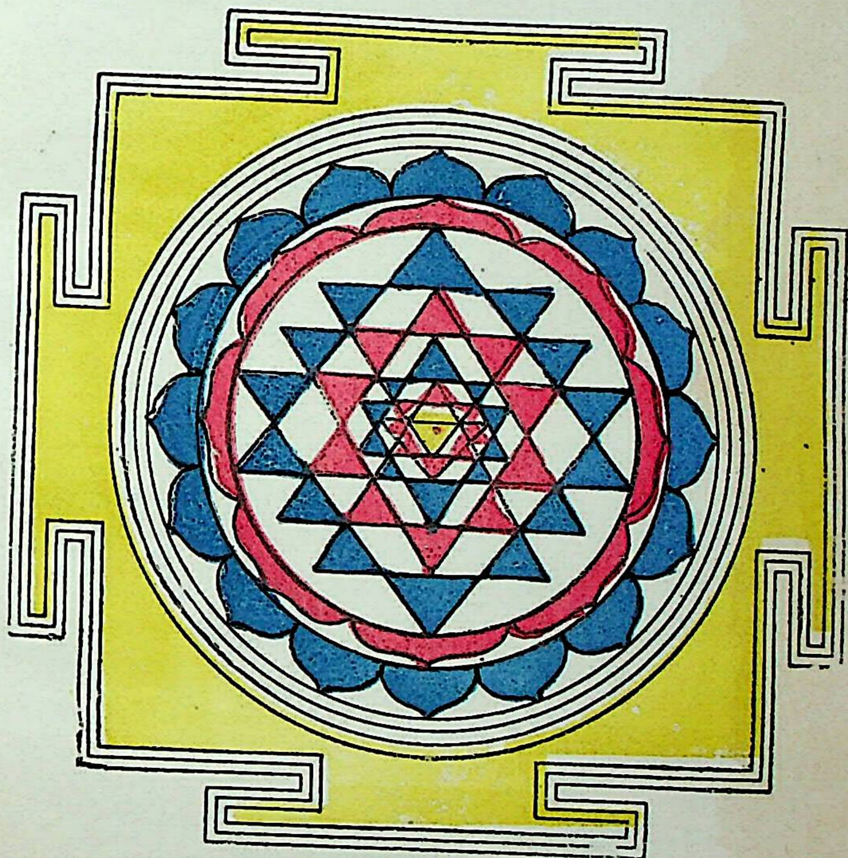








बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।
वृत्तत्रयं चधरणीसदनत्रयं च श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ॥



श्रीचक्रम्

ॐ

भगवद्गौडपादाचार्यविरचितं

सुभगोदयस्तोत्रम्

❁

श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यविरचितयाऽमृतझारिकाव्याख्यया
अन्वयार्थबोधिन्या भाषानुवादेन च संयुतम्

❁

भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुखवपुः
पराकारां देवीममृतलहरीं बैन्दवकलाम् ।
महाकालातीतां कलितसरणीकल्पिततनुं
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम् ॥ १ ॥

हे सच्चिदानन्दमयी भवपत्नी भवानीमाता ! आपको मैं नित्य वन्दना करता हूँ । आप पराशक्तिरूपा देवी हैं । सहस्रारस्थ नित्यचन्द्रकला हैं । आप महान् काल को पार किये हुए हैं । कौल, मिश्र एवं समय मार्ग से आप की पूजा होती है और आप भक्तानुग्रहार्थ नाना शरीर धारण किया करती हैं । सुधासिन्धु के मध्य में आप निवास करती हैं और स्वयं कालमयी हैं । (अत एव सकलाभोष्टवर्षिणी नित्य वन्दनीया हैं) ॥ १ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

वन्दे सकलकल्याणकलनैकपरां पराम् ।
पश्यन्तीमध्यमाख्यानां शिवैकरसिकां शिवाम् ॥ १ ॥

हे भवानि ! हे भवमहिषि ! हे सच्चित्सुखवपुः ! त्वामनिशं वन्दे । कीदृशीं त्वां ? पराकारां=पराशक्तिस्वरूपिणीम् । किं च—अमृतलहरीम्=अमृतमयीम्, अमृतसागरस्वरूपेव साकारभावमिवापद्यमाना लहरीवत् प्रकटीभवतीति तथाभूतामिति वा । किं च—महाकालातीतां=महा-

कालातिगामिनीं-कालापरिच्छिन्नाम् । अथ च वासरमयीं=वासरात्मक-किरणमयीं-कालमयीम् । किं च कलितसरणिं=कौलमिश्रसमयसरणि-गन्तव्याम्, अत एव कल्पिततनुं=भक्तानुग्रहार्थंगृहीतविग्रहाम् । किं च सुधासिन्धोरन्तर्वसतिं=सुधासिन्धुमध्यवास्तव्याम् । एवंभूतां वैन्दवकलां=षोडशीं नित्यां त्वां देवीमनिशं वन्दे ॥ १ ॥

अमृतझरिका

नमामि जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीम् ।
सच्चित्सुखात्मिकां देवीं नित्यचन्द्रकलां शिवाम् ॥ १ ॥
नमो गुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो नमः परेभ्यः परपादुकाभ्यः ।
परात्परेभ्योऽपरपादुकाभ्यो नमोऽस्तु लक्ष्मीधवपादुकाभ्यः ॥ २ ॥
व्याख्यास्ये गौडपादीयं सुभगं सुभगोदयम् ।
यत्सतत्त्वावबोधेन नरः सायुज्यमाप्नुयात् ॥ ३ ॥
सुभगोदयस्तुतेश्चेत् परमं भावं बुभुत्सवः सन्तः ।
जयमङ्गलयतिकलितां प्रथमां व्याख्यामिमां प्रपश्यन्तु ॥ ४ ॥

कौलादीनां वामाचारादवैदिकाद् विनिवर्त्य मुमुक्षून् परमक्षेमसाधने समयिमार्गे योजयितुं परमकरुणावारिधिर्भगवान् गौडपादाचार्यः स्तुतिरूपं सुभगापरपर्यायपराशक्तेः कुण्डलिनीरूपाया उद्गमरूपोदयेन या शिव-शक्तिसामरस्यलक्षणा सायुज्यशब्दिता परमसिद्धिस्तत्प्रयोजकतयाऽन्वर्थकं सुभगोदयाख्यं तन्त्रं प्रोवाच । तस्यायमादिमः श्लोकः—भवानि त्वामिति । हे भवानि ! हे भवमहिषि ! हे सच्चित्सुखवपुः ! इति सम्बोधनत्रयम् । त्वामनिशं वन्दे इत्यन्वयः ।

यद्यपि भवानीति भवमहिषीति च समानार्थकम् । तथापि प्रकृति-प्रत्ययार्थाननुसन्धानकालेऽपि भवानीपदेन भगवत्या उपस्थितेर्न पौन-रुक्त्यम् । भगवतीत्व-भवपत्नीत्वाभ्यामुभयोर्भेदेनोपस्थितेः । प्रकृति-प्रत्ययार्थोपस्थितिकालेऽपि रूढिबलाच्छिवशक्तिसामरस्येनैव भवानीपदार्थो-पस्थितिर्भवति । तथा चाहुः—

"सदाशिवेन संपृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती ॥" इति ।

सदाशिवेन संपृक्तेति प्रकृतिप्रत्ययविभागलभ्यार्थः । सर्वतत्त्वातिगेति रूढिलभ्यार्थः । सर्वतत्त्वातिगा च शिवशक्तिसामरस्यमेव । एवमपि भगवतीत्वेन तन्निर्देश इत्युत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । एतत्स्वरूपं च वर्णितं श्रीस्वच्छन्दे:—

नात्र कालः कलाभावो नैकता न च देवता।
सुनिर्वाणं परं तत्त्वं रुद्रवक्त्रं तदुच्यते॥
शिवशक्तिरितिख्यातं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
पश्यातीतं वरारोहे वाङ्मनोऽतीतमद्भुतम्॥
अनिष्कलं च सकलं नीरूपं निर्विकल्पकम्।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम्॥ इति।

पश्यातीतमित्यस्य स्थाने तत्त्वातीतमिति क्वचित्पाठः।

शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः।

इति वचनाच्च नेदं सामरस्यं द्वितत्त्वात्मकमिति मन्तव्यम्।

ननु किमिदं शिवशक्तिसामरस्यं ? यन्नाम शिवशक्तितत्त्वद्वयाद् द्वित्वावच्छिन्नात् पृथगुच्यत इति चेद् ? अत्र केचिदाचार्याः। शिवशक्त्योः संयोग एव तत्सामरस्यम्। न च संयोगस्य गुणात्मकस्य जडत्वात्तत्त्वद्वयाश्रितत्वाच्च कथं परमस्वरूपत्वमिति वाच्यम्। अस्य संयोगस्य वाचामगोचरविलक्षणस्वरूपत्वादिति वदन्ति।

वस्तुतस्तु शिवः शक्तिरिति विभक्तावस्था। निर्विभागचितिश्च शिवशक्तिसामरस्यम्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन् महसि ध्रुवम्। इति।

परस्मिन् निर्विभागे महसि अनयोः शिवशक्त्योः सामरस्यम्। विभागराहित्येन परममहोरूपेणावस्थानमेव सामरस्यमिति फलितार्थः। केचित्तु—

स्त्रीपुंयोगे तु यत्सौख्यं सामरस्यं प्रकीर्तितम्।

इति क्वाचित्कवचनमुदाहृत्य शिवशक्त्योस्तादृशं सौख्यमेव तत्सामरस्यमित्याहुः। तन्न। निदर्शनमात्रत्वात्। स्त्रीपुंसयोरेकसौख्यविरहात्। उभयोः सौख्यस्य भिन्नत्वात्। न च सामरस्यमित्यत्र समरसस्य भाव इति विग्रहे समपदं तुल्यार्थकम्, भवति हि स्त्रीपुंसयोः सौख्यस्य समानत्वमिति वाच्यम्। शिवशक्तिसामरस्यमित्येकरसार्थकत्वात्। सामानाधिकरण्यमित्यादौ समानपदस्येवात्र समपदस्याप्येकत्वार्थकत्वात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धान्तभङ्गापत्तेः। निदर्शनं तु कथंचिदानन्दातिरेककल्पनार्थम्। "तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमि"त्येवं श्रुतावपि तथा निदर्शनदर्शनात्। यच्च कुलकुण्डलिन्युद्गमनमुक्त्वा—

सांगत्यं तु तयोः कृत्वा सामरस्यं विभाव्य च ।
तदुद्भूतरसेनैव तर्पयेत् देहदेवताम् ॥

इति प्रत्यावर्तिष्यमाणकुण्डलिन्याः शिवेन सामरस्यमुक्तं तदपि नानित्यसौख्यप्रतिपादकम् । किं तु किंचित्कालीनावरणापसरणप्रयुक्ताद्वैतानन्दविभावनमेव । यथादर्शितस्वच्छन्दवचनोपपत्तेरित्यलं विस्तरेण ।

'भवमहिषि' इति सम्बोधनेन शिवशक्त्योः प्रकाशविमर्शरूपेण पृथक् स्थितिरूपाऽवस्था निगद्यते । सा चावस्था विद्यासदाशिवौ मायामहेश्वरौ पार्वतीपरमेश्वरावित्येवंप्रकारा सर्वापि गृह्यत इति कुतः पौनरुक्त्यशङ्कापि ।

शक्तिर्मायात्मिका जडा तुच्छा चेति मतं व्यावर्तयितुं तृतीयसंबोधनं सच्चित्सुखवपुरिति । सच्च चिच्च सुखं च वपुः स्वरूपं यस्याः सा सच्चित्सुखवपुः । उक्तं च भागवते—

सच्चिदानन्दरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि ॥ इति ।

षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥ इति चान्यत्र ।

एतेन स्तुतापि सा जडत्वात् कथं फलदायिनीति पूर्वपक्षस्याप्यनवसर एव । अपि चात्र सच्चित्सुखलक्षणः शिवः । "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतेः ।

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः ।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥

इति प्रयोगसारवचनाच्च । सच्चित्सुखरूपः शिवो वपुर्यस्याः सा इति विग्रहः । अपि च सच्चित्सुखस्य शिवस्य वपुः शरीरस्वरूपेति षष्ठीतत्पुरुषोऽपि । तथा चोक्तं सौन्दर्यलहर्याम्—

शरीरं त्वं शम्भोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं
तवात्मानं मन्ये भगवति नवात्मानमनघम् ।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपरयोः ॥ इति ।

तवात्मानं तव देहमिति तत्र टीका । तथा हि "त्वमर्कस्त्वं सोम" इत्यादि वचनादष्टमूर्तित्वप्रसिद्धेश्च विश्वमिदं शिवस्य शरीरम् । विश्वं चेदं भगवतीस्वरूपमेव । तथा चोक्तं चतुश्शत्याम्—

कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।
यस्यां परिणतायां तु न किंचिदवशिष्यते ॥ इति ।

तथा च देवीशरीरकत्वं शिवस्य सिद्धम् । एवं शक्तिः किल शिवे वर्तते । शिवस्य शक्त्याश्रयत्वात् । तथा च शक्तेः शरीरं शिव इति । एवं चात्र सम्बोधनत्रये प्रथमेनाऽविभागावस्थितसमरसाकारवर्णनम् । द्वितीयेन प्रकाशविमर्शरूपेण विभक्तावस्थावर्णनम् । तृतीयेन स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चसृष्टिकालीनस्वरूपवर्णनमिति द्रष्टव्यम् ।

पराकारामिति । त्वां वन्द इत्युक्तम्, कीदृशीं त्वामित्यत्र विशेषणानि–पराकारामित्यादीनि । परः परमोत्कृष्ट आकारो तस्याः सा पराकारा । परायाः परदेवताया आकारो यस्याः सेति वा । तां पराकाराम् । पराकारत्वमुक्तं भैरवयामले—

बैन्दवे जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी ।
सदाशिवेन संपृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी ॥
ज्योतीरूपा पराकारा । इत्यादिना ।

एतेन भवानीति सम्बोधनविवक्षितार्थं एव स्पष्टीकृत इति द्रष्टव्यम् ।

ननु परामित्येव वक्तव्यम् । मूलाधारे परारूपेण तस्याः स्थितेरिति चेन्न । सैव पराशक्तिरुद्गता पश्यन्तीमध्यमादिभावं प्राप्य सहस्रारं प्राप्नुवती पुनः पराभावमेवापद्यत इति कुण्डलिन्युदयसमनन्तरस्वरूपप्रतिपादनाय पराकारामित्युक्तेः । अथवा यैव शिवशक्तिसामरस्यरूपेण पूर्वमवस्थिता भवानी पुनः भवमहिषी प्रकाशविमर्शरूपेण स्थिता सा सृष्ट्यारम्भे पराकारा कुण्डलिनीरूपा जाता तामेव देवीं कृतोपास्तेः पुनः शिवशक्तिसंयोगेन सहस्रारे बैन्दवकलाममृतलहरीमिति योजना । एषैव पराशक्तिः सुभगा पश्यन्तीभावपूर्वं परावाग्रूपेण स्थिता । तथा च मन्त्रवर्णः—"सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्" इति । सुभगा कुण्डलिनीरूपा । सरस्वती परावाक् नोस्माकं मयः सुखं करत् कुर्यादित्यर्थः । लेटि करदिति । भग ऐश्वर्यादौ वक्ष्यते । शोभनो भगो यस्याः सा । यद्वा भगस्थानं गुदादूर्ध्वं ध्वजादध इति वक्ष्यामः । शोभिनो भगो यदीयवासस्थानमिति । तच्च व्यक्तीभविष्यति ।

देवीमित्यादिना भवमहिषीति सम्बोधनार्थः स्फुटीकृतः । दिवु क्रिडादौ । ततो निष्पन्नो देवीशब्दः । लीलयैव सकलजगत्सृष्टिस्थितिसंहारकारिणी देवी । तदुक्तं ललितोपाख्याने—

"हृदयस्थापि लोकानामदृश्या मोहनात्मिका ।
नामरूपविभागं च या करोति स्वलीलया ॥ इति ।
"तस्यैवैषा परा देवी स्वभावामर्शनोत्सुका ।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न वाधिकम् ॥"

इति याजुषश्रुतेश्च । भवत्यस्माज्जगदिति भवः । तस्य महिषी जगदङ्कुरप्रयोजकबीजभूमिरिति व्याख्यायामेतदर्थलाभात् ।

अमृतलहरीमिति । अमृतसागरलहरीभूतामित्यर्थः । शिवशक्तिसामरस्यमेवामृतसागरः । तत्र संभूत एकस्तरङ्गः शिवोऽपरा च लहरी शक्तिरिति । यथा च भित्त्यादौ रागसामान्येऽपि गजवृषभादिभिन्नाकारा घनाघनत्वादेः । तदुक्तं महार्थमञ्जर्याम्—

आलक्ख विसेसम्मिअ गअबुसहाणं दुवेण पडिभासम् ।
एक्कस्सि चिअ अत्थे सिवसत्तिविहाअकप्पणं कुणिमो ॥

संस्कृतं—आलेख्यविशेष इव गजवृषभयोर्द्वयोः प्रतिभासम् ।
एकस्मिन्नेवार्थे शिवशक्तिविभागकल्पनां कुर्मः ॥ इति ।

तथा च लीलयैव देवी लहरीवत्साकारभावं प्रतिपद्यत इति भावः । अमृतलहरीममृतैकरसामिति वा । अत एव च—

वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्

इत्येवममृतरूपेणैव कलां वर्णयामास भवभूतिः ।

बैन्दवकलामिति । "सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्बैन्दवमिति" इत्याचार्यैः स्वयमेव निरूपयिष्यते । बैन्दवस्य सहस्रारकमलगतचन्द्रबिम्बस्य श्रीचक्रात्मकस्य या कला षोडशी चिद्रूपा तामित्यर्थः । श्रीविद्याया नामान्तरं चन्द्रकलाविद्येति । अत एव सा पञ्चदशतिथिरूपा भवति । तासां च कलानां वृद्धिक्षयौ भवतः । षोडशी तु कला नित्या बैन्दवगता ।

दर्शान्ताः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥

इति वचनात् । अधिकमग्रे स्पष्टीभविष्यति । ऐन्दवकलामिति पाठेऽप्ययमेवार्थः ।

महाकालातीतामिति । महांश्चासौ कालश्चेति महाकालोऽनाद्यनन्तस्तमतीत्य वर्तमानामित्यर्थः । कारणस्य कार्यातीतत्वनियमात् कालस्यापि

कार्यत्वात्तत्कारणीभूतशक्तेस्तदतीतत्वात् । शक्तेरेव कालोऽप्युत्पद्यते तत्रैव लीयते च । तदुक्तं केशवाचार्येण—

विश्वं भूतेन्द्रियान्तःकरणमयमिनेन्द्वग्निरूपं समस्तं
वर्णात्मैतत्प्रधाने कलनयनमये बीजरूपे क्रमेण ।
नीत्वा तां पुंसि बिन्द्वात्मनि तमपि स्वात्मन्यथो कालतत्त्वे
तं वै शक्तौ चिदात्मन्यति नयतु च तां केवले धाम्नि शान्ते ॥ इति ।

केवले धाम्नि शान्ते शिवशक्तिसामरस्यलक्षणे बैन्दवकलायामित्यर्थः । अत्र नयनं कार्यस्य कारणे विलयनचिन्तनात्मकं द्रष्टव्यम् । देवीचरणोद्भूतषष्ट्युत्तरत्रिशतकिरणजन्यत्वं च हायनात्मनः कालस्य "शतं चाष्टौ वह्नेरि"त्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे प्रदर्शयिष्यामः ।

किंच—कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः ।
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा ॥

इति महानिर्वाणतन्त्रवचनान्महाकालकारणत्वं तदतीतत्वं च सिद्धम् ।

कलितसरणीकल्पिततनुमिति अत्र सरणीपदं तत्तत्सरणीस्थपुरुषपरम् । सरणीभिः कल्पिता विविधास्तनवः कलिता उपात्ता यया सा तथा ताम् । एतदुक्तं भवतिः—भक्ताः कौलमिश्रसमयिप्रभृतिसरण्यनुगामिनो यथाप्रतिपादितं भगवतीरूपं कल्पयित्वा हृदि ध्यायन्ति । तदीयकल्पनानुरूपं निजरूपमहैतुकदयासिन्धुर्भगवती कलयति दर्शयति च भक्तानिति । तच्च रूपं चतुर्भुजदशभुजादिलक्षणं तत्तदायुधादियुक्तं तत्प्राकट्यादिकं चाग्रे प्रतिपादयिष्यते । क्वचित्तु कलितसरणिं कल्पिततनुमिति व्यस्तपाठः । कलिता उपासककलिताः सरणयो यस्यास्ताम् । सरणय उक्ताः । तत्र वसिष्ठसनकादिप्रदर्शितशुभागमपञ्चकोक्ता समयसरणिः सात्त्विकी । चन्द्रकलाविद्याष्टकं ज्योत्स्नावत्यादि मिश्रसरणिः राजसी । चतुःषष्टितन्त्राणि कौलसरणिस्तामसी । ताश्च चतुःषष्टिस्तन्त्राणीति श्लोके निरूपयिष्यन्ते । एताः सरणीः कलयन्तीमित्यर्थः । अत एव कल्पिततनुं तत्तत्सरण्यनुरूपा स्वीया नानाविधास्तनूः कल्पयन्तीं प्रकटयन्तीमित्यर्थः । व्यस्तपदद्वयमते च—

सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रज्योतिषः संनिधेस्तदा ।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम् ॥

इत्येवं प्रपञ्चसाराद्युक्तबिन्द्वादिलक्षणसाकारस्वरूपाणि सर्वाणि कल्पयन्तीमित्यर्थः स्यात् ।

सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमिति । सुधासिन्धोरमृतसागरस्यान्तर्मध्ये वसतिर्वासो यस्याः सा तथा ताम् । अलुक्समासः । सुधासिन्धोरित्यस्यासमासत्वेऽपि सापेक्षत्वेन गमकत्वादन्तर्वसतिमितिसमासोपपत्तिरपि शक्योपपादा । वसतिशब्दो वासे निकेतने च

वसतिस्तु स्त्रियां वासे यामिन्यां च निकेतने

इति मेदिनी । व्याख्याभेदेनार्थद्वयमिहोपपन्नम् । तत्र

सृष्टिचक्रं सुधासिन्धुः सौभाग्यं सुरवाटिका ।
दशारयुगलं रत्नद्वीपं नीपवनं तथा ॥
चिन्तामणिगृहं रम्यमष्टारं परमेश्वरि ।
त्रिकोणं मञ्चरूपं तु बिन्दुचक्रं सदाशिवः ॥

इति वचनाश्रयणेऽष्टदलादिचतुष्टयरूपं सृष्टिचक्रमेव सुधासिन्धुः । तत्र चतुर्दशाररूपायां सुरवाटिकायां बहिर्दशाररत्नद्वीपेऽन्तर्दशारात्मकं नीपवनम् । चिन्तामणिगृहमष्टारमेवान्तर्वसतिशब्दवाच्यम् । तस्यां वसतौ वासाच्चान्तर्वसतित्वं ज्ञेयम् । भैरवयामले तु —

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम् ॥
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे ॥
अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः ।
भूतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ॥
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ।

इत्याद्युक्तम् । बिन्दुरेव स्थानमित्येके । बिन्दोः स्थानमित्यपरे । तत्र बिन्द्वधिकरणचक्रमर्थः । तच्च त्रिकोणमिति केचित् । चतुष्कोणमित्यन्ये । यच्चात्र वक्तव्यं तत्सर्वं "त्रिकोणं ते कौला" इति "त्रिकोणं चाधारमि"ति च श्लोकव्याख्यानावसरे विशदीकरिष्यामः । अत्र च ध्यानजपाद्युपयोगितया "त्वां वन्द" इत्येतदनुरोधेन किंचिदुक्तम् । तथा हि सदाशिववचनम्—

सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम् ।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ॥
पाशाङ्कुशवरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम् ।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम् ॥
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयञ्जपमारभेत् ।

ध्यानमाचरेदिति पाठान्तरम् । तथा च जपध्यानादेरङ्गं सुधासिन्ध्वादिचिन्तनमिति लभ्यते ।

वासरमयीमिति । आज्ञाचक्रोपरिस्थचन्द्रबिम्बस्य पञ्चदशकलास्ताश्चोत्पत्तिक्षयशालिन्यः, षोडशी तु बैन्दवकला सहस्रारगता नित्या, सैव भगवतीत्युक्तं प्राक् । तथापि पञ्चदशकलाभ्यां व्यावृत्तत्वान्नित्यत्वेऽपि परमाणुवत्परिच्छिन्नत्वं स्यादेवेत्याशङ्कायामिदं विशेषणं वासरमयीमिति । आज्ञोपरिस्थचन्द्रबिम्बं स्वीयपञ्चदशकलाव्याप्तं भगवत्या रूपमेव । न केवलं तावदेव । किं नाम । अग्निमण्डलसूर्यमण्डले अपि स्वाधिष्ठानानाहतयोरुपरिगते तद्रूपे । एतत् पिण्डाण्डे । ब्रह्माण्डेऽपि अग्निसूर्यसोममण्डलानि भगवतीरूपाणि । अग्निषोमात्मकं च विश्वमिति विश्वस्वरूपिणी भगवतीति कुतः परिच्छिन्नत्वम् । तथा च भैरवयामले देवीदेहसमुद्भवानन्तकिरणान् प्रतिपाद्य—

तेषामनन्तकोटीनां मयूखानां महेश्वरि ।
मध्ये षष्ट्युत्तरं तेऽमी त्रिशतं किरणाः शिवे ॥

ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते सोमसूर्यानलात्मना ।
दिवा सूर्यस्तथा रात्रौ सोमो वह्निश्च संध्ययोः ॥

प्रकाशयन्तः कालांस्ते तस्मात्कालात्मकास्त्रयः ।
षष्ट्युत्तरं च त्रिशतं दिनान्येव च हायनम् ॥

इत्येवं तदन्तर्गतषष्ट्युत्तरत्रिशतकिरणजनितास्तावत्संख्याका वासरास्तज्जन्यश्च हायनः प्रतिपादितः, तेषां सोमसूर्यानलात्मकत्वं च । रुद्रयामले च—

अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोममयं जगत् ।
अग्नावन्तर्गतो भानुरग्नीषोममयं स्मृतम् ॥

इत्येवं यथोक्तकिरणरूपाग्निषोमात्मकत्वं जगतो निरूपितम् । भानोरग्नावन्तर्भावेन जगतोऽग्नीषोमात्मकत्वं वेदोक्तमपि समर्थितम् । तथा च बृहज्जाबाला आमनन्ति—

'अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निरित्याचक्षते' । इति ।
'अत एव हविः सन्तमग्नीषोमात्मकं जगत्' । इति च ।

तथा च वासरात्मकाग्नीषोमस्वरूपजगन्मूलत्वाद्वासरमयीति हेतोर्न बैन्दवकलाया अल्पत्वपरिच्छिन्नत्वादिशङ्कावसरः । न च विकाराणां

वासराणां भगवतीमयत्वं युक्तं, न तु भगवत्या वासरमयीत्वमिति वाच्यम् । यतो नात्र विकारे मयट् । किन्तु प्राचुर्ये । तदप्युपासकदृष्ट्या । यथाऽऽकाशो धूलिमय इति । न ह्यपरिच्छिन्नायां बैन्दवकलायां परिच्छिन्नवासरप्राचुर्यं वस्तुगत्या संभवतीति द्रष्टव्यम् ।

षष्ट्युत्तरं च त्रिशतं दिनान्येव च हायनम् ।
हायनात्मा महादेवः प्रजापतिरिति श्रुतिः ॥

इति भैरवयामलवचनाद् दिवसगणरूपहायनात्मा महादेवस्तन्मयी महादेवनिरन्तरचिन्तनेन तन्मयत्वोपपत्तेरित्यपि व्याख्यान्तरं स्यात् ।

अत्र च भवानि सच्चित्सुखवपुः पराकारां बैन्दवकलां महाकालातीतामिति विशेषणपञ्चकमपरिच्छिन्नस्वरूपबोधकम् । भवमहिषि अमृतलहरीं कल्पिततनुम् अन्तर्वसतिं वासरमयीमिति च विशेषणपञ्चकं प्रायः परिच्छिन्नस्वरूपबोधकम् । इति परिच्छिन्नापरिच्छिन्नपञ्चकद्वयैक्यमपि निरूपितं भवति । देवीमित्येकादशं विशेषणमुभयसाधारणम् । अपि च भवानीति स्वरूपनिर्देशः । सच्चित्सुखवपुरिति तत्सायुज्यस्य पुरुषार्थत्वोक्तिः । पराकारामिति निरतिशयत्वम्, बैन्दवकलामिति परमाह्लादरूपत्वम्, महाकालातीतामिति नित्यत्वं च तत्रैव पुरुषार्थे द्योतितम् । अपरपञ्चके च भवमहिषीति स्वरूपनिर्देशः । अमृतलहरीमिति पुरुषार्थत्वोक्तिः कलितसरणीकल्पिततनुमिति उपास्यत्वकथनम् । सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमिति पुरुषार्थे परमत्वद्योतनम् । वासरमयीमिति कालभयराहित्यान्नित्यत्वप्रकाशनमिति । एवं परमपुरुषार्थत्वेनोपास्यतया सिद्धां भगवतीं त्वां सायुज्यप्राप्त्यर्थं वन्दे षोढैक्यतत्पूर्वकचतुर्धैक्यादिना समुपास इत्यर्थ इति ॥ १ ॥

मनस्तत्त्वं जित्वा नयनमथ नासाग्रघटितं
पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम् ।
तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्तर्भगवती
परानन्दकारा परशिवपरा काचिदपरा ॥ २ ॥

मन तत्त्व को जीत कर नासिका के अग्र भाग पर स्थिर की हुई चक्षु को भी जीतकर क्रमशः इन्द्रियों का प्रत्याहरण कर जब परा देवी का दर्शन करने का प्रयत्न किया जाता है तभी परमानन्दरूपिणी परम-शिवपरायणा वह अनिर्वचनीय परात्परा भगवती साधक के अन्दर और बाहर स्फुरित होती है (नासिकाग्र में स्थापित नयन को जीतकर फिर मनतत्त्व को भी जीतकर ऐसा आगे-पीछे अन्वय करने पर लोकप्रसिद्ध क्रम सिद्ध होता है) ॥ २ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

अथ शुचौ देश आसीनः समकायशिरोग्रीवो भूत्वा नयनं च नासाग्रघटितं कृत्वा पुनर्व्यावृत्ताक्षः = प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो मनस्तत्त्वं जित्वा = संयमनेन मनसो जयं संपाद्य स्वयमपि = स्वयमेव यदा परां पश्यति = दर्शनानुकूलव्यापारं षोढैक्यादिलक्षणं करोति। यद्वा—मनस्तत्त्वं जित्वेत्युक्तत्वाद् मनसा पश्यतीत्यर्थः। जितेन हि मनसा चिन्त्यमानस्य मानसं दर्शनं भवति। तदानीमेव, न तु कालान्तरप्रतीक्षा। झटित्येवेत्यर्थः। अस्य = साधकस्य काचिदपरा परशिवपरा परानन्दकारा भगवती बहिरन्तः = बाह्ये जगति मानसे च स्फुरति। मनोजयपूर्वक इन्द्रियजय इत्याशयेन वा—मनस्तत्त्वं जित्वाऽथ = पश्चात् नासाग्रघटितं नयनं जित्वा पुनःप्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो यदा परां मणिपूरे पश्यति तदानीमेव न तु ततः प्राक्, भगवती बहिरन्तः स्फुरतीति योजनान्तरं द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

अमृतझरिका

भवानि त्वां वन्द इति भवानीवन्दनमभिहितम्। तत् किमर्थमिति चिन्त्यते। विदेहमुक्तिर्हि परमपुरुषार्थः। 'न स पुनरावर्तत' इत्यादि-श्रुतेः। सा च जीवन्मुक्तिं विना न संभवति। 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इति

श्रुतेः। विमुक्तः जीवन्मुक्तः विमुच्यते विदेहमुक्तिं लभत इति तदर्थात्। 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ती'त्यादिश्रुत्यन्तराच्च। जीवन्मुक्तिश्च जीवत एव बहिरन्तरानन्दरसस्फुरणम्। सा कथं सिध्यतीति चेद्, भवानीवन्दनादेव। तदिदमभिहितं सौन्दर्यलहर्याम्—

चिरं जीवन्नेष क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्। इति।

परानन्दोऽपरिच्छिन्नानन्दः। स च बहिरन्तःस्फुरणवानानन्द एव। जीवतस्तदानन्दरसानुभूतिरेव जीवन्मुक्तिस्तां त्वद्भजनवान् भवानीभजनवान् लभत इति इदर्थः। एतदेव भवानि त्वां वन्द इत्युक्तभवानीवन्दनस्य प्रयोजनम्। तदेतत् फलं स्फोरयन्नेव तादृशीं जीवन्मुक्तिं भवानीवन्दनवान् येन क्रमेण लभते तं प्रदर्शयति—मनस्तत्त्वमिति। मनस्तत्त्वस्य षष्ठत्वात्तज्जयकथनेन ततः पूर्वेषां पञ्चानां पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशतत्त्वानां जयोऽर्थाद् गम्यो भवति। तथा च सौन्दर्यलहर्यां

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि जित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥ इति।

अत्र यद्यपि क्वचित् सकलमपि भित्त्वेति पाठस्तथापि चक्रभेदनप्रसिद्धावपि तत्त्वभेदनं न प्रसिद्धमिति प्रसिद्धस्तत्त्वजय एवात्रोक्त इति जित्वेति पाठ एव समीचीनतरो भाति। तत्त्वजयश्च तत्तच्चक्रभेदनानन्तरमित्यन्यत्। एतच्च भगवत्युपासनालक्षणप्रागुक्तवन्दनेनैव संभवतीति प्रष्टव्यम्। अथ मनस्तत्त्वजयानन्तरं नासाग्रघटितं नयनं जित्वा। नासाग्रघटितमिति भूतार्थक्तप्रत्ययान्तेन सिद्धवन्निर्देशान्नासाग्रनयनघटनं मनस्तत्त्वजयात्प्रागेवोपासकस्यापेक्षितमिति सूच्यते। तथा चोक्तं—

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्। इति।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ इति च।

एवं विधस्यापि नयनस्य जयो मनोजयप्रयुक्त एवेत्यानन्तर्यार्थकेनाथशब्देन सूच्यते। न चेन्द्रियजयोत्तरमेव मनोजय इति कथं मनोजयोत्तरं नयनजयो वर्ण्यत इति वाच्यम्। इन्द्रियजयस्य मनोजयाधीनत्वात्। "मनसा पश्यति मनसा शृणोति मनसा विजानाती'त्यादिश्रुतेः। वेदान्ते-

ष्वपि 'शान्तो दान्त' इत्युक्तत्वान्मनोजयात्मकशमानन्तर्यं दमस्येन्द्रियजयात्मकस्याध्यवसीयते। न चैवं सकलेन्द्रियजये वक्तव्ये किमिति नयनमात्रग्रहणं, न हि नयनपदं सकलेन्द्रियोपलक्षकमिति शक्यकथनं, नासाग्रघटितमित्यस्येन्द्रियान्तराननन्वितत्वादिति वाच्यम्। पुनर्व्यावृत्ताक्ष इति सकलेन्द्रियजयस्यापि वक्ष्यमाणत्वात्। न चैवं नयनस्य पृथक्कृत्यकथनमनुपयुक्तमिति वाच्यम्। स्वयमपि यदा पश्यति परामिति वक्ष्यमाणतया दर्शनप्रयोजकनयनस्य मुख्यत्वेन पृथगुपादानात्। न च मणिपूरादौ भगवतीदर्शनं न चाक्षुषं किन्त्वान्तरमेवेति पृथङ्नयनजयकथनानर्थक्यमेवेति वाच्यम्। 'चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार' इति भगवता पतञ्जलिनोक्तत्वान्नयनस्य चित्तकृतदर्शनानुकरणोपपत्तेः। विजितमना हि यदाऽन्तर्ध्यायति भागवतं स्वरूपं तदा निमीलितनयनोऽपि व्यावृत्तसकलाक्षोऽपि चान्तरेव चक्षुषा तदीयसुमधुररूपं पश्यन्निव तदीयनिनदं श्रोत्रेण शृण्वन्निव पादोदकं रसनयाऽस्वादयन्निव चरणादिचर्चितचन्दनादिसौगन्ध्यं घ्राणेन जिघ्रन्निव तच्चरणौ हस्ताभ्यां स्पृशन्निव भवति, स्वं तथाविधमनुभवति। सोऽयं चित्तस्वरूपानुकार इन्द्रियाणां प्रत्याहार इति निगद्यते। इह च यदा पश्यति परामित्येतदनुरोधेन चाक्षुषचित्तस्वरूपानुकारार्थं नयनजयस्य पृथक्कृत्य कथनमुपपद्यते। नयनजयश्च बाह्यविषयावलोकनकौतूहलराहित्यमेव।

पुनर्व्यावृत्ताक्ष इति। 'सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानमि'ति वचनात्तज्जयस्य मुख्यत्वात् सकलश्रमेण मनोजयपूर्वकं नयनजये सति पुनरवसरेण व्यावृत्तानि व्यावर्त्तितानि अक्षाणि शेषाणि सर्वाणीन्द्रियाणि स्वविषयाऽसंप्रयोगेण साधनेन येन स तथाविधः, प्रत्याहृतसर्वेन्द्रिय इत्यर्थः। मनोजयसमनन्तरमल्पायासेनैव सकलेन्द्रियजयसंभव इत्याशयेन व्यावर्त्तिताक्ष इत्यनुक्त्वा व्यावृत्ताक्ष इत्युक्तम्। व्यावृत्तान्यक्षाणि यस्य स इति व्युत्पत्तौ स्वयमेव व्यावृत्तत्वार्थप्रतीतेः। तथापि तत्र यत्किंचित्प्रयत्नसापेक्षतासत्त्वाद् व्यावर्तितानीत्येवमस्माभिर्व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम्।

नन्विन्द्रियमनःसंयमपूर्वकबहुतराभ्यासपाटवपरिपाकफलं कुण्डलिनीसमुत्थानम्। तत्कथमिहाभिधीयते षट्चक्रभेदनसमनन्तरमनोजयपूर्वको नयनादिजय इति चेद्। उच्यते। संयमः पृथक् विजयश्च पृथक्। तत्र कुण्डलिन्युत्थाने इन्द्रियमनःसंयमपूर्वकस्य प्राणायामस्यापेक्षायामपि नेन्द्रियादिजयापेक्षा। अत एव भगवता पतञ्जलिना कुण्डलिन्युत्थान-

प्रयोजकासनजयप्राणजयसमनन्तरमेव प्रत्याहारादिर्निर्दिष्टः। तथा च युक्तमुक्तं मनस्तत्त्वं जित्वेत्यादि।

इदं पुनरिहावधेयम्। मनो जित्वेत्यनुक्त्वा मनस्तत्त्वं जित्वेति कथनं केवलसंयमनपूर्वकमनोजयाभासव्यावृत्त्यर्थम्। मनस्तत्त्वकथने ह्याज्ञाचक्रस्थं मनस्तत्त्वमुपतिष्ठते। तज्जयकथनाच्चाज्ञाचक्रपर्यन्तसर्वचक्रभेदनं लभ्यते। नहि पृथिव्यादि तत्त्वं यथा तन्मात्रादिकं प्रसिद्धं तथा मनस्तत्त्वं किंचित्तन्मात्रादिलक्षणं प्रसिद्धम्। वेदान्तनये यद्यपि पृथिव्यादितन्मात्राभिर्यथा स्थूलपृथिव्याद्युत्पत्तिस्तथा समष्टिपञ्चभूततन्मात्राभिरेव मनसः उत्पत्तिः। तथापि यथा पृथिव्यादितन्मात्राणां पृथिवीतत्त्वत्वेन व्यवहारस्तथा न मनस्तत्त्वत्वेनेति न तत्परिग्रहावकाशः। तन्त्रसिद्धान्ते पुनर्मनस्तत्त्वं पृथगेव, न तु तन्मात्रासमष्टिजन्यम्। षड्विंशतिर्वा षट्त्रिंशद्वा तत्त्वानीति तु पृथग् विचारः। अत एव मनोजय इत्येव शास्त्रेषु प्रसिद्धम्। न तु मनस्तत्त्वजय इति। कुतः ? तत्त्वशब्दप्रयोगेण संग्राहकत्वानपेक्षणादिति दिक्।

स्वयमपि यदा पश्यति परामिति। स्फुरति बहिरन्तर्भगवतीत्येवं तृतीयपादे भगवतीकर्तृकं स्फुरणं वक्ष्यति। परं न स्वत एव भगवती स्फुरति। किन्तु साधनसापेक्षा। साधककृतसाधनवशाद्धि भगवती तथा स्फुरति। कीदृशं तत्साधनमित्येतत्स्फोरयितुं फलविधया साधनस्वरूपं स्वयमपि यदा पश्यतीत्यनेनोक्तम्। पश्यतीत्यस्य दर्शनानुकूलव्यापारं करोतीत्यर्थत्वात् साधनमपि ध्वनितम्। अत एव स्वयमपीत्यस्य सार्थक्यम्। स्वयंपदार्थः साधकः। भगवतीकृपामात्रोपजीव्यतया न। किं तर्हि। स्वयमपि स यदा दर्शनानुकूलषोढैक्यभावनादिलक्षणं व्यापारं करोति तत्फलतया भगवतीदर्शनं च करोतीति साध्यसाधनोभयसंपाद्यताप्रतिपादकतया पश्यतीति प्रयोगः। षोढैक्यानुसन्धानानन्तरं दशभुजा श्रीविद्या मणिपूरे प्रत्यक्षं भवति। न चैतावता कृतार्थता। सैव भगवती पुनर्हृदये समुपास्या। एतच्च वक्ष्यति—"भवत्यैक्यं षोढे" त्यारभ्य "इतीदं मणिपुरे भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरुपास्ते नहि परमि"त्यन्तेन श्लोकेन। भवानि श्रीहस्तैरिति श्लोकेन च तदेव स्फुटीकरिष्यति। षोढैक्यवतां च पुनश्चतुर्धैक्यं भवति ततः परशिवाया स्फुरणं भवति। एतदपि वक्ष्यति—"तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां चतुर्धैक्यं तेषामि"त्यादिना सार्धेन। एतदेवात्र श्लोके उत्तरार्धस्य विषयः। अनयोः

कार्यकारणभावाच्च यदा तदेति कालविशेषनिर्देश इति ध्येयम् । नन्वेवं यदा पश्यति परामित्यत्र परेति विशेषणमनुपपन्नम् । दशभुजाया अपरात्वादिति चेन्न । आपेक्षिकपरात्वोक्तेः । अत एवोत्तरार्धे काचिदिति वाचामगम्यत्वकथनेनेत उर्ध्वभाविन्याः कथनमुपपद्यते । अपि च बहिरन्तः स्फुरणोक्त्या पूर्वार्धोक्तमन्तःस्फुरणमात्रमिति गम्यते । ततश्च परिच्छिन्नस्वरूपदर्शनं प्रथमदर्शनस्य स्वीकृतमित्यर्थाद् गम्यम् । कथमापेक्षिकमपि परात्वमिति चेद् ? उच्यते । मनस्तत्त्वं जित्वेत्यनेन षट्चक्रभेदनस्य सूत्रितत्वात् तदनन्तरावस्था परैव भवति । तथा चोक्तं वामकेश्वरे षटचक्रभेदनोत्तरं—

सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम् ॥ इति ।

नन्वेवं षट्चक्रभेदनेन सहस्रारकमले शिवशक्तिसमायोगे सैव परमा परावस्थेति कथमापेक्षिकपरात्वमभिधीयत इति चेन्मैवम् । नहि कुण्डलिनीशक्तेः शिवेन योगः परमा परावस्था । कुण्डलिन्याः पुनर्मूलाधारप्रत्यावर्तनस्मरणात् ।

शून्यरूपं परशिवं प्रापयित्वा तु कुण्डलीम् ।
ततः सामरसीभूतां पाययित्वा परामृतम् ।
पुनस्तेन पथा देवीं प्रापयेत् कुलगह्वरम् ॥ इति ।

न च कथं परशिवस्य शून्यरूपत्वमुच्यत इति वाच्यम् । सर्वविकल्पशून्यत्वेनाकाशवन्महाशून्यरूपत्वात् । तदुक्तममृतानन्दयोगिभिः—

बैन्दवे परमाकाशे सच्चिदानन्दलक्षणे ।
निष्प्रपञ्चे निराभासे निर्विकल्पे निरामये ॥
अनुत्तरचमत्कारपरामर्शपवित्रिते ।
निरुत्तरमहाशून्ये शून्यशून्यान्तवर्जिते ॥
स्त्रीपुंनपुंसकाख्याभिः कल्पनाभिरकल्पिते ॥ इत्यादि ।

तदानीमेवास्येति । एवकारेण यथोक्तपरादर्शनं तद्धेतुभूतभवानीवन्दनं चावश्यकर्तव्यमित्युक्तं भवति । तथा च युक्तमेव भगवतीवन्दनं सामान्यतः प्रथमश्लोकोक्तमग्रे च व्यक्तीकरिष्यमाणमिति भावः । तदानीमेवास्य साधकस्य जीवन्मुक्तिलक्षणं बहिरन्तर्भगवतीस्फुरणमिति वाक्यार्थः । कथं तस्य परमपुरुषार्थत्वम् ? तत्राह—परानन्दाकारेति । परमानन्दैकस्वरूपेत्यर्थः । तदुक्तं वामकेश्वरे—

प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम् ।
अद्यापि यस्या जानन्ति न मनागपि देवताः ॥ इति ।

परशिवपरेति । परशिव एव परो यस्याः सा परशिवपरायणेत्यर्थः । ततः पातिव्रत्यं भजतीति वचनात् । परशिवस्य परा पराशिवपरेति वा । तथा चोक्तं परापञ्चशिकायां—

तस्यैवैषा परा देवी स्वभावामर्शनोत्सुका ।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न वाधिकम् ॥ इति ।

परं शिवं पिपर्ति पालयतीति वा । परशिवः परः पालको यस्या इति वा । तथा च वचनम्—

'न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः' । इति ।
'परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन ।
शक्तः स्यात्परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद्यदि' ॥ इति च ।

परशिवस्वरूपं च वर्णितं प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः ।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥ इति ।

काचिदपरेति । काचिदिति शब्दानभिलप्यः वागविषया अपरा—यदा पश्यति परामित्युक्ताया अन्यैवेत्यर्थः । अत्रापराशब्दोऽन्यार्थकः । नत्वपराशक्तिपर्यायः । न हि यदा पश्यति परामिति परादर्शनफलमपराशक्तिस्फुरणं युक्तम् । काचिदिति विशेषणानुपपत्तेश्च । न ह्यपराया वाचामविषयत्वम् । तथा च यदा पश्यति परामित्युक्तिरापेक्षिकपराभिप्राया । निरपेक्षं परमं परात्वं तु शब्दाविषयाया एव । सैव तुरीयेत्यपि क्वचित्पठ्यते । एषैव वाणीलक्ष्मीपार्वतीभ्यः पृथक्त्वेन सौन्दर्यलहर्यामुक्ताः—

'तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा' इति ।

अन्या व्याख्या—यदा पश्यति परामित्यत्र तुरीयाऽभिहिता । काचिदपरेति तुरीयातीता निगद्यते । तच्चोक्तमभियुक्तैः—

'तुर्यातीतां चिदानन्दरससारामनुत्तराम्' । इत्यादि ।

न विद्यत उत्तर उत्तरा वा यस्याः सा अनुत्तरा । तामनुत्तराम् । अत्रापि न विद्यते परः परा यस्याः सा अपरा इति व्याख्या सूपपन्ना । अनुत्तरेति च तदार्थः । सर्वथापि "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा अपरेयं" इति व्याख्याता अपरा नात्र गृह्यत इत्यवधेयम् ॥ २ ॥

मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुषो
निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि संज्वाल्य शिखया ।
सुषुम्नां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थि शशिनं
तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति महायोगिसमयी ॥३॥

हे भगवति ! साधना में स्थित महायोगी समयमार्गी उपासक मन के मार्ग नाडीगणस्थित वायु को जीतकर इंडा एवं पिंगला में स्थित सूर्य एवं चन्द्र को भी निरुद्धकर अग्नि को भी ज्वाला से प्रज्वलित कर उसी से सुषुम्ना में प्रविष्ट कुण्डलिनी शक्ति से षट्चक्रभेदन करते हैं और आज्ञाचक्रस्थ चन्द्रमा को द्रवीभूतकर अमृतवर्षा करते हैं ॥३॥

अन्वयार्थबोधिनी

इह = साधनायां महायोगिसमयी = महायोगी चासौ समयमार्गी चेति तथा सः मनोमार्गं = मनोमार्गभूतान् नाडीगणजुषः = नाडीसमुदायवर्त्तिनः मरुतः = वायून् जित्वा—द्वासप्ततिसहस्रनाडीगणवर्त्तिवायुरूपं मनोमार्गं मनःसंचारणमार्गं प्राणायामादिना जित्वेत्यर्थः । सेन्दुम् = इन्दुना सहितम् अर्कं = सूर्यं निरुध्य—सूर्यचन्द्राविडापिङ्गलागतौ निरुध्य, शिखया = गुदाकुञ्चनवाय्वाघातजनिताग्निशिखया दहनमपि = स्वाधिष्ठानगतमग्निमपि संज्वाल्य=सम्यग् ज्वलयित्वा ततः सुषुम्नां संयोज्य=सुषुम्ना नाडीं सम्यग् योगयुक्तां कृत्वा, तत्र प्राणसंचारणेन कुण्डलिनीं प्रवेश्येत्यर्थः । तयेव च, षड्ग्रन्थि = षण्णां—मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्ध्या-ऽऽज्ञानां ग्रन्थीनां समाहारं श्लथयति = भिनत्ति । किं च तव = भगवत्या आज्ञाचक्रस्थं शशिनं विलयति = विशेषेण द्रावयति ॥३॥

अमृत झरिका

साध्यसाधनभावेन मनोजयादि बहिरन्तःस्फुरणपर्यन्तमभिहितम् । तदेतत् कथं सम्भवतीत्याशङ्कायामुपासनाङ्गतया योगं विधत्ते—मनोमार्गं जित्वेति । महायोगिसमयी मनोमार्गजयादिकं कृत्वा षड्ग्रन्थि श्लथयति शशिनं च विलयति । एवं सति पूर्वोक्तं मनोजयादिकं सम्पद्यत इति संग्रहः । महायोगी चासौ समयी चेति महायोगिसमयी । समयी समय-

मार्गी। योगी चासौ समयी च योगिसमयी। महांश्चासौ योगिसमयी च महायोगिसमयीति वा। स मनोमार्गं जित्वा। कोऽसौ मनोमार्ग इति जिज्ञासायां विशेषणं नाडीगणजुषो मरुत इति। इह शरीरे नाडीगणजुषो मरुतो मनोमार्गं जित्वेति योजना। वेदाः प्रमाणमितिवद् मरुतो मनोमार्गमिति प्रयोगः। यतो मरुतः प्रवर्तन्ते ततो मनः प्रवर्तत इति मनोमार्गत्वं मरुताम्। तथा चोक्तमात्मारामयोगीन्द्रेण—

"यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्ति-
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः"। इति।

नन्वेतद्वचनेन मरुन्मार्गत्वं मनसोऽपि स्यादिति चेद्? अस्तु। अत्र तूषासनाप्रस्तावे मनोजयस्यैव मुख्यतयाऽपेक्षितत्वात्तन्मात्रकथनमुपपद्यते। यद्यपि—

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥

इति तदीयवचनात् सुषुम्नेतरनाडीनामानर्थक्यकथनात् तदीयवायुसंरोधनस्य नैरर्थक्यं पर्यवस्यतीति नाडीगणजुष इति सकलनाडीग्रहणमफलमिव भाति। तथापि मुख्यप्रयोजनवत्त्वात् सुषुम्नायाः, इतरासां च तदभावात्तावन्मात्रेण नैरर्थक्यकथनं, न तु तदीयवायुसंरोधननैष्फल्येन। अत एव तत्र टीकायां—"शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुस्तस्येयम्, यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शम्भुरात्मा तस्येयं शाम्भवी शम्भोरात्मनो वाऽभिव्यक्तिकारणत्वाच्छाम्भवी। निरर्थकः पूर्वोक्तप्रयोजनाभावाद्" इत्येव व्याख्यातम्। न त्वत्यन्तनैरर्थक्यम्। पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् = शाम्भवीपदद्योतितसुखभवन-सुखरूपावस्थानाऽऽत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षण - प्रयोजनाभावादिति तत्रार्थः।

ननु कथं सकलनाडीगणमरुद्विजयसम्भव इति चेद्? प्राणायामाद्यभ्यासवशेनेति ब्रूमः। तथा चोक्तं वसिष्ठेन—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते॥ इति।

एतदेव प्रतिपादयति—निरुध्यार्कमित्यादिना। सेन्दुमिन्दुसहितमर्कं सूर्यं निरुध्य। इन्दुसूर्यप्रचारनाड्याविडापिङ्गले निरुध्येति फलितार्थः। इडापिङ्गलागतप्राणं निरुध्येति यावत्। एतदुक्तं भवति—यद्यपि

मनोमार्गः सकलनाडीगणगतमरुत एव। शैत्यादिना जडीकृतहस्तादौ प्राणसंचाराभावे ज्ञानानुत्पत्तिदर्शनात्। तथापि मनोजयार्थं न सकलनाडीनिरोधस्तद्गतप्राणनिरोधो वाऽऽवश्यकः। किन्तु मुख्ययोरिडापिङ्गलयोस्तद्गतमरुतो वा निरोधेनैव मनोजयसंभव इति। तथा च कुम्भकविशेषेणेडापिङ्गलामरुन्निरोधः कर्त्तव्य इत्युक्तं भवति। तथा सति च हृदयोपरिगतसूर्यः आज्ञोपरिस्थचन्द्रश्च स्वस्वस्थानस्थितो भवतीति यथाश्रुतसूर्यचन्द्रनिरोधोऽप्युपपद्यते। तच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति।

ननूक्तरीत्या इडापिङ्गलयोरेव जयो भवेन्न तु मुख्यायाः शाम्भव्याः सुषुम्नाख्यायाः। न हि तत्र प्राणसंचरणमस्ति येन तन्निरोधेन तज्जयः स्यादित्याशङ्कायां तत्र वैपरीत्यमेव, यतस्तत्र प्राणसंचारणमेव तज्जय इत्याशयवांस्तज्जयोपायमाह—दहनमपीत्यादि। प्राणायामकाले मूलबन्धेनापाने ऊर्ध्वगे क्रियमाणे स वह्निमण्डले गत्वा वह्निं प्रज्वालयति। सा च ज्वाला सर्वं शरीरं सुषुम्नां च तापयति। तदा सुषुम्नायां प्राणसंचारः प्रादुर्भवति। तदानीं च कुण्डलिनी प्रबुध्य षड्ग्रन्थिं भिनत्ति। तदेतदाह—दहनमपि संज्वाल्य सुषुम्नां तद्दहनशिखया संयोज्य षड्ग्रन्थिं षण्णां ग्रन्थीनां समाहारः षड्ग्रन्थि, तत् श्लथयति भिनत्ति। एतत्सर्वं स्वात्मारामयोगीन्द्रेणापि निरूपितम्—

अपान उर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा वर्धते वायुनाऽऽहता॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥
बिले प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥ इति।
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥ इति च।

सुषुम्नायां प्राणसंचारं च व्यतिरेकमुखेनाह—

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्॥ इति।

'मध्यगः सुषुम्नामार्गगामी'ति तत्र टीका।

अत्रायं क्रमः—प्रथमं तावद् यमनियमसंपन्नो विजितासनः प्राणायामान् रेचकपूरककुम्भकाख्यान् कुर्यात्। एतेन मुहुराचरितेन नाडीशुद्धिः सम्पद्यते। एवं नाडीषु शुध्यन्तीषु मूलबन्धादीनपि गुरूपदिष्टमार्गेण कुर्यात्। तेन शनैः प्राणस्य सुषुम्नाप्रवेशो भवति। तदुक्तं योगिभिः—

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ इति।

मूलबन्धजालन्धरबन्धोड्डियानबन्धैः प्राणो ब्रह्मनाड्यां सुषुम्नायां प्रविशतीत्यर्थः। एवं मूलबन्धेनापाने मुहुर्मुहुरूर्ध्वगामिनि जायमाने तदाहृतं वह्निमण्डलं प्रज्वलितं भवति। तथा चाभिहितं तत्रैव—

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ इति।

तदीयया ज्वालया प्रागुक्तरीत्या कृत्स्नो देहस्तप्तो भवति सुषुम्ना नाडी च। तदा कुण्डलीनी प्रबुद्धा प्राणमार्गेणोर्ध्वमायाति षड्ग्रन्थि च भिनत्ति। एवं सति उन्मनीभावो मनोजयात्मकः पूर्वोदितक्रम इति।

एतत्सर्वं हठयोगप्रक्रिययास्माभिरभिहितम्। तन्त्रप्रक्रियायां कश्चिद्विशेषः। तथा हि योगिनां नाभौ वह्निमण्डलं समानवायुना ज्वाल्यमानं वर्तते। अशितपीतादिसमीकरणपरस्य समानस्य नाभिसंस्थत्वात्। मूलबन्धकुम्भकाभ्यां तस्यैव प्रज्वलनम्। तान्त्रिकाणां तु स्वाधिष्ठाने वह्निमण्डलम्।

'वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्'।

इति वामकेश्वरवचनात्। अन्यत् प्रायः समानम्। समनन्तरश्लोकेऽधिकं स्पष्टीभविष्यति, अग्रे च स्फोरयिष्यते।

षड्ग्रन्थिश्लथने सति किं स्यदित्युच्यते शशिनमिति। तव भगवत्यां यदाज्ञाचक्रं तत्र स्थितम्। सर्वत्र चक्रेषु देवीस्थितिसत्त्वात्तवेति चक्रविशेषणोपपत्तिः। तव शशिनमित्यपि शक्ययोजनम्। भगवत्याः पञ्चदशकलाभिर्युक्तत्वाच्छशिनः। तव समयीत्यपि तथा। त्वदीयसमयमार्गानुसारीत्यर्थात्। आधाराधिष्ठानयोरुपरि वह्निमण्डलम्, मणिपूरानाहतयोरुपरि सूर्यमण्डलं विशुद्ध्याज्ञायोरुपरि चन्द्रमण्डलमित्यग्रे व्यक्तीभविष्यति। तथा चाज्ञाचक्रस्थमित्याज्ञाचक्रोपरिस्थिमित्यर्थः। विलयति द्रवीकरोति। 'ली द्रवीकरणे' चुरादिः। दीर्घपाठसामर्थ्याद् अणिजन्तोऽपि।

क्र्यादिदिवाद्योस्तु लिनाति लीयते इति रूपे। न तु लयतीति। विलयति वर्षयति चामृतधारा इति ज्ञेयम्। तथा चोक्तं भैरवयामले—

शिवाऽर्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्
तदुद्भूतामृतस्यन्दि — परमानन्दनन्दिता
कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेति सा॥ इति।

शिवा कुण्डलिनी अर्कमण्डलं भित्त्वेति वह्निमण्डलभेदनोत्तरमिति द्रष्टव्यम्। परं वर्षणं द्वासप्ततिसहस्रनाडीषु प्रवर्षणं करोतीत्यर्थः। तेन चाप्यायिततनुर्महायोगी परमानन्दनिमग्नो भवति।

ननु सहस्रारगतद्वितीयचन्द्रबिम्बस्रवदमृतधारयैव योगिनः परमानन्दः, न त्वज्ञाचक्रोपरिस्थचन्द्रबिम्बामृतस्रवणात्। वक्ष्यति हि— 'महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीप्लावितितनुः' इति, इति चेत्, सत्यम्। सहस्रारबिम्बप्रस्रवदेवामृतमाज्ञाचक्रस्थचन्द्रो धत्ते। स्रावयति च। तदपि वक्ष्यति—'तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं रविनिभं दृढव्यालीढं सद्विगलितसुधासारविसरम्' इति। एतावांस्तु विशेषः। साधारणानां तदमृतं हरति सूर्यः। अमायां कुलकुण्डे निपतति यत् पीत्वा भुजगी सुखं स्वपिति। चन्द्रार्कनिरोधे तु सा वक्ष्यमाणरीत्या प्रबुध्याज्ञोपरिस्थचन्द्रमण्डलं द्रावयति। द्रावणं च तत्संगृहीतामृतस्रावणमेव। तच्च न कुलकुण्डे किन्तु द्वासप्ततिनाडीसहस्रेषु इति। परन्त्वाज्ञाचक्रभेदनकाले तत्परिच्छिन्नं भवति। वक्ष्यमाणसहस्रारगतबिम्बदशनोत्तरमपरिच्छिन्नमिति। अत एव प्रदर्शितभैरवयामलवचने द्रावयन्तीन्दुमण्डलमिति परं वर्षमेतीति च पृथगुक्तम्। न हि द्रावणं सुवर्णादिद्रावणवच्छिथिलीकरणमात्रम्। तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः। इत्थं च परं वर्षणमित्यत्र परमिति विशेषणमपि संगच्छते। द्रावणमपरवर्षणम्। इदं पुनः परवर्षणम् यत्सहस्रारचन्द्रबिम्बाज्जायते। परं वर्षणमेत्य सेति पाठे परं वर्षणं कृत्वा कुलकुण्डमेत्य स्वपितीति योजना॥ ३॥

यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
दशक्तौ पीयूषस्रवणहरणे सा च भुजगी ।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं
सुधाधारासारैः स्नपयसि तनुं बैन्दवकले ॥४॥

जब अपने संचारसदन इडा एवं पिंगला नाड़ियों के निरोध से चन्द्र एवं सूर्य अमृत के स्रवण एवं हरणं करने में असमर्थ होते हैं, तब मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है, और भूखी होने से ऊपर को उठकर सहस्रारकमलस्थित चन्द्रमा को काटती है, अर्थात् वहाँ पहुँच कर अमृतरसास्वादन करने लगती है। तत्र सहस्रारस्थित हे भगवती ! आप साधक योगी को अमृतरसास्वादन कराकर आप्यायित करती हैं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

यदा = सुषुम्नासंयोजनकाले = सुषुम्नायां प्राणायामादिना वायु संचारणकाले **तौ** = इडापिङ्गलासंचारिणौ चन्द्रार्कौ योगेन **निजसदन संरोधनवशात्** = निजसदनयोः = चन्द्रार्कसदनयोः इडापिङ्गलयोः, अनाहताज्ञयोर्वा सम्यग्रोधनवशात्, **पीयूषस्रवणहरणेऽशक्तौ** = सहस्रार-निर्झरत्पीयूषस्य ग्रहणपूर्वकस्रवणे चन्द्रोऽशक्तस्तद्धरणे च सूर्योऽशक्तो यदा स्यातामित्यर्थः। तदा च **सा** = प्रसिद्धा **भुजगी** = कुण्डलिनी **प्रबुद्धा** = पूर्वोक्तज्वलिताग्निशिखाघातादिना जागरिता **क्षुत्क्रुद्धा** = कुपितक्षुत्का च सती ऊर्ध्वमाक्रम्य **बैन्दवगतं** = सहस्रारगतं **शशिनं दशति** = भक्षयति = तदीयामृतरसास्वादनं करोति। तदा हे **बैन्दवकले**= बैन्दवस्थनित्यचन्द्रकलारूपिणि हे भगवति त्वं **सुधाधारासारैः** = स्वनिर्झरदमृतधारानिरन्तरसंपातैः साधकस्य **तनुं** = शरीरं **स्नपयसि** = मज्जयसि ॥ ४ ॥

अमृत झरिका

उक्तमेवार्थं विशदयन्नुत्तरां प्रक्रियामाह—**यदा ताविति**। ताविति वक्ष्यमाणचन्द्रव्यावृत्यर्थमिडापिङ्गलागतौ सूर्याचन्द्रमसौ परामृशति। **निजसदनेति**। निजसदनयोर्निजसंचरणस्थानयोरिडापिङ्गलयोः प्राणाया-

मेन कुम्भकविशेषेण संरोधनवशादित्यर्थः। कुम्भकविशेषे सति सुषुम्नायां वायुसंचारात्तदभिभूतत्वेन तयोः संरोधनम्। दृश्यते हि मध्यगतस्य फुल्लतायां पार्श्वयोः संकोचनम्। निजे-निजे सदनेऽनाहतोपरिस्थाने, आज्ञाचक्रोपरिस्थाने च ध्यानविशेषादिना तयोरेव चन्द्रार्कयोः संरोधवशादित्यप्यर्थः संभवति। स्रवणं च हरणं च स्रवणहरणं समाहार द्वन्द्वः। तस्मिन् स्रवणहरणे। पीयूषस्य सहस्रारचन्द्रप्रवहत्पीयूषस्य स्रवणहरणे यदा तावशक्तौ भवतः। तथा हि सहस्रारगतचन्द्रबिम्बान्नित्यममृतनिर्झरः प्रवहति। तमिडागतश्चन्द्रो गृहीत्वा प्रस्रवति सूर्याभिमुखम्। पिङ्गलागतश्च सूर्यस्तं हरति हृत्वा च शोषयति। तत एवाऽमृताऽप्राप्तेरनिर्वृतयः सर्वेपि पामराः जनाः इति योगसिद्धान्तः। चन्द्रसूर्यसदनसंरोधने च सति तौ स्रवणहरणयोरसमर्थौ भवतः। ततः किं? तत्राह—**सा चेति**। यदेत्यनुषञ्जनीयम्। दशति शशिनं बैन्दवगतमित्यनन्तरं तदेति च पूरणीयम्। अथवाऽत्रैव तदेति पूरणीयम्। अत्र पक्षे पीयूषस्रवणहरणाशक्तिकाले भुजगी प्रबोधसुधास्नपनलक्षणकार्यद्वयमित्यर्थपर्यसानम्। सा च भुजगी कुण्डलिनी प्रबुद्धा पूर्वश्लोकव्याख्यायामुपदर्शितक्रियाभ्यासेन स्वाधिष्ठानाग्निप्रज्वलनतापेन प्रबोधं गता। सा किल प्रायः सुप्ता मूलाधारे शेते। तस्याः स्वरूपमुक्तम्—

> तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
> ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम्।
> शङ्खावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा
> सुप्ता सर्पसमा शिवोपरिलसत्सार्धत्रिवृत्ताकृतिः॥ इति।

इयमेव वाग्रूपिणीत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति। क्षुत्क्रुद्धेति। सूर्येणानुह्रियमाणां कृष्णपक्षे चन्द्रनिःसरदमृतस्रुतिं पीत्वा तृप्ता सती सा स्वपिति। सूर्यचन्द्रसदनरोधे तु सति अमृतस्रवणाभावात् सा क्षुदाविष्टा भवति। विशेषमग्रे वक्ष्यामः। इतः परं पूर्वश्लोकोक्तप्रक्रियानुसन्धेया। तथा हि क्षुत्क्रुद्धा दण्डाहतेव भुजगी ऊर्ध्वमाक्रामति। भिनत्ति षट्चक्राणि। विलयति चाज्ञोपरिस्थचन्द्रमण्डलम्। ततः किमित्युच्यते—**दशति शशिनं बैन्दवगतमिति**। सहस्रारगतचन्द्रबिम्बनिःसरदमृतरसमास्वादयतीत्यर्थः। स च रसो न शिवशक्तिमेलनजन्यानन्दरसात्पृथक् कश्चन द्रवपदार्थ इति द्रष्टव्यम्। एतत् सर्वं संगृह्य वामकेश्वरतन्त्रेऽभिहितम्—

भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा॥
मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता॥
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वंगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः॥
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
ज्वलनाघातपवना—ऽऽघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यदः।
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम्॥ इति।

सुधाधारासारैरिति। यदेत्युपक्रमात्तदेति योज्यमित्युक्तम्। तदा सुधाया धाराणामासारैर्धारासंपातैः। न च धाराशब्दस्य पठितत्वाद् 'धरासंपात आसार' इति कोशोदितविशिष्टार्थघटकविशेषणस्याभिहितत्वाद् विशेष्यमात्रपरता आसारशब्दस्य युक्तेति वाच्यम्। यतो धारासंपातो हि न धारायाः संपात इति षष्ठीसमासलभ्यार्थबोधकः। किं तर्हि? धारया संपातो धारासंपात इति तृतीयासमासलभ्य–निरन्तर संपातबोधकः। न च प्रथमाधराशब्देनैव निरन्तरप्रवाहार्थेन तल्लाभ इति वाच्यम्। विच्छिद्य-विच्छिद्य प्रवहत्यपि धाराशब्दप्रयोगदर्शनात्। अत एव तैलधारायां जलधारायां च विशेषः। न चैवं धारया संपात इत्युक्तावपि नाविच्छिन्नधारालाभसंभव इति वाच्यम्। विच्छिन्नधाराया अनेकत्वप्रतीतेर्धारया संपात इत्येकत्वेन निर्देशादविच्छेदलाभात्। सकृद्धारायां संपतन्त्यामासारशब्दप्रयोगादर्शनाच्च। तैः सुधाधारासारैः साधकस्य तनुं शरीरं स्नपयसि। साधकमानन्दसरोनिमग्नं करोषीत्यर्थः। नन्वेवं भुजगी वा शशी वा स्नपयेत्, न तु भगवतीत्यतः संबोधनं बैन्दवकल इति। बिन्दुमध्यगता षोडशी नित्या चन्द्रकला बैन्दवकला। तत्सम्बुद्धौ हे बैन्दवकले। सैव परमानन्दरूपिणी अमृतरूपेणावतिष्ठत इति युक्तं तस्याः स्नपनकर्तृत्वमिति भावः।

ननु चन्द्रार्कसंरोधवशादेव पीयूषस्रवणहरणावरोधे आज्ञोपरिस्थचन्द्रबिम्बद्रावणादेव शशिनं तवाज्ञाचक्रस्थं विलयतीति पूर्वोपदर्शितात् सकल-

तनुस्नपनसंभवे क्षुत्कुद्बाधायाः शशिदशनं किमर्थम् ? दशने च सति क्लेश एव संभाव्यत इति कथं सुधाधारासारस्नपनोपपत्तिश्चेति चेद् ? उच्यते। आज्ञासदनस्थश्चन्द्रो न स्वयममृतरूपः। किन्तु सहस्रारगता षोडशीकलैव नित्याऽमृतरूपा। तदीयामृतेनैवाज्ञोपरिस्थचन्द्रस्य सामृतत्वम्। तथा चाज्ञाचन्द्रद्रावणे भवतु काममानन्दलेशानुभूतिः। तथापि निरतिशयानन्दानुभूतिः सहस्रारचन्द्रबिम्बदशनेनैव भवति। अत एव "सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते सा चावस्था परा ज्ञेये"त्युपदर्शितवामकेश्वरवचनसंगतिः। एतेन सर्पदशने क्लेश एव स्यादित्यपि समाहितम्। न हि लौकिकं सर्पदशनमिह विवक्षितम्। किन्त्वमृतरसास्वाद एव। स च "सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदत" इति वचनप्रतिपाद्यार्थ एव।

नन्वमृतं नाम यदि कश्चन द्रवपदार्थः स्यात्तदा तदीयधारासारैः सकलशरीरस्नपनं संगच्छते। अतिसूक्ष्मशक्तिविशेषप्रसर एव सर्वस्यां तनाविति व्याख्यानेऽपि तत्कथंचिदुपपद्यते। यदि तु शिवशक्तिसमायोगजनितपरमानन्दोपभोग एव फलितार्थः स्यात्तर्हि तेन कुण्डलिनी वा शिवो वा मोदमानः स्यान्न तु साधको जीवः। तथा च सैव निर्वृतिकारणमित्युक्तिः कथं संगच्छते ? कुतो वा शिवशक्तिमोदार्थं साधकस्य प्रवृत्तिः। प्रवर्तमानो हि पुरुषः स्वार्थमेव समीहत इति चेद् ? उच्यते। न खलु जीवः शिवव्यतिरिक्तः। न वा कुण्डलिनीशक्तिरपि निजशक्तेः पृथक्। तथा च शिवशक्तिसमायोगस्य निर्वृतिकारणत्वं नानुपपन्नम्। यावच्च शिवशक्तिसमायोगो न भवति तावदसमर्थ एवायमात्मा पूर्णभोगादावप्यवतिष्ठते। एतदेव—

परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन।
शक्तः स्यात्परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद्यदि॥

इत्यनेनोक्तम्। सौन्दर्यलहर्यां च—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

इत्यनेनाभिहितम्। अन्यथा यदिचेदोरानर्थक्यं स्यात्। न हि परमशिवः कदाचिदपि शक्त्या वियुज्यते। तथा चाऽप्राप्तप्रतिषेधः स्यात्। तथा चोक्तम्—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्त्या रहितः शिवः।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥ इति।

न हि चन्द्रिकया वियुक्तश्चन्द्रः स्यादिति शक्यं सभावयितुम् । नतरां परोऽपि शक्तिरहितः इति ।

ननु चैवमपि जीवस्यापि शिवरूपत्वे परोऽपि शक्तिरहित इति सम्भावना निरास्पदेत्यप्राप्तप्रतिषेधप्रसक्तितादवस्थ्यम् । तथा च कुण्डलिनी शक्तेः शिवेन संयोगवियोगावुभावप्यनुपपन्नावेव । अप्राप्तयोः प्राप्तिर्हि संयोग इत्यभिधीयत इति चेद् ? अत्र वदामः । व्यापकोऽपि परमशिवो मायासमाच्छादितः सहस्रकमले एव साधनैरभिव्यक्तो भवति । अत एव—

दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-
स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ।

इत्याद्याः श्रुतयः संगच्छन्ते । दहराकाशस्याभिव्यक्तिस्थानत्वात् । शिवेन सह नित्ययुक्तापि कुण्डलिनी शिवस्य सहस्रारेतरदेशावच्छेदेनाच्छादिततया मूलाधारे पृथगिवावतिष्ठते । अनिर्वचनीयायां च तस्यां न किंचिद् दुर्घटम् । व्यवहारसत्तायां पार्थक्योपपत्तेः । एषैव शिवस्य जीवावस्था नाम । अभ्यासवशेन च योगी कुण्डलिन्याः शिवयोगं सम्पादयति । तदा च स समर्थः सम्पद्यते । परमशिवरूपता तु मोक्षकाले एव भवति । कुण्डलिनीसंयोगे च विवृतानन्दः शिवो भवति । स एव साधकस्य परमानन्दः 'सा चावस्था परा ज्ञेये'त्यनेनोक्तः । ननु

हृदम्बुजे ब्रह्मकन्दसंभूते ज्ञाननालके ।
आराग्रमात्रो जीवस्तु चिन्तनीयो मनीषिभिः ॥

इति वचनाज्जीवो हृदयकमले तिष्ठतीति कथं सहस्रदलकमलगतशिवस्य जीवभाव इति चेन्न । चैतन्यस्यैक्यमेव । तदेव परं ब्रह्म । तन्मायाव्यवहितमपि सहस्रारे शक्त्याभिव्यञ्जनम् । एवं मायाव्यवधानकाल एव तत् चैतन्यमविद्यावच्छिन्नं सद् हृदयाम्बुजे वर्तमानं जीवसंज्ञं भवतीत्यन्यत्र विस्तरः ।

अत्र क्रुद्धा कुपिता क्षुद् यस्याः सा क्षुत्क्रुद्धेत्याहिताग्न्यादेराकृतिगण-त्वात्समासे क्षुधः पूर्वनिपातः । क्षुधा क्रुद्धा क्षुत्क्रुद्धेति तृतीयासमासे कुण्डलिन्याः क्रुद्धत्वमप्रसिद्धं कल्पनीयं स्याद् । यद्यपि

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्

इति हठयोगिवचनाज्जठराग्नेः प्रदीप्तिर्योगिनां भवतीति सैवात्र क्षुदिति शक्यं व्याख्यातुम् । तथापि तन्त्रेषु कुण्डलिन्या एव देव्याः क्षुद्वर्णनान्न

सोऽर्थो गृहीत इति ज्ञेयम् । कलायाः षोडश्या इति श्लोकव्याख्यानावसरे च विशदीकरिष्यामः ।

अत्र श्लोकद्वयस्य प्रकारान्तरेणापि व्याख्या सम्भवति । तथा हि पूर्वश्लोके मनोमार्गमित्यादौ न कुण्डलिन्युन्थानप्रयुक्तषड्ग्रन्थिभेदनमुच्यते । किन्तु सुषुम्नायां वायुसंचारप्रयुक्तषड्ग्रन्थिश्लथीभावमात्रम् । मनोमार्गं मारुतं प्राणायामेन जित्वा कुम्भकेन सूर्याचन्द्रमसाविडापिङ्गले निरुध्य तमेव मारुतं सुषुम्नां संयोज्य सुषुम्नायां प्रवेश्य षड्ग्रन्थि श्लथयति शिथिलं करोति शशिनं च द्रावयतीति । तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहृतेत्युक्तत्वात् । द्वितीयश्लोके तु कुण्डलिन्युत्थानमभिधीयते । तथा हि यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशादित्यनेन पूर्वमेव सुषुम्नायां वायुसंचारो द्योत्यते । वायुसंचारं विना शुष्कीभूता हि सुषुम्ना तिष्ठति । तदा पार्श्वस्थयोरिडापिङ्गलयोः प्रफुल्लता । यदा पुनः सुषुम्नायां वायुसंचारो भवति तदा सा प्रफुल्ला भवति पार्श्वगते च शुष्के भवत इति सूर्यचन्द्रसंरोधोपपत्तिः । एतदुत्तरं भुजगी प्रबुद्धा भवति क्षुत्क्रुद्धा चोर्ध्वमाक्रामतीति ॥ ४ ॥

•

पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः
स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति ।
तथा माया विद्या तदनु च महेशः शिव इतः
परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः परकला ॥५॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इनकी प्रकृति पाँच तन्मात्रायें, दस इन्द्रियाँ, मन, माया, विद्या, महेश्वर, शिव ये पच्चीस तत्त्व हैं। इनसे आगे तत्त्वातीत शिवशक्ति सामरस्य है। वही चन्द्रमा की षोडशी-कला है ॥ ५ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

पृथिवी, आपः, तेजः, पवनः, गगनमिति पञ्च। तत्प्रकृतयः = तेषां पृथिव्यादीनां प्रकृतयः याः स्थिताः ताः तन्मात्राः = शब्दादितन्मात्राः पञ्च। विषयदशकमित्यनेन विषयग्राहकमिन्द्रियदशकं विवक्षितम्। मानस-मिति—मनस्तत्त्वम्। तथा—माया, विद्या, तदनु च = ततश्च महेशः = महेश्वरः, तथा शिवः इति पञ्चविंशतितत्त्वानि। परमिति उक्ततत्त्वेभ्यः परमित्यर्थः। इतः परमिति पाठे स्पष्टोऽर्थः। तत्त्वातीतं = तत्त्वव्यवहार-रहितं वाचामगोचरम्, किं तत्? मिलितवपुः = शिवशक्तिसामरस्यात्मकं स्वरूपमित्यर्थः। सैव इन्दोः परकला षोडशीकलेत्यप्युच्यत इत्यर्थः ॥५॥

अमृत झरिका

दशति शशिनमिति बैन्दवकल इति च यदुक्तं तस्य तत्त्वातीतस्व-रूपतां वक्तुं तत्त्वानि परिगणयन्नाह—पृथिवीत्यादि। पृथिवी, जलं, तेजो, वायुः, आकाशमिति पञ्च भूतानि तत्प्रकृतयस्तेषां पृथिव्यादीनां प्रकृतयः स्थितास्ताश्च पञ्च तन्मात्राः। विषयदशकमिति। शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः पञ्च, वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्च पञ्चेति ते दश। विषय-शब्दस्य विषयग्राहकोपलक्षकत्वात् श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणवाक्पाणिपाद-पायूपस्थानां दशानामिन्द्रियाणां ग्रहणम्। मानसमिति मन इत्येकम्। माया च विद्या चेति द्वे। महेश इति महेश्वरः। शिव इति सदाशिवः। एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि। सर्वमप्येतदपरं तत्त्ववृन्दम्। इतः परं

तत्त्वातीतं वर्तते। तच्च मिलितवपुः शिवशक्तिसामरस्यरूपम्। सेयमिन्दोः परकला। इयमेव बैन्दवकलेत्यप्युच्यते।

केचित्तु षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहं वदन्ति। तत्र शिवादयः पञ्च (१-५) शिवः शक्तिः सदाशिवः ईश्वरः शुद्धविद्येति। मायादयः षट् (६-११) माया कला विद्या रागः कालः नियतिरिति। पुरुषादयः पञ्च (१२-१६) पुरुषः प्रकृतिः बुद्धिः अहंकारः मन इति। श्रोत्रादीनि वागादीनि चेन्द्रियाणि दश (१७-२६) शब्दादयो विषयास्तन्मात्रा वा पञ्च (२७-३१) आकाशादीनि भूतानि पञ्च (३२-३६) इति। अनुत्तरमूर्तिस्तु तत्त्वातीतेति। अत्र कानिचिद् व्याख्यायन्ते।

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥

अनुत्तरा न विद्यत उत्तरं श्रेष्ठतरं यस्याः सा तादृशी मूर्तिर्यस्य सः परमशिवः शिवशक्तिसमरसात्मकः किंचिद्वैषम्येण शक्तिमिच्छात्मिकां प्रादुर्भाव्य तया स्वाभिन्नेच्छया जगत् स्रष्टुं यत्पस्पन्दे आविर्भूतक्रियाशक्तिको बभूव स स्पन्द एव प्रथमं तत्त्वं शिवतत्त्वं भवति।

इच्छा सैव स्वच्छा सन्ततसमवायिनी सती शक्तिः।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य॥

सैवेच्छा शिवेन संततसमवायिनी सती शक्तितत्त्वं भवति। तत्कीदृशम्? निजनिलीनसकलचराचरजगद्बीजावस्थारूपम्। अत्रानन्दशक्तिप्राधान्यम्।

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवो भवति॥

स्वेच्छाशक्त्या उद्गीर्णमुच्छूनावस्थापन्नं जगद् गर्भिणीव जगदात्मतया समाच्छाद्य निवसन् स एव शिवो निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवो भवति।

विश्वं पश्चात् पश्यन्निदंतया निखिलमीश्वरो जातः।
सा भवति शुद्धविद्या चेदन्ताहन्तयोरभेदमतिः॥

प्रथमं गर्भिणीवात्मतया पश्यन्नपि पश्चाद् विश्वं निखिलमिदन्तया पश्यन्नीश्वरो जातः। इदन्ताहन्तयोर्वस्तुतोऽभेदमतिश्च विद्येत्युच्यते। सा च शुद्धा।

माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु ।
नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ॥

इदन्ताहन्तयोर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु च या भेदबुद्धिः सा मायेत्युच्यते । सा च तस्य शिवस्य निरङ्कुशं विभवं सामर्थ्यं रुन्धे । कथमिव ? वारिधेर्वेलेव वारिधिविभवम् ।

स तया परिमितमूर्तिः संकुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान् ।
रविरिव सन्ध्यारक्तः संहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः ॥

स शिवस्तया मायया परिमितमूर्तिरणुरूपतामापन्नो भवति । स हि संकुचितसमस्तशक्तित्वात् पुमान् पुरुषो जीवतत्त्वमित्युच्यते । मायाच्छन्नत्वात् स्वस्वरूपभासनेऽप्ययमपटुः । कथमिव ? रविरिव सन्ध्यासमाच्छादितः । अत्रैव प्रकृतिरपि द्रष्टव्या ।

संपूर्णकर्तृताद्याः बह्व्यः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
संकोचात् संकुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम् ॥

संपूर्णकर्तृत्वमित्येवमाद्या अस्य बह्व्यः शक्तयः सन्ति । मुख्यास्तु षट् । तत् संकोचनात् संकुचिताः कलादिरूपेणैवं रूढयन्ति । कला विद्या रागः कालो नियतिरिति पञ्च बन्धरूपाः ।

'कला विद्या रागकालनियतिर्बन्ध उच्यते'

इत्युक्तेः । षष्ठी मायैव । एते च षट् संकुचितसंपूर्णकर्तृत्वादिरूपाः । तदुक्तम्—

ज्ञत्वकर्तृत्वपूर्णत्वनित्यत्वान्यस्य शक्तयः ।
तत्संकोचात्संकुचितः कालाद्यात्मतया मतः ॥ इति ।
मायात्मकं कला नाम किंचित्कर्तृत्वकारणम् ।
विद्या किंचिज्ज्ञताहेतू रागोऽभिष्वङ्गकारणम् ॥
कालः परिच्छेदकरो नियतिश्चेदमेव मे ।
कर्तव्यं नान्यदित्येषा व्यवस्था यन्त्रणाकृतिः ॥ इति च ।

रागोऽभिष्वङ्गकारणमिति पूर्णतृप्तिसंकोचकरमिति भावः । यन्त्रणाकृतिर्नियन्त्रणरूपा । अन्ये प्रकृत्यादयः प्रसिद्धतरा इति न व्याख्यायन्ते ।

अपरे पुनरेकपञ्चाशत्तत्त्वानीति वदन्ति । तथा चोक्तम्—

पञ्चभूतानि तन्मात्रापञ्चकं चेन्द्रियाणि च ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥
त्वगादिधातवः सप्त पञ्च प्राणादि वायवः ।
मनश्चाहंकृतिः ख्यातिर्गुणाः प्रकृतिपूरुषौ ॥
रागो विद्या कला चैव नियतिः काल एव च ।
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ ॥
शक्तिश्च शिवतत्त्वं च तत्त्वानि क्रमशो विदुः ॥ इति ।

अत्र त्वगादिधातवः सप्त पञ्च वायवः त्रयो गुणा इति पञ्चदशाधिकाः । सर्वं चेदं संक्षेपविस्तारप्रभेदमात्रमिति न परस्परविरोधः ॥५॥

•

कुमारीयं मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिदपरा
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महानीलभुजगी ।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाशकमले
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्काररसिका ॥ ६ ॥

यही नीलसर्पाकारा कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में कुमारीरूप से रहती है और मन्द-मन्द आवाज करती है। मूलाधार को छोड़कर ऊपर उठने पर वह पश्यन्ती आदि स्वरूप स्त्री होकर विशेष बोलती है क्रमशः स्पष्ट शब्दोच्चारण करती है। वही दहराकाश में आकर शिव से मिलने पर पतिव्रता बन जाती है। फिर शिवजी के अंक में सुखपूर्वक बैठकर शंकर जी के प्रेमसीत्कार आवाज से रसानुभूति करती है ॥ ६ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

इयं महानीलभुजगी = कुण्डलिनी प्रथमं कुमारी सती मूलाधारे मन्द्रं ध्वनति = शब्दायते परावाग्रूपत्वात् । ततः कुलं = मूलाधारं त्यक्त्वा ऊर्ध्वं गच्छन्ती अपरा = पराभिन्ना पश्यन्त्यादिरूपा योषित् = कुमारीतोऽधिकवयस्केव स्त्री भूत्वा नाभिचक्रादौ रौति = किंचिदुच्चस्वरं करोति स्फुटति च = मध्यमावाग्रूपेण स्पष्टीभवति च। ततो दहराकाशकमले = हृदयदेशे वा सहस्रारे वा शिवेन मिलिता पातिव्रत्यं भजति = कुमारीभावं त्यक्त्वा पत्नीभावं शिवसंयोगलक्षणमापद्यते । सैव त्वं हे भगवति ! परमशिवपर्यङ्के सुखासीना योषा सती भवसीत्काररसिका = मुग्धस्य भवस्य = शिवस्य रमणकाले यः सीत्कारस्तत्र रसिका—अनुभूयमानपरमानन्दरसा भवसि ॥ ६ ॥

अमृतझरिका

उक्ताया एव कुण्डलिन्याः प्रक्रियाविशेषमाह—कुमारीति । इयं महानीलभुजगी कुण्डलिनीसमाख्याना प्रथमं कुमारी सती मन्द्रं ध्वनति । वाग्बीजरूपत्वात् । तथा चाभिहितं लघुस्तवे—

या मात्रा त्रपुसीलतातनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्धिनी
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता हृदि सदा तां मन्महे ते वयम् ।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननी व्यापारबद्धोद्यमा
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं सुराः ॥ इति ।

इयमेव च परा वागित्युच्यते। तस्या वाग्रूपिण्याः पराख्पत्वान्मन्द्रध्वननं युक्तमेव। मन्द्रध्वननं च पश्यन्तीमध्यमावैखरीणां कारणत्वेनानुमातुमपि शक्यम्। न हि कारणस्य ध्वननविरहे कार्यस्य वैखर्यादेः सध्वनित्वमुपपद्यते। तत एव च मातृकोत्पत्तिः। न च मातृकाणां पराभट्टारिकाया एव सहस्रारकमलस्थाया जन्म, न तु कुण्डलिन्या इति वाच्यम्। वस्तुतस्तयोरैक्यात्। अत एव विश्वजननीति विशेषणं लघुस्तवीयमुपपन्नम्। मातृकाणां वाग्रूपत्वाद् वाचां च मूलधारादुद्यत्याः पराशक्तेरेव निष्पत्त्यभ्युपगमाच्च। एवच्चोक्तं शारदायां—

भिद्यमानात् पराद् बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः॥
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥ इति।

एतदेव पूर्णानन्देनाप्यभिहितं।

कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलकाव्यबन्धरचनाभेदातिभेदक्रमैः॥ इत्यादिना।

कादिमते चाभिहितं—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥
स एव चोर्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठानविजृम्भितः।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनैः शनैः॥
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः।
तथा तयोरूर्ध्वगतो विशुद्धौ कण्ठदेशतः॥
वैखर्याख्यस्तथा कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात्॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठस्थः कण्ठोष्ठद्वयतस्तथा।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि॥ इति।

ततस्तदनन्तरं कुलं मूलाधारं त्यक्त्वा पश्यन्त्यादिभावमापत्स्यमाना पराभावमपि त्यक्त्वा अपरा अपरारूपिणी सती कुमारीभावमप्युज्झित्वा योषिद् योषिद्रूपिणी च सती पश्यन्तीभावमापद्य रौति स्फुटति च। अपरात्वादेव स्फुटनम्। यद्यपि पश्यन्तीभावमापन्नाया अपि रवो न

श्रुतिगोचरो भवति। तथापि योगिप्रत्यक्षविषयत्वाद् रौति स्फुटति चेत्युक्तम्। रवणममन्द्रस्वरः। स्फुटनं च ककाराद्यक्षरभावेन व्यक्तीभावः। ततस्तदनन्तरं कुमारीभावाद् योषिद्भावाच्च परं परिस्फुरितयौवना मध्यमाःभावमापन्ना दहराकाशकमले हृदयकमले पातिव्रत्यं भजति। सपतिका सती पतिरमणकारिणी भवति। अनाहते हि शिवो रुद्ररूपेणावस्थितः। तत्समवेता च सा पराशक्तिः स्पष्टशब्दा भवति। मानसजपादौ वर्णानां सर्वानुभवविषयत्वात्। 'वेदः शिवः शिवो वेदः' इत्यादिश्रुतेः शिवस्य वेदात्मकत्वाद् वेदानां च मानसात्मकतयास्तैत्तिरीयभाष्ये पञ्चकोशप्रकरणे भगवत्पादैर्वर्णितत्वाद् वेदात्मकशिवतादात्म्यापत्तिरेवात्र पातिव्रत्यमिति द्रष्टव्यम्। तथा च श्रुतिः—

यत्कुमारी मन्द्रयते तद् योषिद् यत्पतिव्रता।
अरिष्टं यत्किं च क्रियते अग्निस्तदनुवेधति ॥ इति।

सुप्तोत्थिता सती कुमारी यत् मन्द्रयते सुप्तोत्थितसर्पवदेव, यच्च योषिद् भूत्वा रौतीति शेषः। नाभाविति भावः।

कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा रौति विष्णोः प्रभेदने

इति सनत्कुमारवचनात्। यच्च पतिव्रता सहस्रारे पातिव्रत्यं भजति। अरिष्टं रिष्टं रेषमशुभमरिष्टं शुभं यत्किञ्च यत्किञ्चित् क्रियते मन्द्ररवणादिरूपम्। क्रियते करोति तद् अग्निरनुवेधति दहनमपि संज्वाल्य शिखयेत्युक्तत्वाद् कुण्डलिनीप्रबोधस्य स्वाधिष्ठानाग्निप्रदीपनप्रयोज्यत्वादग्निरनुवेधति सहायकत्वेन प्रयोजयतीत्यर्थः।

यैषा कुलकुण्डलिनी प्रतिपादिता सा योषा सुखासीना भवसीत्काररसिका त्वमेव भवसि। सुखासीना सहस्रारकमले परभट्टारकाङ्के सुखमासीना तस्यैव भवस्य सहस्रारकमलस्थस्य समालिङ्गनाद्यानन्दजनितो यः सीत्कारस्तत्र रसिका भवसि। एतच्चोक्तं स्वतन्त्रतन्त्रे—

षट्चक्रस्थान् शिवान् भित्वा देवी गच्छति निष्कलम्।
चक्राधिष्ठानतो रूपं धृत्वा तत्तन्मनोहरम् ॥
मोहयित्वा महेशानमानन्दाप्लुतविग्रहम्।
रमित्वा तत्र तत्रैव यावत्प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ इति।

शिवभेदनं नाम शिवमोहनमेव। तदप्युक्तं तत्रैव—

मोहितः परया यस्मात्तस्माद्भिन्न उदाहृतः। इति।

न चैवं कुमारीति प्रथमविशेषणमिहोक्तमनुपपन्नं स्यादिति वाच्यम्। मोहनस्य कुमारीभावेऽपि सम्भवात्। अत एव मायातन्त्रे लिङ्गत्रयभेदनमेवाभिहितं—

भित्वा लिङ्गत्रयं देवी शक्तिमार्गेण गच्छति।
तत्तद्रूपेण चक्रेषु निष्कलं प्राप्य निर्वृता॥ इति।

तत्तद्रूपेणेत्यस्य वैखरीमध्यमापश्यन्तीभावेनेत्यर्थः। तदप्युक्तम्—

प्रथमे वैखरीभावो मध्यमा हृदये स्थिता।
भ्रूमध्ये पश्यन्तीभावः पराभावस्तु बिन्दुनि॥ इति।

अयं भावः—कुण्डलिनी तावत्प्रथमं पराशक्तिरूपेण मूलाधारे तिष्ठति। नाभौ पश्यन्तीभावमापद्यते। हृदये मध्यमाभावम्। कण्ठे वैखरीभावमापद्य वर्णात्मनाभिव्यज्यते। तत्रैव कण्ठोपरि पुनः पश्यन्तीभावमाप्नोति। भ्रूमध्ये मध्यमाभावम्। सहस्रारे परभावमिति। मध्यमा हृदये इति हृदयसमीपकण्ठस्थान इत्यर्थः। बहिः कण्ठे ताल्वादिस्थाने वैखरीभावः अन्तःकण्ठे विशुद्धिचक्रे पुनर्व्युत्क्रमेण मध्यमाभाव इति यावत्। भवरमणं च परमं सहस्रारे एव। तदुक्तं गन्धर्वमालिकायाम्—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयंभूलिङ्गवेष्टिनीम्।
हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत्॥
सदाशिवो महादेवो यत्रास्ते परमेश्वरि।
देवीं रूपवतीं कामसमुल्लासविहारिणीम्॥
मुखारविन्दगन्धेन मोदितं परमं शिवम्।
प्रबोध्य परमेशानि तत्रैवोपविशेत् प्रिये॥
शिवस्य मुखपद्मं हि चुचुम्बे कुण्डली शिवे।
सदाशिवेन देवेशि क्षणमात्रं रमेत् प्रिये॥
अमृतं जायते देवि तत्क्षणात् परमेश्वरि।
तदुद्भवामृतं देवि लाक्षारससमायुतम्॥
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम्।
षट्चक्रदेवतास्तत्र संतर्प्यामृतधारया॥
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः।
यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम्॥
एवमभ्यस्यमानस्तु अहन्यहनि पार्वति।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनात्॥ इति।

अत्र यातायातक्रमेणैवेत्याद्युक्तेरस्य प्रयोजनमभिहितम्। तथा च कुमारीयं मन्द्रं ध्वनतीत्यादिकथनस्य स्थितवस्तुवर्णनमात्रात्मत्वाद्वन्दनोपासनविध्यविषयत्वाद् वैयर्थ्यमित्याशङ्काया नावसरः।

व्याख्यान्तरम्। सुखसीनेति हृदयस्थाने एव मन्तव्यम्। तथा हि श्रीचक्रस्य वियच्चक्रमित्यपि नामान्तरम्। वियच्चक्रत्वं वियति पूज्यमानत्वात्। तच्च द्विविधम्, बाह्याकाशे दहराकाशे चेति। बाह्याकाशे बाह्याकाशीयपीठादौ। भूर्जादौ लिखित्वा पूजनम्। एषा कौलानां पूजा। द्वितीयं तु दहराकाशे पूजनम्। तथा च श्रीचक्रस्थिताया देव्या दहराकाशरूपहृदयस्थत्वं युक्तमेव।

अन्या व्याख्या—अत्र कुण्डलिन्याः शब्दशक्तिरूपेण वर्ण्यमानत्वाद् यः श्रीविद्यामन्त्रः पराभावेन मूलाधारस्थिता मन्द्रं ध्वनति सैव योषा सती मणिपूरे नाभिकमले रौति स्फुटति च सैव हृदयमागता स्पष्टमन्त्रभावं प्रतिपद्यते। मानसजपश्चानुपदमुक्तः मन्त्रात्मानो देवता इति सिद्धान्ताद्देवतानां मन्त्रस्वरूपत्वमप्यस्त्येवेति हृदयाकाशे तदासीनत्वं सुगममेव। हृदयाकाशजीवस्यैव भवरूपत्वमपि मन्त्रध्वनिप्राकट्यात्मकमुपपद्यते।

अत्रेदं विचार्यते। महानीलभुजगीत्यनेन कुण्डलिन्याः नीलवर्णत्वमुच्यते। तत् कथमुपपद्यते? त्रपुसीलतातनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्धिनीत्यत्र शुक्लवर्णत्वप्रतीतेः। गोरक्षोऽप्याह स्वसंहितायां—

प्रज्वलद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
सर्वेषां जननी प्रोक्ता कोटिसूर्यसमप्रभा॥ इति।

प्रायः सर्वत्र तन्त्रे विद्युल्लताकारवर्णनाच्चेति चेद्? अत्रोच्यते।

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयंभुलिङ्गवेष्टिनीम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्॥
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।

इति वचने श्यामामिति विशेषणदर्शनाच्छ्यामवर्णत्वं कुण्डलिन्याः। न च—

ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीमिष्टदेवस्वरूपिणीम्।
सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम्॥
नवयौवनसम्पन्नां सर्वाभरणभूषिताम्।
पूर्णचन्द्रप्रभां रक्तां सदा चञ्चललोचनाम्॥

इति वचनान्तरे रक्तामिति विशेषणात् रक्तवर्णत्वमिति वाच्यम्। रक्तामिति सुन्दरीविषये ज्ञेयमिति शाक्तानन्दतरङ्गिणीकारैस्तद्व्याख्यानात्। न च तडिद्वर्णत्वप्रतिपादकवचनविरोधः। तडितोऽपि श्यामवर्णत्वोपगमात्। न हि नैयायिकवद् भास्वरशुक्लत्वमेव तडिदादेरस्माभिरुपगम्यते। त्वाष्ट्राणि हि सर्वाणि रूपाणीति वदद्भिर्भाष्यकारैर्भगवत्पादैः प्रकाशस्य सर्वरूपत्वाभ्युपगमाच्छ्यामत्वस्याप्युपपत्तेः। मूलाधारस्य पृथिवीतत्त्वप्रधानत्वाद् "यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्येति श्रुतेर्नीलवर्णत्वोपपत्तेश्च। बिसतन्तुनिभा इत्यादिविशेषणमपि सूक्ष्मत्वप्रकाशमानत्वादिबोधकमेव। महाकालभुजगीति पाठान्तरम्। तत्र पक्षे महाकालस्य कालकालस्य परमशिवस्य शक्तिभूता भुजगी भुजगाकारस्थिता कुण्डलिनीत्यपि व्याख्या सम्भवति। तदा तु न वर्णविशेषाभिनिवेशः स्यात्॥ ६॥



त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति।
सुधासिन्धौ तस्मिन् सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो-
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे ॥७॥

कौलमतानुयायी त्रिकोण को आपका वासस्थान मानते हैं। दूसरे लोग चतुष्कोण को आपका वासस्थान कहते हैं। ये समयमतानुसारी तो बैन्दव स्थान को आपका वासस्थान स्वीकार करते हैं। समयशिवसंयुक्त हे भगवती! आप उस स्थान में जो सुधासिन्धु है उस सुधा सिन्धु में स्थित चिन्तामणि गृह में, जहाँ कि सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों की पहुँच नहीं है, विहार करती हैं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

कौलाः=वाममार्गीयाः **ते** = तव **कुलगृहं** = वासस्थानं **त्रिकोणं** = श्रीचक्रगतं मूलाधारगतं च योनिस्थानं त्रिकोणात्मक**मिति प्राहुः**। **अपरे** = अर्थान्मिश्रमतानुयायिनः **चतुष्कोणं** = श्रीचक्रे त्रिकोणादधः स्थितं सहस्राररूपबिन्दोरधःस्थितचतुश्चक्रात्मकमाज्ञाचक्रं ललाटगतं च तव वासस्थानमिति प्राहुः। **इमे** = अस्मादृशाः **समयिनः** = समयमतानुयायिनः तव वासस्थानं **बैन्दवं** श्रीचक्रे बिन्दुरूपमेव बैन्दवं सहस्रारे चन्द्रबिम्बं च प्राहुः। तत्र त्रिकोणे चतुष्कोणे बैन्दवे वा **तस्मिन्** वर्त्तमानो यः सुधासिन्धुस्तस्मिन् **सुधासिन्धौ सूर्यशशिनोः** = सूर्यचन्द्रयोः **रश्मीनां** = किरणानाम् **अगम्ये** = अगोचरे **सुरमणिगृहे** = चिन्तामणिगृहे हे **समयसहिते** = समयाख्यशिवसहिते हे भगवति **त्वं विहरसे** = क्रीडसि = परमानन्दमनुभवसि ॥ ७ ॥

अमृतझरिका

सुखासीना योषा भवसि भवसीत्कारसिक्तेत्युक्तम्। कुत्र स्थाने इति जिज्ञासायां मतभेदेन तत्स्थानभेदं निरूपयति–**त्रिकोणमिति**। कौलाः कौलमतानुयायिनस्ते तव कुलगृहं वासगृहं त्रिकोणं श्रीचक्रमध्यगतत्रिकोणमिति प्राहुः। अपरे मिश्रमतानुयायिनश्चतुष्कोणं तव कुलगृहं प्राहुः। सृष्टिचक्रे

त्रिकोणधःस्थितं चतुष्कोणं भवति। कौलास्त्रिकोणे बिन्दुं कल्पयन्ति। अन्ये चतुष्कोणे। इमे अस्मद्विधाः समयिनः बैन्दवं कुलगृहमिति प्राहुः।

'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च।
भवने च तनौ क्लीबम्' ॥ इति भेदिनी ॥

अत्र भवनार्थकम्। यद्यपि गृहपदानर्थक्यं तदा स्यात्। तथापि भवत्यस्मिन्निति विग्रहाद् नित्यास्तित्वाधिकरणत्वविशिष्टगृहार्थलाभात्तत्र गृहपदस्य पृथक् प्रयोगेण विशेषणमात्रार्थपर्यवसानमिति नानुपपत्तिः। कुं पृथिवीतत्त्वं लातीति कुलं मूलाधारस्थानमिति व्याख्या यद्यपि कौलपक्षे घटते। तथापि नान्ययोरिति सा परित्यक्ता।

तस्मिन् त्रिकोणे चतुष्कोणे बैन्दवे वा यः सुधासिन्धुरमृतसागरस्तत्रैकं सुरमणिगृहं चिन्तामणिनिर्मितभवनं तस्मिन्, कीदृशे? सूर्यशशिनो रश्मीनामगम्ये

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः'।

इति श्रुतिविषये। यद्वा सूर्यशशिनोरिति वह्निसूर्यशशिनामुपलक्षणम्। तत्र वह्निमण्डलेन मूलाधारस्वाधिष्ठाने प्रकाश्येते। सूर्यरश्मिभिर्मणिपूरानाहते। शशिरश्मिभिश्च विशुद्ध्याज्ञे। सहस्रारं तु त्रयाणामविषय इति तद्रश्मीनामगम्यत्वमुक्तम्। न च कौलमते मूलाधारस्थत्रिकोणगतत्वाद् वह्निप्रकाशप्रकाश्यत्वमस्तीति वाच्यम्। मुख्यसमयिमतानुसारेणैतद्विशेषणोपपत्तेः। अथवा सूर्यशशिनोरिति द्वयोरेव विवक्षा। तथा च मूलाधारगतत्रिकोणस्य वह्निप्रकाश्यत्वेऽपि सूर्यशशिरश्मिप्रकाश्यत्वाभावसत्त्वादुपपत्तिः। न चेडापिङ्गलाभ्यां चरतोः सूर्यशशिनोरमायां मूलाधारप्राप्तेरस्ति तदुभयरश्मिप्रकाश्यत्वमिति वाच्यम्। अमारात्रावन्धकारदर्शनात्तद्रश्मिप्रकाश्यत्वे प्रमाणविरहाच्च।

पुनः कीदृशे सुरमणिगृहे? तत्राह—**समयसहिते** इति। समयाख्यशिवसहिते। तत्र **पल्यङ्करूपेण** समयस्य स्थितत्वात्। समयेन शिवेन सहिता समयसहिता तत्सम्बुद्धौ हे समयसहिते इति वा। त्वं विहरसि क्रीडसि। तथा चोक्तं सौन्दर्यलहर्याम्—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।

शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ।। इति ।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ।। इति च ।

कौलादिमतत्रितयसाधारणतया व्याख्यानमिदं प्रायः ।

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः ।

इत्यादि प्रथमश्लोकव्याख्याप्रदर्शितवामकेश्वरमहातन्त्रानुसारेण तु तस्मिन् सुधासिन्धाविति समानाधिकरण्ये सप्तम्यौ । अथ मतभेदेनैतत्सर्वं पुनश्चिन्त्यते ।

देवीमन्दिरं त्रयश्चत्वारिंशत्कोणात्मकं श्रीचक्रमित्येके प्रमिण्वते । तत्र बिन्दुस्थानस्य मुख्यत्वादितरेषां तदवयवत्वाद् बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुरिति वामकेश्वरवचनोपपत्तिः ।

अपरे पुनरेवं वदन्ति—

सृष्टिचक्रं सुधासिन्धुः सौभाग्यं सुरवाटिका ।
दशारयुगलं रत्नद्वीपं नीपवनं तथा ।।
चिन्तामणिगृहं रम्यमष्टारं परमेश्वरि ।
त्रिकोणं मञ्चरूपं तु बिन्दुचक्रं सदाशिवः ।।

इति वचनोक्तक्रमेण सुधासिन्धुप्रभृतिकं व्याख्येयम् । सृष्टिचक्रं शिवचक्रचतुष्टयं सुधासिन्धुः । सौभाग्यं चतुर्दशारं सुरवाटिका । बहिर्दशारं रत्नद्वीपम् । अन्तर्दशारं नीपवनम् वक्ष्यमाणक्रमव्यत्ययो वा । अष्टारं चिन्तामणिगृहम् । त्रिकोणं मञ्चः । बिन्दुः सदाशिवः । तत्पर्यङ्के पराभट्टारिकेति ।

अन्ये तु—श्रीचक्राङ्कितबिन्दुमध्यनिलयामित्याचार्योक्तेः श्रीचक्राङ्कितबिन्दुमध्ये निलय आलयो मणिगृहं यस्यास्तामिति तद्विग्रहाद् बिन्दुमध्ये एव सुधासिन्ध्वादिकं सकलम् । न च बिन्दोरतिसूक्ष्मत्वान्निरवयत्वाच्च तत्र सुधासिन्ध्वादेरसंभव इति वाच्यम् । तथा सति बिन्दुचक्रस्य सदाशिवत्वं सदाशिवमञ्चोपरि देवीस्थित्यादिकमपि कथमुपपद्यतां नाम ? निरवयवेऽपि ब्रह्मणि कल्पनया जगदुत्पत्त्यादिवत्तत्संभवे निरवयवे बिन्दौ भावनया सुधासिन्ध्वादीनामप्यन्तर्भावे का क्षतिः । वस्तुतः सदाशिवस्य व्यापकत्वात्तदभिन्नबिन्दुमतेऽपि व्यापकत्वमेव बिन्दोः पर्यवस्यति न त्वणुत्वम् ।

इदमपीहावधेयम्। बिन्दुरेव सहस्रारकमलमित्यग्रे प्रतिपादयिष्यते। तत्र यच्चन्द्रबिम्बं तदपि श्रीचक्रमेव। तच्च वक्ष्यति—

सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद् बैन्दवमिति।

तथा च श्रीचक्रबिन्दुभूतसहस्रारेऽपरं शशिबिम्बरूपं श्रीचक्रमिति श्रीचक्रे श्रीचक्रान्तरमिति महद् रहस्यम्। प्रथमं स्थूलं द्वितीयं सूक्ष्मम्। एवं सति द्वितीयश्रीचक्रस्य बिन्दुगतस्य देवीसदनत्वात् **"सृष्टिचक्रं सुधासिन्धुः सौभाग्यं सुरवाटिका"** इत्याद्यनुप्रदर्शिता सर्वापि प्रक्रिया बिन्दौ देवीसदनमिति पक्षेऽपि सुघटैव। श्रीचक्राङ्कितबिन्दुमध्यनिलयामित्याचार्यवचनस्याप्युपपत्तिरेकवाक्यतया संपद्यते। अथैतदनुरोधेन वामकेश्वरतन्त्रवचनमपि व्याख्यायते। व्याख्यानसौकर्याय पुनस्ते श्लोका लिख्यन्ते—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्॥
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे॥
अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भूतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः॥
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।

बिन्दुस्थानमिति। इदमावर्तनीयम्। बिन्दुरेव सहस्रकमलात्मकं स्थानं यस्य तत् श्री चक्रं द्वितीयं चन्द्रबिम्बम्। तत्र बिन्दुस्थानं शिवचक्रचतुष्टयमिति यावत् स सुधासिन्धुः। शिवचक्रचतुष्टयस्य बिन्दावन्तर्भावं वक्ष्यतीति बिन्दुस्थानत्वं तस्य। शक्तिचक्रपञ्चकाच्छिन्नस्य कथं बहिष्ट्वमिति तस्य बिन्दावाकर्षणं तत्रान्तर्भावं वेति त्वग्रे विवेचनीयम्। पञ्चयोन्यो देवीचक्रपञ्चकं सुरद्रुमाः। तत्र चतुर्दशारस्यैव सुरद्रुमत्वेऽपि अन्येषां चतुर्णां तन्मध्यपातित्वात् पञ्चयोन्य इति सामान्यकथनम्। दण्डकारण्ये पर्णकुटीसत्त्वेऽपि सामान्येन कृत्स्नस्य दण्डकारण्योक्तिवत्। अत एव बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुरिति सामान्योक्तिरपि संगच्छते। हिन्दुसमुद्रे लक्षद्वीपादिसत्त्वेऽपि सामान्येन कृत्स्नस्य हिन्दुसमुद्रत्ववत् सुधासिन्धौ सुरद्रुमादिसत्त्वेऽपि सामान्यतः कृत्स्नस्य सुधासिन्धुत्वोक्तिसंभवात्। तथा च बिन्दुस्थानं द्वितीयचन्द्रबिम्बं सुधासिन्धुरिति सामान्योक्तिः। चन्द्रस्य सुधानिधित्व-

प्रसिद्धेश्च। तत्र विशेषोक्तिः **पञ्चयोन्यः सुरद्रुमा** इति। तत्रापि विशेषोक्तिः—**तत्रैव नीपश्रेणी चेति**। बहिर्दशारं नीपश्रेणीत्यर्थः। तन्मध्येऽन्तर्दशारं रत्नद्वीपो द्रष्टव्यः। तत्राष्टारं मणिमण्डपम्। एतदनुरोधेनैव **"दशारयुगलं रत्नद्वीपं नीपवनं तथा"** इति पूर्वोपदर्शितवचनेऽपि क्रमव्यत्ययः कार्यः। तत्र मध्ये त्रिकोणं चिन्तामणिकृतं देव्या उत्तमं मन्दिरम्। तस्मिम् त्रिकोणे चिन्तामणिगृहे शिवात्मको महामञ्चः। कीदृशः सः ? महेशानोपबर्हणः। महेशान एवोपबर्हणं यस्य सः, तस्मिन्। तत्र महामञ्चे कशिपुः सदाशिवः। भृतका भर्तारो वोढार इति यावत् ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वराश्चतुष्पादाः। महेन्द्रः पतद्ग्रहः पततस्ताम्बूलरसादेः प्रतिग्राहः "पीकदान" इति लोके प्रसिद्धः। न चास्य बीभत्सत्वम्। भगवतीताम्बूलरसस्य वाग्देवीप्रसादरूपत्वात्। तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी। अत्र विस्तरो महायोगपद्धतौ मन्त्राम्नाये **"अमृताम्भोनिधये नमः", रत्नद्वीपाय नमः"** इत्यादिना प्रकटीकृतः। ते मन्त्राश्च पूजायामिहापि सूच्यन्ते। न चात्र समयिमतानुसारेण बाह्यपूजा नास्तीति वाच्यम्। बाह्यपूजाया अपि अविरोधस्याग्रे साधयिष्यमाणत्वात्। आन्तरपूजायामेतेषां मन्त्रणामुपयोगसंभवाच्च ॥ ७ ॥



त्रिखण्डं ते चक्रं शुचिरविशशाङ्कात्मकतया
मयूखैः षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्डकलितैः ।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृतं
भवेन्मूलाधारप्रभृति तव षट्चक्रसदनम् ॥८॥

हे भगवती ! आपका श्रीचक्र अग्नि, सूर्य एवं चन्द्ररूप होने से त्रिखण्ड है। वह आपकी तीन सौ साठ किरणों से, जो कि तीन खण्डों में विभक्त एवं पृथिवी जल तेज वायु आकाश और मनरूपी छः तत्त्वों में पृथक्-पृथक् उदय हुई हैं, परिवृत है—घेरा हुआ है। वह श्रीचक्र मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि एवं आज्ञारूपी आप के षट्चक्र से अभिन्न है। क्योंकि षट्चक्र भी अग्नि-सूर्य-चन्द्ररूप से त्रिखण्ड है तथा मूलाधारादि में जो पृथिवी आदि छः तत्त्व हैं उनमें उद्भूत तीन सौ साठ किरणों से परिवृत भी है ॥ ८ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे भगवति ! **शुचिरविशशाङ्कात्मकतया** = वह्निसूर्यचन्द्रात्मकतया **त्रिखण्डं** = वह्निखण्डं सूर्यखण्डं चन्द्रखण्डमित्येवं खण्डत्रयविशिष्टं ते = तव **चक्रं** श्रीचक्रं **षट्चक्रसदनं भवेदित्यन्वयः । षट्चक्रसदनं** = षट्चक्र-सदनाऽभिन्नम् । कीदृशं षट्चक्रसदनम् ? **षट्त्रिंशद्दशयुततया मयूखैः परिवृतम् ।** षट्त्रिंशद्गुणिता दश षष्ट्युत्तरत्रिशतमिति यावत् । तत्तयो-पलक्षितैर्मयूखैरित्यर्थः । कथं भूतैः ? **खण्डकलितैः**—मूलाधारस्वाधिष्ठाने अग्निखण्डं, मणिपूरानाहते सूर्यखण्डं, विशुद्धयाज्ञे चन्द्रखण्डं तेषु खण्डेषु कलितैः स्थितैः । तैस्त्रिभिः खण्डैः स्वस्वोपरि कलिताः स्वीकृतास्तैरिति वा । पुनः कीदृशैः ? **पृथिव्यादौ** = पृथिवी-जल-तेजो-वायु-गगन-मनोलक्षणे **तत्त्वे**=तत्त्वषट्के मूलाधारादिषु क्रमेण वर्त्तमाने पृथक् **पृथग् उदितवद्भिः** "क्षितौ षट्पञ्चाशत्" इत्याद्युक्तरूपेण नियततयोद्भूतवद्भिः । किं तत् षट्चक्रसदनमित्याह—**मूलधारप्रभृतीति ।** श्रीचक्रं यथोक्तमयूखपरिवृत-षट्चक्राभिन्नं भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ८ ॥

अमृतझरिका

त्रिकोणं ते कौला इत्यादिना स्मारितयोः श्रीचक्रषट्चक्रयोः सूर्यचन्द्रकिरणाऽविषयभूतं देवीवासस्थानं स्फुटयितुं यत्र तद्विषयता तां स्फोरयन्नुत्तरत्रवक्तव्यकालाविषयत्वविशदीकरणाय तदीयकिरणपरिवारणादिकं च कथयन्नेव वक्ष्यमाणषडैक्यसपर्यार्थं श्रीचक्रषट्चक्रयोरैक्यमप्युपदिशति—**त्रिखण्डमिति**। हे भगवति ते तव चक्रं श्रीचक्रं मूलाधारप्रभृति तव षट्चक्रसदनं भवेत्, तदभिन्नं भवेदित्यन्वयः। त्रिखण्डमित्यादिकं श्रीचक्रे षट्चक्रे च समानविशेषणम्। शुचिरविशशाङ्कात्मकतया त्रिखण्डं शुचिरविशशाङ्कात्मकतयैव हेतुना खण्डकलितैः खण्डशः कलितैः प्रसरद्भिर्मयूखैः षट्त्रिंशद्दशयुतत्वेनोपलक्षितैः परिवृतमिति योजना। शुचिर्वह्निः, रविः सूर्यः, शशाङ्कश्चन्द्रमाः त एवात्मानो यस्य तत्तथा तत्ता तया। तत्र श्रीचक्रे त्रिकोणवसुकोणौ वह्निस्वरूपौ। दशारयुग्मं सूर्यस्वरूपं चतुर्दशारमष्टदलादि चतुष्टयं च चन्द्रस्वरूपम्। षट्चक्रेऽप्येतत्समानम्। मूलाधारस्वाधिष्ठाने वह्निरूपे। मणिपूरानाहते सूर्यरूपे। विशुद्ध्याज्ञे च सोमरूपे इति। यद्यपि मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरुपरि वह्निमण्डलं न तु ते एव तद्रूपे, एवं मणिपूरानाहतयोरुपरि सूर्यमण्डलं, विशुद्ध्याज्ञयोरुपरि चन्द्रमण्डलं, सर्वं चैतदग्रे स्पष्टीभविष्यति। तथा च कथमत्र तदात्मकत्वमिति शङ्का स्यात्। तथापि तदीयकिरणव्याप्तत्वेन तन्मयत्वात्तदात्मकत्वोक्तिसंगतिः।

ननु रुद्रयामले तावदेवं पठ्यते—

> **त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्।**
> **त्रिकोणं बैन्दवं सौम्यमष्टकोणं च मिश्रकम्॥**
> **चक्रं चन्द्रमयं चैव दशारद्वितयं तथा।**
> **चतुर्दशारं वह्नेस्तु चतुश्चक्रं च भानुमत्॥** इति।

अत्र च दशारद्वितयपर्यन्तानि चन्द्रमयानि चतुर्दशारं वह्निमयं, नागदलादिचक्रचतुष्टयं सूर्यमयमिति प्रतीयते। सत्यम्। चक्राणामपि परस्परैक्यस्य वक्ष्यमाणतया तदनुरोधेन भावनाविशेषार्थत्वादेतदुक्तेः। त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकमित्येतावन्मात्रस्य व्युत्क्रमेण प्रथमं विवक्षितमित्युपपत्तेः।

शुचिरविशशाङ्कात्मकतया खण्डकलितैरिति। यद्यपि मयूखा न वस्तुतः खण्डकलिताः किन्तु शुचिप्रभृतिकमुपाधित्रयं प्राप्य खण्डकलिता भवन्तीत्यर्थः। अयं भावः—

सदाशिवेन संपृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी ।
ज्योतीरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवाः शिवे ॥
किरणाश्च सहस्रं च द्विसहस्रं च लक्षकम् ।
कोटिरर्बुदमेतेषां परा संख्या न विद्यते ।

इति भैरवयामलवचनाद् देव्याः किरणा अनन्ता अखण्डाश्च । त एव किरणाः वह्न्यादिकमुपाधिं प्राप्य वह्निकिरणादिरूपेण खण्डशः प्रकाशन्ते । तथा चोक्तं गीतायाम्—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ इति ।

किं देव्याः सर्वे मयूखाः सूर्यादिकं प्राप्य खण्डकलिताः ? नेत्याह—षट्त्रिंशद्दशयुततयेति । षट्त्रिंशद्गुणिता दश षट्त्रिंशद्दश षष्ट्युत्तरत्रिशतमित्यर्थः । तावत्संख्यायुक्तत्वेनोपलक्षितैरित्यर्थः । एतदप्युक्तं भैरवयामले—

तेषामनन्तकोटीनां मयूखानां महेश्वरि ।
मध्ये षष्ट्युत्तरं तेऽमी त्रिशतं किरणाः शिवे ।
ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते सोमसूर्यानलात्मना ॥ इति ।

एतद्वचनानुसारेण सोमसूर्यानिलात्मनेत्यतदनुसारेण शुचिरविशशाङ्कात्मकतया स्थितैर्मयूखैरित्यपि योजना सुगमा ।

ब्रह्माण्डं व्यश्नुवाना इति भैरवयामलीयवचनप्रोक्तमेव विशदयन्नाह—पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिरिति । पृथिव्यादौ—पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशमनस्सु षट्सु मूलाधारादिस्थानेषु तत्त्वेषु पृथक् पृथगुदितवद्भिरुद्भूतवद्भिरित्यर्थः । तानि व्याप्नुवद्भिरिति यावत् । एतत्षण्मयत्वाद ब्रह्माण्डस्य यथोक्तकिरणव्याप्तत्वं युक्तमिति भावः । तत्र कति कति किरणाः कुत्र कुत्रोद्भूता इत्येतत् सौन्दर्यलहर्यामभिहितम्—

क्षितौ षट्पञ्चाशद् द्विसमधिकपञ्चाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपञ्चाशदनिले ।
दिवि द्विःषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरिति ये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम् ॥ इति ।

एतेषां मयूखानां नामानि स्वरुणादीनि प्रसिद्धानि तेषां देवाश्चैतत्सौन्दर्यलहरीश्लोकव्याख्यानावसरे प्रदर्शितानि द्रष्टव्यानि । एते च

पृथिव्यादिषु षट्सु स्थिता अपि त्रिखण्डा एव। मूलाधारादिप्रतिद्वैतचक्रोपरिस्थ-वह्नि-सूर्य-सोममण्डलसमागतत्रैखण्ड्यप्राप्तभगवतीचरणकिरणा एव द्वे द्वे तत्त्वे क्रमेण व्याप्नुवन्तीति द्रष्टव्यम्। श्रीचक्रे तु तत्तच्चक्रद्वैतमेव वह्न्याद्यात्मकम्। तत्र पृथग् वह्निमण्डलादिस्थानादर्शनात्। यदि च कस्मिंश्चित्संप्रदाये तदस्ति तदा तु न शङ्कालेशोऽप्युदेति। न च तादृशसंप्रदायानुपलम्भे श्रीचक्रस्य यथोक्तमयूखपरिवृतत्वं न सिध्येदिति वाच्यम्। श्रीचक्रषट्चक्रयोरैक्येन तत्सिद्धेः। अपि च श्रीचक्रं ब्रह्माण्डरूपमेव। ब्रह्माण्डस्य च मयूखपरिवृतत्वं भैरवयामले प्रोक्तम्—

ब्रह्माण्डं भासयन्तस्ते पिण्डाण्डमपि शङ्करि।
दिवा सूर्यस्तथा रात्रौ सोमो बह्निश्च सन्ध्ययोः॥ इति।

प्रत्यक्षसूर्यादिषु भगवतीचरणमयूखस्य साधितत्वाद् ब्रह्माण्डस्य तद्व्याप्तत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेव। तदेतदाह--यथोक्तैर्मयूखैः परिवृतं व्याप्तं ते तव चक्रं श्रीचक्रं मूलाधारप्रभृति तव षट्चक्रसदनं भवेत् इति।

अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोमात्मकं जगत्॥

इत्यादिकं च विशेषेण वक्ष्यामः। यथोक्तमयूखपरिवृतं षट्चक्रसदनं श्रीचक्रं भवेदित्येवमन्वयोऽपि शक्यवचनः॥ ८॥



शतं चाष्टौ बह्नेः शतमपि कलाः षोडश रवेः
शतं षट् च त्रिंशत् सितमयमयूखाश्चरणजाः ।
य एते षष्टिश्च त्रिशतमभवंस्त्वच्चरणगा
महाकालस्तस्मान्न हि तव शिवे कालकलना ॥९॥

वह्नि की देवीचरणजन्य एक सौ आठ किरणें होती हैं। सूर्य की एक सौ सोलह और चन्द्रमा की एक सौ छत्तीस। इस प्रकार आप के चरण-जन्य जो तीन सौ साठ किरणें हैं वे ही महाकाल बनीं। अत एव आप काल से परिच्छिन्न नहीं हैं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

वह्नेः शतं चाष्टौ = अष्टोत्तरशतं **चरणजाः** = त्वदीयचरणजाः (देवीचरणजाः) **कलाः** = किरणा भवन्ति। **रवेः** = सूर्यस्य **शतं षोडशापि** = षोडशोत्तरशतं कलास्त्वदीयचरणजा भवन्ति। **शतं षट् च त्रिंशत्** = षट्त्रिंशदधिकशतं **सितमयमयूखाः** = चन्द्रकिरणाः त्वदीयचरणजा भवन्ति। **ये पूर्वोक्ता षष्टिश्च त्रिशतं** = षष्ट्युत्तरत्रिशतं **त्वच्चरणजाः** = तव देव्याश्चरणनिष्पन्नाः किरणाः **एते** महाकालोऽ**भवन्**। **तस्मात्** = महाकालस्य त्वदीयचरणजन्यकिरणरूपत्वात् हे **शिवे तव**—भगवत्याः **कालकलना** = कालपरिच्छेदः **न हि** = नास्ति हि ॥ ९ ॥

अमृतझरिका

मयूखैः षट्त्रिंशद्दशयुततयेत्येवं षष्ट्युत्तरशतत्रयमयूखा य उक्तास्तान् विभज्य दर्शयन्नेव तदुपजीव्यकं कालातीतत्वं महाकालातीतामितिविशेषणोपदर्शितं भगवत्याः साधयपि–शतमित्यादि। वह्नेरष्टोत्तरशतं किरणाः। वह्नेरित्युक्त्या वह्निमयमूलाधारस्वाधिष्ठानयोस्त्रिकोणवसुकोणयोश्चाष्टोत्तरशतकिरणव्याप्तत्वमुक्तं भवति। षोडशोत्तरशतं कलाः किरणा रवेर्भवन्ति। रवेरित्युक्त्या रविमययोर्मणिपूरानाहतयोर्दशारयुग्मस्य च षोडशोत्तरशतकिरणपरिवृतत्वमुक्तं भवति। ननु चन्द्रस्यैव कलाः प्रसिद्धाः न तु वह्निसूर्ययोरिति कथमिदमुच्यते शतमपि कलाः षोडशरवेरिति। अयमेव हि कलाशब्दो वह्नेरित्यत्राप्यनुकृष्टः। कथंचिद् रलयोरभेदाद् कला इति करा इत्यर्थकं स्वीक्रियते तथापि सूर्यस्य करप्रसिद्धावपि वह्ने-

स्तेऽप्यप्रसिद्धा एवेति चेद् ? न । त्वच्चरणगा इत्यग्रे विशेषणादेताः सर्वाः कलाः देवीचरणगा इति गम्यते । देवीचरणत्वेन चापरं चन्द्रबिम्बमेव विवक्षितमिति तदीयकला एव सूर्यादिकिरणभावमापद्यन्त इति कला-शब्दप्रयोगोपपत्तेः । ता एव कलाः सूर्यादौ, नान्ये स्वतन्त्राः किरणा इत्यर्थस्य सूचनीयत्वात् । षट्त्रिंशदुत्तरशतं सितमयमयूखाश्चन्द्रकिरणाः । एतेन विशुद्ध्याज्ञयोः चतुर्दशारशिवचक्रचतुष्टययोः षट्त्रिंशदुत्तरशतकिरण-परिवृतत्वमुक्तं भवति । एतच्च भैरवयामले चन्द्रज्ञानविद्यायां च प्रति-पादितम्—

अष्टोत्तरशतं वह्नेः षोडशोत्तरकं रवेः ।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य च विनिर्णयः ॥ इति ।

चरणजा इति । तवेत्यध्याहारः पूर्वश्लोकादनुवर्तनं वा । सौन्दर्य-लहर्यां "तव चरणकोणाः परिणता" इति पाठदर्शनात् शरणमिति पाठा-न्तराच्च चरणं शरणमेव श्रीचक्ररूपम् तच्च न स्थूलम्, किन्तु 'सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं तदेव श्रीचक्रमि"ति वक्ष्यमाणं सूक्ष्मतरं चन्द्रबिम्बात्मकश्रीचक्रमेव । चरणमिति यथाश्रुतग्रहणेऽपि लक्षणया तदेवात्र गृह्यत इति ज्ञेयम् । **"य एत"** इति ये इति पाठात्ते इत्यध्या-हार्यम् । अथवा ये इत्यस्य पूर्वार्धे चरणजा इत्यनेन सम्बन्धः । तस्य पुनः एते इत्यनेन परामर्शः । यत्तदोरिव यदेतदोरपि समानो नित्यसम्बन्धः । तत्र प्रथमपक्षे य एते त्रिशतं षष्टिश्च त्वच्चरणगा मयूखास्ते महाकालोऽभ-वन्निति योजना । द्वितीयपक्षे शतं चाष्टावित्याद्युक्ता ये चरणजा मयूखाः एते त्रिशतं षष्टिश्च त्वच्चरणजा मयूखा महाकालोऽभवन्निति योजना । त्वच्चरणजा इति परामर्शे स्पष्टार्था पुनरुक्तिः । उद्देश्यवाचकपदोत्तर-प्रत्ययप्रतिपाद्यसंख्या विधेयक्रियाया इति एते महाकालोऽभवन्नित्येवं महाकालस्यैकत्वेऽपि अभवन्निति बहुवचनान्तक्रियापदोपपत्तिः । नन्वेते किरणाः कथं महाकालोऽभवन्निति चेद् ? उच्यते । षष्ट्युत्तरत्रिशतदिव-सात्मकत्वात् संवत्सरप्रजापतेः । तथा च अग्नेरष्टोत्तरशतमित्यादिरूपेण किरणसंख्यानिरूपणानन्तरमभिहितं भैरवयामले—

षष्ट्युत्तरं च त्रिशतं दिनान्येव च हायनम् ।
हायनात्मा महादेवः प्रजापतिरिति श्रुतिः ॥
प्रजापतिर्लोककर्ता मरीचिप्रमुखान् मुनीन् ।
सृजन्ति ते लोकपालांस्ते सर्वे लोकरक्षकाः ॥

संहारश्च हरायत्त उत्पत्तिर्भवनिर्मिता ।
रक्षा तु मृडसंलग्ना सृष्टिस्थितिलये शिवः ॥
नियुक्तः परमेशान्या जगदेवं प्रवर्तते ॥ इति ।

अत्र उक्तानां षष्ट्युत्तरत्रिशतकिरणानां संख्यासामान्येन हायनात्मत्वं प्रथमश्लोके दर्शितम् । स एव प्रजापतिरिति च । प्रजापतित्वं कथमिति जिज्ञासायां तस्य लोककर्तृत्वान्मरीच्यादिजनकत्वाच्च साधितं प्रजापतिर्लोककर्तेत्यादिना । स एव प्रजापतिर्भवमृडहररूपेण सृष्ट्यादीन् करोतीति भवादीनामतिरिक्तं महाकालात्मकशिवत्वं नास्तीति संहारश्चेत्यादिना दर्शितम् ।

त्वच्चरणजा इति द्विर्बद्धस्याभिप्रायमाह—**तस्मादिति** । महाकालस्य त्वच्चरणजन्यत्वं सुदृढं तस्मादित्यर्थः । हे शिवे तव कालकलना नास्ति कालपरिच्छेदो नास्तीत्यर्थः । न हि यस्मादुत्पन्नः कालः स कालस्तमेव परिच्छेत्तुं प्रभवतीति भावः । कालप्रजापतिरेव यदा त्वां न परिच्छेत्तुमर्हति तदा तद्विशेषाणां तदुत्पन्नानां वा भवमृडादीनां त्वत्परिच्छेदकत्वं दूरापास्तमिति भैरवयामलीयप्रदर्शितचरमसार्धश्लोकतात्पर्यार्थः ।

अत्रेदं विचार्यते । संवत्सरे न षष्ट्युत्तरत्रिशतदिवसानां नियतिः । कदाचित् तत्र पञ्च दिवसान्यतिरिक्तानि भवन्ति । कदाचिच्च षड् दिनानि । तत् कथं षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनात्मकहायनात्मा प्रजापतिरित्यभिधीयते ? न च षष्ट्युत्तरेत्यस्य पञ्चषष्ट्युत्तरषट्षष्ट्युत्तरयोर्लाक्षणिकत्वान्नैष दोष इति वाच्यम् । एवं सत्यष्टोत्तरशतं वह्नेरित्यत्र क्षितौ षट्पञ्चाशदित्यादौ च कुत्र कियद्दिनवृद्धिः कर्तव्येति विविच्य वक्तव्यं स्यात् । स्वरुणादिकिरणेषु तद्देवतासु च शिष्टानां पञ्चानां षण्णां वा नामानि वक्तव्यानि । न च तान्युपलभ्यन्ते । तस्मादसमञ्जसमिदं दर्शनमिति चेद् ? अत्रोच्यते । त्रिशतोत्तरं यत् षष्टितमं दिनं तदेव शेषाणां सर्वेषां मिलितरूपम् । तादृशषष्टितमस्य किरणस्य तद्देवतायाश्च यन्नाम तदेव शेषाणामपि नामेति नानुपपत्तिः । वस्तुतस्तु—

किरणाश्च सहस्रं च द्विसहस्रं च लक्षकम् ।
कोटिरर्बुदमेतेषां परा संख्या न विद्यते ॥

इति भैरवयामलवचनाद् यथोक्तषष्टितमकिरणेन षट्सप्तदिनसम्पादनक्लेशो नाश्रयितव्यः । किरणान्तराणां बहूनां विद्यमानत्वात् ।

तेषामनन्तकोटीनां मयूखानां महेश्वरि ।
मध्ये षष्टच्युत्तरं तेऽमी त्रिशतं किरणाः शिवे ॥
ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते सोमसूर्यानलात्मना ।

इति तदुत्तरभैरवयामलवचनाद् यथोक्तानन्तकोटिकिरणमध्ये केषांचिदेव षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्याककिरणत्वात्पञ्चषाणामाधिक्ये क्षतिविरहात् । तेषां नामादिसत्त्वेऽपि पूजादिषु विधानाभावादेव तन्नामानि तद्देवताश्च तन्त्रेषु नोच्यन्ते । यथोक्तक्लृप्तसंख्याकपूजनेनैव विधिचारितार्थ्येन पूजापूर्णतासम्पादनादिति द्रष्टव्यम् ।

अथ ब्रह्माण्डव्यापकत्वं सोमसूर्यानलकिरणानां यथाकथंचिद्वा व्यवस्थितविकल्पेन वेति चिन्त्यते । तत्र केचिदेवं वदन्ति—

अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोमात्मकं जगत् ।
अग्नावन्तर्बभौ भानुरग्नीषोममयं स्मृतम् ॥
त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम् ।

इति वचनात् समुच्चितकिरणव्याप्तिरेवेति । परे पुनरिदमाहुः—

अग्नेरष्टोत्तरशतं षोडशोत्तरकं रवेः।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य किरणाः शिवे ॥
ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते पिण्डाण्डमपि शंकरि ।
दिवा सूर्यस्तथा रात्रौ सोमो वह्निश्च सन्ध्ययोः ।
प्रकाशयन्तः कालांस्ते तस्मात्कालात्मकास्त्रयः ।

इति भैरवयामले विभज्य दर्शनाद् व्यवस्थितविकल्पेनैव व्याप्तिरिति । स्थूलसूर्यादिना ब्रह्माण्डं भासयन्तः षट्चक्रीयप्रतिद्वैतोपरिस्थसूक्ष्मसूर्यादिना पिण्डाण्डं च भासयन्त इति ब्रह्माण्डं व्यश्नुवाना इत्यादेर्विविक्तार्थः ।

इदमपीह चिन्त्यते । यदि दिवा सूर्य इत्यादिरीत्या व्यवस्थितविकल्पेन प्रक्रिया स्वीक्रियेत तदा अष्टोत्तरशतदिवसेषु सूर्यचन्द्राग्नीनां त्रयाणां किरणाः स्युः । तदनन्तरमष्टदिनपर्यन्तं वह्निकिरणविरहात् सूर्याचन्द्रमसयोरेव किरणाः स्युः । तदनन्तरं विंशतिदिनपर्यन्तं सूर्यस्यापि विरहात् केवलचन्द्रकिरणा एव भवेयुः । शेषाणि दिनानि सन्ध्या रात्रयश्च प्रकाशरहिता अन्धकारमया आपद्येरन् । यद्वा—अष्टोत्तरशतदिवसपर्यन्तं सन्ध्ययोरेव प्रकाशः स्यादग्नेः । न तु दिवा रात्रौ च । ततः षोडशोत्तरशतदिवसपर्यन्तं दिवसे एव प्रकाशः स्यात्सूर्यस्य, न तु सन्ध्ययो रात्रौ च ।

ततः शेषेषु दिनेषु रात्रावेव प्रकाशः स्याच्चन्द्रस्य न तु दिवसे सन्ध्ययोश्च। पिण्डाण्डेऽनध्यक्षत्वाद्वचनप्रामाण्येनैवं व्यवस्थाङ्गीकारेऽपि ब्रह्माण्डे तावदिदं प्रत्यक्षविरुद्धमिति नैव शक्यमङ्गीकर्तुम्। वह्निश्च संध्ययोरित्यपरो विरोधः। रात्रावपि वह्निप्रकाशदर्शनात्। दिवसेऽपि शालादिष्वग्निप्रकाशस्य स्पष्टदर्शनात्। तस्मात्समुच्चयपक्ष एव श्रेयान्। सर्वदैव त्रिषु सूर्यादिषु यथोक्तकिरणा वर्तन्त इति चेद्? अत्रोच्यते। षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्या-सामान्यादेकैक एव किरण एकैकदिवसरूप इति निश्चीयते। अन्यथा त्रिभिरेव वह्निसूर्यसोमकिरणैः समुच्चितैः सर्वदा प्रकाशसंभवेन षष्ट्युत्तर-त्रिशतकिरणावलम्बनवैयर्थ्यं स्पष्टमेव। एकैककिरणस्य दिवसान्तरेऽभाव-स्वीकारेऽष्टोत्तरशतदिनाद्यनन्तरदिनेषु तत्तत्किरणाभावदोषस्योक्तस्योत्थान-प्रसङ्गात्। तथा चाष्टोत्तरशतदिवसपर्यन्तमग्न्युपाधिका भगवतीचरण-किरणाः प्रवर्तन्ते। तेषां मुख्यत्वं संध्ययोरग्नौ। सूर्यचंद्रयोस्त एव गौणरूपेण तावद्दिनपर्यन्तं प्रवर्तन्ते। ततः पश्चात् षोडशोत्तरशतदिवसपर्यन्तं सूर्यो-पाधिका भगवतीचरणकिरणाः प्रवर्तन्ते। तेषां मुख्यत्वं दिवसे सूर्ये। गौणतया च संध्ययोरग्नौ रात्रौ चंद्रमसि च। तदुत्तरं षट्त्रिंशदुत्तरशत-दिवसपर्यन्तं चंद्रोपाधिका भगवतीचरणकिरणाः प्रवर्तन्ते। तेषां मुख्यत्वं रात्रौ चन्द्रमसि। संध्ययोर्दिवसे च गौणतयेत्येष एव व्यवस्थित-विकल्पो युक्तः।

यदि पुनर्वह्न्यादिकिरणानां सूर्यादिषु संक्रमो न मनःपरितोषमापाद-यति तदाऽष्टोत्तरशतदिवसपर्यन्तं सदेवताका देवीकिरणा वह्नौ, तदुत्तरं विशेषदेवतारहिताः। ततः षोडशोत्तरशतदिवसपर्यन्तं सदेवताका सूर्ये देवीकिरणाः, तत्पूर्वं तदुत्तरं चाऽदेवताकाः। ततः पश्चात् षट्त्रिंशदुत्तर-शतदिवसपर्यन्तं सदेवताका देवीकिरणाश्चंद्रे तत्पूर्वमदेवताका इति व्यव-स्थापनीयम्। यथोक्तनियतसंख्याकेतरदिवसेषु भौतिकप्रकाशमात्रं वह्न्या-दीनामिति वा वक्तव्यम्। सर्वथापि वह्निसूर्यचंद्राणामष्टोत्तरशतादिनियत-संख्याकदिवसपर्यन्तमेव स्वरुणादिनाम्ना देवीचरणकिरणपूजनमिति तत्र विकल्पो नास्त्येवेति दिक्॥ ९॥

त्रिकोणं चाधारं त्रिभुवननुतेऽष्टारमनघे
भवेत् स्वाधिष्ठानं भगवति दशारं मणिपुरम् ।
दशारं ते संवित्कमलमथ मन्वश्रकमुमे
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दवगृहम् ॥१०॥

सकलजनस्तुत्य अघरहित हे उमा भगवति ! आपका श्रीचक्रस्थित त्रिकोण षट्चक्रस्थित मूलाधार ही है। अष्टकोण स्वाधिष्ठान है। दशकोण मणिपूर है। द्वितीय दशकोण हृदयकमल अनाहत है। चतुर्दशकोण विशुद्धिचक्र है। तथा अष्टदल, षोडशदल, वृत्तत्रय और भुवनत्रयरूप शिवचक्रचतुष्टय आज्ञा है। इसके बाद बिन्दु ही बैन्दवगृह-सहस्रार कमल समझा जा सकता है ॥ १० ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे **त्रिभुवननुते**=सकलपूजिते **ते**=तव श्रीचक्रीयं **त्रिकोणम् आधारम्**=मूलाधारचक्रं भवति । चो ह्यर्थे । हे **अनघे**=निर्धूतकल्मषे **अष्टारम्**=अष्टकोणं **स्वाधिष्ठानं**=स्वाधिष्ठानचक्रं भवति । हे **भगवति** ! **दशारम्**=अन्तर्दशकोणं **मणिपुरं**=मणिपूरचक्रं भवति । हे **उमे** ! **दशारं**=बहिर्दशारं **संवित्कमलम्**=अनाहतचक्रं भवति, **अथ**=किं च **मन्वश्रकं**=चतुर्दशकोणं **विशुद्धं**=विशुद्धिचक्रं **स्याद्**=भवति । **शिवः**=शिवचक्रचतुष्टयं=नागदल-षोडशदल-वृत्तत्रय-भूपुरत्रयात्मकम् **आज्ञा**=आज्ञाचक्रं स्यात् । ततस्तस्मादूर्ध्वं बिन्दुरेव **बैन्दवगृहं**=सहस्रारमिति ॥ १० ॥

अमृतझरिका

त्रिखण्डं ते चक्रं भवेन्मूलाधारप्रभृतीति यदुक्तं तद् विशिष्य प्रतिपादयति षोढैक्यादिसपर्यार्थं—**त्रिकोणमिति** । त्रिभुवननुते अनघे भगवति उमे इति सम्बोधनचतुष्टयम् । त्रिभुवनेन सर्वप्राणिवर्गेण नुते स्तुते । त्रिखण्डस्य त्रिरूपत्वात् त्रिभुवनमपि त्रिखण्डमेव, तत्र नुते स्तुते इति वा । त्रिपुरतनुते इति पाठान्तरम् । त्रिपुरा तनूर्यस्याः सा त्रिपुरतनूः । तत्सम्बुद्धौ "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वेन रूपम् । ते इति तवेत्यर्थकं त्रिकोणमित्यनेनान्वेति ।

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः ।
यत्किंचिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकम्
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः ॥

इति लघुस्तववचनात्त्रिधानियमितवस्तुतनुत्वात्त्रिपुरतनुत्वम् । शुद्ध-सत्त्वात्मकत्वान्निर्गुणत्वाद्वा अनघ इति सम्बोधनम् । न विद्यन्तेऽघानि पापानि यस्यां सा तथा । यद्वा न विद्यन्तेऽघान्युपासकानां यया यदुपा-स्त्या वा सा तथा । ते तव त्रिकोणं श्रीचक्रगतत्रिकोणमाधारं मूलाधार-चक्रं भवति । तयोरैक्यमेवेत्यर्थः । एवमुत्तरत्र । चो ह्यर्थे । तवाष्टारं श्रीचक्रगताष्टकोणं स्वाधिष्ठानं भवेत् । दशारमन्तर्दशकोणं मणिपुरं भवेत् । मणिपूरे भगवत्याः प्रथमदर्शनादत्र भगवतीति सम्बोधनम् । ते तव दशारं बहिर्दशारं संवित्-मलमनाहतं भवति । अथ एवमेव मन्वश्रकं चतुर्दशारं विशुद्धं विशुद्धिचक्रं भवति । भावनाक्रमानुसारेण वाऽथेत्या-नन्तर्यार्थकम् । उमा नाम विद्यास्वरूपिणी । विशुद्धिचक्रपूजयैव च च विद्योत्पत्त्याऽज्ञानतिमिरध्वस्तिः । अत एव सौन्दर्यलहर्याम्—"विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदमि"त्यस्मिन् श्लोके "विधूतान्तर्ध्वान्ते"ति भगवत्या विशेषणम् । शिवः शिवचक्रचतुष्टयं नागदलषोडशदलवृत्तत्रयधरणीत्रयलक्षण-माज्ञाचक्रं स्यात् । इति पदं षट्चक्रसमापनद्योतकम् । ततः इति । ततः परमाज्ञाचक्रात् परं सहस्रारमिति यावत् । तद् बैन्दसगृहं बिन्दुरूपं गृहं भवति । बिन्दुरेव सहस्रारमित्यर्थः । बिन्दो चिन्तामणिगृहादेः प्राग् व्याख्यातत्वाद् बैन्दवगृहमिति प्रयोगः ।

परे तु बिन्दुसम्बन्धिगृहं त्रिकोणतोऽधस्ताद् यच्चतुष्कोणं तद् बैन्दव-गृहम् । "कुलगृहमिति प्राहुरपरे चतुष्कोणं प्राहुरि"ति प्रागुक्तत्वात् । तत्रैव समयिभिर्बिन्दुस्वरूपाया भगवत्या उपासनात् । न च बिन्दोः सदाशिवरूपत्वान्न भगवतीस्वरूपत्वमिति वाच्यम् । भगवत्याः सदा-शिवाभिन्नत्वाद् । श्रीचक्राङ्कितबिन्दुमध्यनिलयामिति स्वीकारेऽपि सदाशिवाङ्कस्थत्वेनोपपद्यते । सहस्रारेऽपि सदाशिवस्तदङ्कस्था पराभट्टारि-केत्यैक्योपपत्तेरित्याहुः ।

भैरवयामले चायमैक्यक्रमः प्रतिपादितः । तथा हि—

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट्क्रमात् ॥

मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् ।
अनाहतं विशुद्धयाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥

इति तत्रत्यं वचनम् । अत्र चतुष्कोणमित्यनेन नागदलादिचक्रचतुष्टयमभिधीयते एतदेव शिवचक्रचतुष्टयमित्यप्युच्यते । अथैतदेव विशदीकर्तुं प्रथमं श्रीचक्रस्वरूपमभिधीयते । तथा चोक्तं—

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-
मन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च
श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ॥ इति ।

त्रिकोणमध्ये केचिद् बिन्दुं कुर्वन्ति । अपरे तु त्रिकोणाधश्चतुष्कोणे तत्रेदं चिन्त्यम् । सृष्टिचक्रं सुधासिन्धुरित्यादिप्रदर्शितवचने त्रिकोणं मञ्चरूपमित्युक्तम् । तत्र च देव्या अनवस्थानान्मञ्चस्य वैयर्थ्यमापद्यते । चतुष्कोणमेव सुधासिन्धुरित्याद्युपगमेऽपि इतराष्टयोनिमध्यगतत्वात्तासां योनीनां सार्थक्येऽपि त्रिकोणं पृथगेवावतिष्ठेतेति तत्सार्थक्यं नावलोकामहे । "बिन्दुत्रिकोणे"त्यादिप्रदर्शितवचने च चतुष्कोणं कुतस्त्यक्तम् ? न च त्रिकोणान्येव परिगण्यन्त इति वाच्यम् । नागदलादेस्त्रिकोणत्वविरहेण तेषामपि परित्यागापत्तेः । श्रीचक्रस्य नवयोनित्वप्रसिद्धिविरोधाच्च । "चतुर्भिः श्रीकण्ठैरि"त्याचार्यैरपि चतुष्कोणास्पर्शात् । यत् पुनः—

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिधातवः शक्तिमूलकाः ।
मज्जाशुक्लप्राणजीवधातवः शिवमूलकाः ॥
नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भवः ।
दशमी योनिरेकैव पराशक्तिस्तदीश्वरी ॥

इति दशमयोन्याः कथनं तद्बिन्दुपरकमेव । न तु चतुष्कोणपरम् । एकैवेति विशेषणानुपपत्तेः । एकत्वं स्वगतभेदविरहात् । न तु सजातीयभेदविरहात् । तथा सति त्रिकोणस्याप्येकत्वापत्तेः । तद्व्यावृत्तिर्हि तस्य त्र्यवयवत्वात् कार्या । तदा चतुष्कोणं चतुरवयवमिति कथं तत्संग्रहः । पराशक्तेश्च बिन्दावधिष्ठितत्वाद् पराशक्तिस्तदीश्वरीत्युपपद्यते । अन्यथा चतुष्कोणे बिन्दुस्तत्र पराशक्तिरिति साक्षात्तदधिष्ठातृत्वं न लभ्यते । बिन्दोर्वैयर्थ्यापत्तेश्च । न च चतुष्कोणं सुधासिन्धुरेव, तदधिष्ठात्री पराशक्तिः । तत्र चिन्तामणिगृहादिसत्त्वाद् बिन्दोः सार्थक्यमिति वाच्यम् । सुरवाटिकारत्नद्वीपादीनां बहूनामलक्षणेन न्यूनतापत्तेः । न च बिन्दौ ते

इति वाच्यम् । चतुष्कोणे एव सर्वे भवन्तु । किं च तथा सति बिन्दुः क इति निर्धार्यम् । बिन्दावेव सुधासिन्ध्वादेः संभवेन चतुष्कोणस्य सुधासिन्धुत्वकल्पनावैयर्थ्याच्च । बिन्दुरेव भगवतीत्युक्तावपि तदसंस्पृष्टत्रिकोणवैयर्थ्यादिकं प्रागुक्तमापद्यते । तस्मात्त्रिकोणमध्यग एव बिन्दुः । स एव वा तत्र वा सुधासिन्ध्वादिकमित्येव सम्यक् । एतदनुरोधेन च "त्रिकोणं ते कौला" इत्यादि व्याख्यातमस्माभिः । यदि पुनश्चतुष्कोणस्य बिन्द्वाश्रयत्वं कस्मिंश्चित्संप्रदायविशेषेऽस्ति प्रकारान्तरेण च कथंचित्त्रिकोणसार्थक्यं तत्रोपपाद्यते तर्हि न तं वयं विरुन्ध्मः । परं समयिमतं तदेवेति नानुमोदामहे ।

त्रिकोणादिषु नवसु योनिषु कोणात्मकास्त्रिकोणवसुकोणदशकोणयुग्मचतुर्दशकोणाः पञ्च योनयः शाक्ताः । अष्टदलषोडशदलवृत्तत्रयचतुरस्रत्रयलक्षणाः शैवयोनयः । ताश्च शिवपदेनाभिधीयन्ते । तदेवात्र श्लोके आज्ञा शिव इत्यनेनोक्तम् । तथा चोक्तम् —

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ॥
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ॥
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् ।
चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमाद् ॥ इति ।

यद्यप्यस्मिन् वचने बिन्दुः शिवचक्रत्वेनोक्तः । वृत्तत्रयं च परित्यक्तम् । तथापि बिन्दुना वृत्तत्रयस्यापि परिग्रहान्न दोषः । संप्रदायभेदे वृत्तत्रयपूजाविरहाच्च । अत एव च वचनाद् बिन्दोरपि शैवत्वं सिध्यति । तथापि च शिवचक्रपदेन बिन्दुर्न गृह्यते । किन्तु वृत्तत्रयमेव । बिन्दुः किल सहस्रारात्मक एव । वक्ष्यति च "सहस्रारं बिन्दुर्भवती"ति ।

नन्वाज्ञाचक्रादूर्ध्वं सहस्रारम् । आज्ञाचक्रं च सर्वज्ञहिर्भूतं भुवनत्रयमेव । न हि तदूर्ध्वं बिन्दुर्वर्तते । बिन्दुर्हि त्रिकोणमध्ये मतान्तरेण चतुष्कोणमध्ये वा वर्तते । तथा च कथं तदैक्योपपत्तिर्भवितुमर्हतीति चेन्न । बिन्दोर्व्यापकरूपत्वाभ्युपगमेनाऽपरिच्छिन्नतयोर्ध्वाधोविभागविरहात्सहस्रारेणैक्ये क्षत्यभावात् । एतच्च सहस्रारं बिन्दुरित्यत्रैव व्याख्यायां स्पष्टीभविष्यति ।

परे तु शक्तिचक्राणां पञ्चानामान्तरत्वं शिवचक्राणां नागदलादीनां चतुर्णां बहिःस्थितत्वं चावलोक्यते। तदेतन्नोपपद्यते। शिवस्य शक्त्यपेक्षया बहिरङ्गत्वायोगादिति बिन्दुः शिवरूपः सर्वान्तरः। तथा च तत्रैव शिवचक्राणां चतुर्णामाकृष्य स्थापनान्न दोषः। शिवस्य तथा सत्यान्तरत्वोपपत्तेः। एवं सति शिवचक्राणां चतुर्णां बिन्दावन्तर्वर्तित्वाद् बिन्दोर्भुवनत्रयादप्यूर्ध्ववर्तित्वमुपपद्यते। गृहान्तर्वर्तिदेवदत्तोपरि गृहभागस्य छदिरादेरिव बिन्दुभागस्य भुवनत्रयोर्ध्वसत्त्वसंभवात्। तथा च सहस्रारवद्बिन्दोरपि सर्वोर्ध्वत्वं सुसंपादम्। वाचनिकं वाऽस्तु बिन्दुसहस्रारयोरैक्यमित्याहुः

वयं तु ब्रूमः। शिवचक्राणां बिन्द्वन्तर्भावे शिवचक्रचतुष्टयवेष्टितानामत एव तद्व्याप्तानां शक्तिचक्राणामपि तत्रान्तर्भावो दुर्वारः। न हि शिवचक्राणि शक्तिचक्रेभ्य आकृष्य पृथक्कर्तुं शक्यन्ते येन शक्तिचक्राणि बहिरवतिष्ठेरन्। तथा च सति बिन्दौ नवयोन्यन्तर्भावात्फलतस्तस्य नवयोनिव्यापकत्वमेवायाति। तथा च प्रथममस्माभिः प्रदर्शितरीत्यामेव पर्यवसानं भवति। व्यापकस्यापि मध्येऽवस्थानं तत्राभिव्यज्यमानत्वाद्। यथा व्यापकस्याप्यात्मनो हृदयेऽभिव्यज्यमानत्वात्तस्य हृदयान्तर्वर्तित्वमभिधीयते तद्वदित्येष एव राजपथः।

अथ मूलाधारादीनां चक्राणां स्वरूपं संक्षेपेण वर्णयामः। **मूलाधारचक्रं** चतुर्दलरक्तवर्णपद्मात्मकम्। दलेषु वंशंषंसमितिवर्णचतुष्टयम्। तत्कर्णिकायां पृथिवीमण्डलं चतुष्कोणं पीतवर्णम्। तन्मध्येऽग्रोभागे लं इति धराबीजम्। तन्मध्ये शिशुरूपो ब्रह्मेति योगिमतम्। अस्मन्मते पुनः समयासहितो नवात्मा समयरूपः शिव इति सौन्दर्यलहर्यामभिहितम्। तस्यामेव कर्णिकायां रक्तपद्ममपरं तन्मध्ये विद्युदाकारं त्रिकोणम्। तन्मध्ये कामवायुः कामबीजं च। तदुपरि स्वयंभुलिङ्गः श्यामः, यत्र सार्धत्रिवलयाकारा कुण्डलिनी।

आधारे स्वर्णवर्णेऽस्मिन् वादिसान्तानि संस्मरेद् ॥ इति।
मूलाधारे धराचक्रं चतुष्कोणं प्रियंवदे ॥ इति।
मूलाधारे धराबीजं तद्बिन्दौ ब्रह्मणः स्थितिः ॥ इति।
मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणमतिसुन्दरम् ॥ इति।
तत्र स्थितो महालिङ्गः स्वयंभुः सर्वदा सुखी ॥ इति।
ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयंभुलिङ्गवेष्टिनीम् ॥

इति च वचनेभ्य इति संक्षेपः। मूलाधारे त्रिकोणस्यातिप्रसिद्धत्वाच्चक्र-त्रिकोणमूलाधारयोरैक्यमपि सुगमम्।

स्वाधिष्ठानचक्रं सिन्दूरवर्णषड्दलपद्मात्मकम्। दलेषु बं भं मं यं रं लमिति वर्णषट्कम्। तत्कर्णिकायां शुक्लवर्णमष्टदलपद्माकारमम्भोज-मण्डलम्। तन्मध्ये अत्रैव जलतत्त्वं तद्बीजं 'वं' च तन्मध्ये चतुर्भुजो युवरूपो विष्णुरिति योगिमतम्। स्वमते तु तत्राग्नितत्त्वं 'रं' बीजं तत्र समयासहितः संवर्तरुद्र इति विशेषः।

स्वाधिष्ठाने विद्रुमाभे बादिलान्तानि संस्मरेद् ॥ इति।
दशपत्रं पयोजातं कर्णिकायां महेश्वरि ॥

इत्यादिकं च वचनमिह द्रष्टव्यम्। अत्र षड्दलोपर्यष्टदलाम्भोजमण्डल-सत्त्वाच्छ्रीचक्रगताष्टकोणेनैक्यं संपाद्यम्।

मणिपूरं मेघवर्णदशदलपद्मरूपम्। तत्र डं ढं इत्यादि फमित्यन्तं वर्णवृन्दम् तत्र रक्तवर्णं वह्निमण्डलं रं बीजं च। स्वमते व्यत्ययेन जल-मण्डलं वं बीजं चेति ज्ञेयम्। तत्र रुद्रस्य, स्वमतेन तडित्वतोः शिव-योर्वा स्थितिः।

सुनीले मणिपूरके
डफान्तानि महानीलप्रभानि परिचिन्तयेत् ॥

इत्यादिकं वचनमनुसन्धेयम्। दशदलपद्मस्य दशकोणस्य च सामान्या-त्तयोरैक्यं सुघटमेव।

हृत्पद्मं बन्धूकवर्णद्वादशदलपद्मरूपम् कादिठान्तवर्णयुक्तम्। तदुपरि वायुमण्डलं यं इति वायुबीजं च। तत्र पद्मान्तरं षड्दलाष्टदलादिभेदेन विकल्पितम्। तत्रैव जीवः। हंसरूपौ चोमामहेश्वरौ।

शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
अनाहताख्यं पद्मं तन्मुनिभिः परिकीर्तितम् ॥ इति।
कादिठान्तानि वर्णानि चतुर्थेऽनाहते प्रिये ॥ इति।
अनाहतं द्वादशारं रक्ताभं हृदि सुव्रते।
यद्वा—
तन्मध्ये पावनं पद्मं षट्कोणं धूम्रवर्णकम् ॥ इति।
तन्मध्येऽष्टदलं रक्तं तत्र कल्पतरुं तथा।
इष्टदेवासनं चारु चन्द्रातपविराजितम् ॥ इति।
अनाहताख्यं तत्पद्मं पुरुषाधिष्ठितं परम् ॥

इति च वचनेभ्यः। पावनं = पवनसम्बन्धि। पुरुषाधिष्ठितं = पुरुषेण जीवेनाधिष्ठितम्। अत्र च द्वादशदलं प्रसिद्धमेव। "अष्टदलोपरिवेष्टित-लिङ्गम्" इत्येवमष्टदलत्वमप्यतिप्रसिद्धमेव। तयोर्मेलने विंशतिदलं भवति। श्रीचक्रलेखने बहिर्दशारं चान्तर्दशारापेक्षया द्विगुणीभूतमिवोपलभ्यते। दशद्विगुणीभावे विंशतिरित्येवं परम्परया साम्यादनाहतबहिर्दशारयोरैक्यं सम्पाद्यम्।

विशुद्धिचक्रं षोडशदलधूम्रवर्णपद्माकारम्। तत्कर्णिकायां वृत्तरूपं नभोमण्डलम्। तत्र हं इति नभोबीजम्। तत्र सदाशिवो देवी शिवा च। दलेषु षोडशस्वराः।

विशुद्धिं तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महत् परम्॥ इति।

तदूर्ध्वे षोडशदलं पङ्कजं धूम्रवर्णकम्।
युक्तं शोणैः षोडशभिः स्वरैर्बिन्दुविभूषितैः॥ इति।

शुक्लाम्बरेण संवीतं तत्र देवं सदाशिवम्।
गिरिजाभिन्नदेहार्धं रौप्यहैमशरीरकम्॥

इति च वचनेभ्यः। अत्र च पञ्चवक्त्रः शिवोऽर्धनारीश्वररूपेण वर्तते। दश भुजाः सदाशिवस्य। देव्याश्च चत्वार इति चतुर्दशभुजता। श्रीतत्त्व-चिन्तामणौ तु हं इति बीजस्यैव शुक्लाम्बरत्वचतुर्भुजत्वादिकं तत्र सदा-शिवस्यार्धनारीश्वरस्य दशभुजत्वं चाभिहितम्। सर्वथापि चतुर्दशभुजता तत्र स्पष्टेति श्रीचक्रगतचतुर्दशकोणसामान्यमेवंप्रकारेण सम्पाद्यैक्यं बोध्यम्।

आज्ञाचक्रं तु द्विदलम्। शुक्लवर्णम्। हं क्षं वर्णयुक्तम्। तदूर्ध्वत्रिकोणे प्रणवाकृतिरात्मा तत्रैव मनस्तत्त्वम्। तदूर्ध्वे चन्द्रमण्डले परमशिवः परमशिवा च।

तालुकण्ठं प्रविश्योर्ध्वं भ्रूयुगान्ते सितं शुभम्।
द्विदलं ह क्ष वर्णाभ्यां मनोधिष्ठितमम्बुजम्॥
आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वे तु शुक्लं द्विदलमण्डितम्।
कर्बूर ह क्ष लक्षितं मनोऽधिष्ठितरञ्जितम्॥ इति।
कर्णिकायां त्रिकोणस्थमात्मानं प्रणवाकृतिम्॥ इति।
शम्भुबीजं हि तन्मध्ये साकारं हंसरूपकम्॥ इति।

एवं हंसो मणिद्वीपे तस्य क्रोडे परः शिवः।
वामभागे सिद्धकाली सदानन्दस्वरूपिणी ॥

इति च वचनेभ्यः। श्रीचक्रगतयोर्नागदलषोडशदलयोः पद्मरूपत्वाद् ऐक्येन वृत्तत्रयभुवनत्रययोश्च रेखासाम्यादैक्येन च द्विदलाज्ञाचक्रचतुश्चक्रयोरैक्यम्। बिन्दुसहस्रारयोरग्रे वक्तव्यत्वान्न ते इह विव्रियेते। विस्तरस्तु श्रीतत्त्वचिन्तामणिगतषट्चक्रनिरूपणे मायातन्त्रनिर्वाणतन्त्रशारदातिलकतन्त्रादौ च वरीवर्ति। अत्र तु श्रीचक्रषट्चक्रयोरभेदचिन्तनरूपसमयिमतसपर्यास्फोरणार्थं लेशेनास्माभिः प्रदर्शितमिति सुधियो विदांकुर्वन्तु ॥१०॥

त्रिकोणं ते वृत्तत्रितयमिभकोणं वसुदलं
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम्।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शाक्तिकमुमे
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः ॥११॥

हे उमा भगवती ! श्रीचक्र में जो आपका त्रिकोण है वह वृत्तत्रय से अभिन्न है। अष्टकोण अष्टदलपद्म से अभिन्न है। दो दशकोण षोडशदलपद्म से अभिन्न है। चतुर्दशकोण भुवनत्रय से अभिन्न है। इस प्रकार चार शिवचक्र शक्तिचक्रों में अन्तर्गत होकर भगवती में समाये हुए हैं। शक्ति और शिव का प्रधान ऐक्य छः प्रकार का है (आगे आयेगा) ॥११॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे **उमे** ! **ते** = तव **त्रिकोणं** =श्रीचक्रगतत्रिकोणं **वृत्तत्रितयं** = श्रीचक्रगतवृत्तत्रयाभिन्नं भवति। तत्रैव **इभकोणम्** = अष्टकोणं **वसुदलम्** = अष्टदलाभिन्नं भवति। **मिश्रारे** = अन्तर्बहिर्दशारद्वयं **कलाश्रं** = षोडशदलाभिन्नं भवति। **भुवनाश्रे** = चतुर्दशकोणे च **भुवनं**=भुवनत्रयमभेदेन **भवति**। एवं **शैवं** = शिवसम्बद्धं **चतुश्चक्रं** = नागदलादि चतुष्टयं **शाक्तिकं** सत् = शक्तिचक्रतादात्म्यापन्नं सत् **भगे** =शक्तिचक्रपञ्चके **निवसति** = तादात्म्येन वर्त्तते। **तयोः शक्तिशिवयोः प्रधानैक्यं** तु वक्ष्यमाणप्रकारेण **षोढा भवति च** ॥ ११ ॥

अमृत झरिका

ननु क्षितौ वह्निरित्यादिना मूलाधारादीनामैक्यत्वं वक्ष्यति। श्रीचक्रे पुनः शैवचक्रशाक्तचक्राभ्यामेव भेदः स्थितः इति स्वस्मिन्नैक्यविरहे परेण षट्चक्रेणैक्यमाशामोदकमात्रमित्याशङ्कायां शक्तिचक्रशिवचक्रयोः श्रीचक्रगतयोरैक्यं सम्पादयति—त्रिकोणं त इति। वक्ष्यमाणप्रयोजनार्थं चक्रप्रसङ्गाद्वा तदाह।

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च।
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्
चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ॥

इत्यस्माभिः प्रागुदाहृतं भैरवयामलीयवचनं प्रथममिहानुसन्धेयम् ।

यद्यपि बिन्दुर्न चक्रत्वेन शक्योऽभिधातुम्। अत एव नवचक्रपरिगणनायां बिन्दुर्नाभिधीयते । तथापि शैवत्वाद् बिन्दोरपीहोक्तिः । न चैवं चत्वारि शिवचक्राणीत्यस्यासंगतिः । त्रयाणामेवोपादानादिति वाच्यम् । चतुरश्रं चेति चकारेण तत्पूर्वस्य वृत्तत्रयस्य समुच्चयनीयत्वात् । अथवा बिन्दुरित्यनेन बिन्दुसदृशवृत्तत्रयकथनमिह द्रष्टव्यम् । यद्यपि बिन्दोर्निरवयवत्वेन वृत्ताकारता नास्ति । तथापि नात्र सर्वथा निरवयवत्वं स्वीक्रियते । तत्रैव सदाशिवादिस्थित्यभ्युपगमात् । चन्द्रबिम्बेन तस्योच्यमानतया वृत्तत्वोपपत्तेश्च । लोकानां तथा प्रतीयमानत्वेन बिन्दुना वृत्तोक्तिसंगतेश्च । न चैवं शिवचक्राण्यनुक्रमादित्यनुक्रमशब्दासांगत्यमिति वाच्यम् । सामीप्ययुक्तः क्रमः अनुक्रमः इति व्याख्येयत्वात् । अथवा त्रिकोण-वसुकोण-दशकोणद्वय-चतुर्दशकोणानीति यः शाक्तचक्रक्रमस्तदनुक्रमेणेति व्याख्यानान्न काप्यनुपपत्तिः । तथा ह्यत्रैवाचार्यैः त्रिकोणं ते वृत्तत्रयमित्येवमभिधीयत इति त्रिकोणाष्टकोणाद्यनुक्रमेण वृत्तत्रयाष्टदलादिकमेवागच्छतीति सर्वमुपपन्नम् । संप्रदायभेदः प्रागुक्तस्तु न विस्मर्त्तव्यः ।

हे उमे ते तव शक्तेर्यत् त्रिकोणं तच्छिवस्य वृत्तत्रितयमेव । शाक्तं त्रिकोणं शैवाद् वृत्तत्रयादभिन्नमित्यर्थः । त्रित्वसंख्यासामान्यमादायैतदैक्यमुपपादनीयम् । इभकोणमष्टकोणं यच्छाक्तं तद् वसुदलमष्टदलं शैवम् । अत्रापि संख्यासामान्यमुभयोरष्टसंख्याकत्वात् । शाक्ते मिश्रारे दशकोणद्वये शैवं कलाश्रं षोडशदलं भवति अन्तर्भवति । कला षोडश प्रसिद्धा इति कलाश्रपदेन षोडशदलग्रहणम् । नन्वत्र संख्यासामान्यं न दृश्यत इति चेन्न । अधिकसंख्यासामान्यसत्त्वात् । अथवा अनान्तर्यमेवानयोरान्तर्यमिति न्यायादन्येषां सर्वेषां संख्यासामान्यसत्त्वादनयोस्तदभाव आन्तर्यं भविष्यतीति द्रष्टव्यम् । भुवनाश्रे चतुर्दशदलपद्मे शाक्ते च भुवनं शैवं भुवनत्रयम् । नन्वत्रापि संख्यासामान्यं नोपलभ्यत इति चेन्न । भुवनानां वस्तुगत्या चतुर्दशत्वात् । अत एव भुवनाश्र इति कथनेन चतुर्दशकोणलाभः । एतदेव

द्योतयितुमाचार्येण भुवनाश्रशब्देन तदुक्तिः कृता। न चैवं भुवनत्रयमिति त्रित्वं कथमुपपद्यत इति वाच्यम्। भुवनानां चतुर्दशानामूर्ध्वमध्याधो-विभागेन स्थिततया त्रित्वमुच्यते न तु वस्तुतः। तथाहि भूः भूवः स्वः महः जनः तपः सत्यमिति सप्तलोका उर्ध्वाः। अतल-वितल-सुतल-तलातल-रसा-तल-महातल-पाताला अधोलोकाः। इति चतुर्दश भुवनानि। तत्र यद्यपि भूलोक ऊर्ध्वत्वेनोक्तस्तथापि स मध्यलोक एव। षडेवोर्ध्वलोकाः। ते मिलिताः स्वर्ग इत्युच्यन्ते। भूलोको मर्त्यलोक इत्युच्यते। अतलादयः पातालशब्देनैकै-नैवाभिधीयन्ते। इत्थं स्वर्गलोकः भूलोकः पाताललोक इति लोकत्रय-प्रसिद्धिः। इत्थमेव पुराणेषु चतुर्दशलोकत्वेन त्रिलोकत्वेन च तत्र तत्र वर्णनेऽपि न परस्परं विरोधः। इह श्रीचक्रे च रेखाचतुष्टयेन मध्यभवं लोकत्रयं प्रदर्श्यते। तत्र च यथोपपादितविभागत्रित्वमादायैव भुवनत्रय-त्वकथनमित्यवगन्तव्यम्। एतदेव चैक्यं श्रीभैरवयामलेऽपि वर्णितम्। तथा हि—

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके॥
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स तत्त्ववित्॥

इति तत्र प्रतिपादितम्। न चात्र बिन्दुत्रिकोणयोरेव प्रत्यक्षसिद्धं श्लिष्टत्वं संयोगात्मकमुच्यत इति वाच्यम्। पूर्ववदेवात्रापि बैन्दवमित्यस्य वृत्तत्रयमित्यर्थस्य कर्तव्यत्वात्। न चैवमपि त्रिकोणे बैन्दवमित्याधाराधेय-भावेन प्रतिपादनात् श्लिष्टमिति संयोगमात्रं लभ्यते। मूले तु त्रिकोणं ते वृत्तत्रितयमिति समानविभक्तिनिर्देशात्तादात्म्यमिति वैषम्यमेवेति वाच्यम्। त्रिकोणे बैन्दवं तादात्म्येन श्लिष्टमित्यध्याहृत्य व्याख्येयत्वात्। न च तत्र मानाभावः। अविनाभावसम्बन्धमित्युत्तरेणैक्योक्तेर्मानत्वात्। न हि संयोगस्याविनाभावत्वं संभवति।

"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः"

इत्यभियुक्तोक्तेः प्रतियोग्यनुयोगिनोरप्राप्तावस्थासत्त्वेनाविनाभावानु-पपत्तेः। न चात्ममनसोर्विभुद्वयादेश्च नित्यः संयोगोऽविनाभावात्मकः स्यादिति वाच्यम्। तदनभ्युपगमात्। न ह्यस्माभिर्नैयायिकानामेषा प्रक्रियो-

पगम्यते। अपि चाविनाभावस्तादात्म्यापरपर्याय एव प्रयुज्यते। शिव-शक्त्योश्च तदेव तादाम्यमविनाभावः। तथा चोच्यते—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥ इति।

अन्तराभावो भेदाभावस्तादात्म्यमेव। न विनेत्यविनाभावश्चात्रोक्तः। तस्मादत्र श्लिष्टमिति तादात्म्येन श्लिष्टमित्येवमध्याहृत्यैव व्याख्येयम्। न पुनर्लौकिकस्त्रीपुरुषयोरिव संयोगमात्रम्। तदेव च चन्द्रचन्द्रिकयोरिवेति दृष्टान्तेनापि स्फुटीकृतम्।

नन्वेवमपि "त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमि"त्यत्र त्रिकोणस्याधारत्वकथनान्मुख्यत्वं प्रतीयते। बैन्दवस्य च गुणत्वम्। घटो नील इत्यत्र घटे नीलवर्णं इतिवद् नीलवर्णे घटः इति प्रयोगो न भवति। तत्कस्य हेतोः? नीलस्य गुणत्वात्। तथा च सप्तम्यन्तस्य मुख्यत्वं प्रथमान्तस्य गौणत्वं चायाति। इह पुनराचार्येण त्रिकोणं ते वृतत्रितयमित्येवं समानविभक्तिकप्रयोगात्समप्राधान्यमभिप्रेतमिति प्रतीयत इति वैषम्यमिति चेन्न। परस्परगुणप्रधानभावस्य स्वयं वक्ष्यमाणत्वात्। तथा च सौन्दर्यलहर्यामभिहितं—

'अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपरयोः' ॥ इति।

तथा च त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमित्युक्तिर्न त्रिकोणादेर्मुख्यत्वार्थम्। परस्परमुख्यगौणभावोपगमात्। शक्तिचक्रपञ्चकं शेषि, शिवचक्रचतुष्टयं शेषः। तथा शिवचक्रचतुष्टयं शेषि। शक्तिचक्रपञ्चकं शेष इति। किं चात्रापि तृतीयपादे यामलवदेवाभिहितम्—भगवत्याः भगे ऐश्वर्ये शैवं चतुश्चक्रमित्युक्तेः। भुवनाश्रे च भुवनमिति चात्र भैरवयामलसमानरूपेण पठितम्। तथा च नात्रत्यवचने भैरवयामलवचने च वैरूप्यमप्यस्तीति द्रष्टव्यम्। क्वचित्तु त्रिकोणे ते इति रीत्या सर्वत्र सप्तम्यन्तपाठ एव।

एवं प्रतिपादितरीत्या शैवं चतुश्चक्रं नागदलादिकं शाक्तिकं सत् शक्तितादात्म्यापन्नं सद् भगे भगवत्या ऐश्वर्ये पञ्चचक्रात्मके तादात्म्येन निवसति।

यद्यपि त्रिकोणवृत्तत्रयादीनामाधाराधेयभावो वा तादात्म्यं वा न प्रत्यक्षमुपलभ्यते। यथाकथंचित्सम्बन्धस्तु सर्वेषामेव परस्परमस्तीति नोक्तविभागचतुष्टयोपपत्तिः। न च प्रत्यक्षतस्त्रिकोणवृत्तत्रयादीनां तादात्म्यं मास्तु, वाचनिकमेव तदस्त्विति वाच्यम्। तथा सति शिवशक्त्योः साक्षादेव वाचनिकतया तादात्म्यप्रतिपादनसंभवाच्चक्रकोणतादात्म्यद्वारा तत्ससंपादनं विफलम्। तथापि ध्यानाद्यर्थं वाचनिकस्य चक्रतादात्म्यचतुष्टयस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्तन्मुखेनापि शिवशक्तितादात्म्यसिद्धिसंभवमभिप्रेत्यैवमुक्तमिति मन्तव्यम्।

त्रिकोणादीनां वृत्तत्रयादीनां च श्रीचक्रे गुणत्वम्। तथा चैतत्प्रदर्शितमैक्यचतुष्टयं गौणं मन्तव्यम्। प्रधानानि पुनः श्रीचक्रादीनि। तयोः शक्तिशिवयोः प्रधानैक्यं तु षोढा भवति। चस्त्वर्थे। प्रधानानां श्रीचक्रादिरूपाणां नादबिन्दुकलानामैक्यं प्रधानैक्यम्। एतच्चानन्तरश्लोक एव स्पष्टीभविष्यति ॥ ११ ॥



कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे
तयोर्नादेनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः ।
तयोर्बिन्दावैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे
तदेवं षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम् ॥१२॥

(१) कला में बिन्दु की एकता (२) नाद में कला की और (३) बिन्दु की एकता और (४) नाद के साथ कला बिन्दु दोनों की एकता (५) कला में भी नाद-बिन्दु दोनों की एकता (६) बिन्दु में नाद-कला दोनों की एकता इस प्रकार नाद-बिन्दु-कला इन तीनों को षड्विध जो एकता (की भावना) है यही समय मार्ग में आपकी पूजा है ॥ १२ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

कलायामिति । कलादयो व्याख्यास्यन्ते । तत्र **कलायां बिन्द्वैक्यं**= बिन्दोरैक्यमभिन्नत्वमित्येकम् । **तदनु च तयोः** = कलाबिद्वोः **नादविभवे**= नादे ऐक्यं, नादे कलैक्यं बिन्द्वैक्यं चेत्यर्थः । इति द्वितीयं तृतीयं च । **तयोः**=कलाबिन्द्वोर्द्वित्वावच्छिन्नयोः **नादेनैक्यमिति** चतुर्थम् । **तदनु च कलायामपि तयोः**=नादबिन्द्वोर्द्वित्वावच्छिन्नयोरैक्यमिति पञ्चमम् । **तयोः** = नादकलयोर्द्वित्वावच्छिन्नयोः **बिन्दावैक्यमिति** षष्ठम् । इति **त्रितयविभवैक्यं** = कला-बिन्दु-नादानां त्रितयस्य विभवैक्यं=विविध भवैक्यम् = एकत्वत्रिकावच्छिन्नं द्वित्वत्रिकावच्छिन्नं च भवति षडैक्यानि भवन्तीत्यर्थः । **हे परशिवे ! एवं तत् षडैक्यं**=षडैक्यभावनेति यावत् । **समयिनां सपर्या**=पूजा अन्तर्यागात्मिका **भवति हि** ॥ १२ ॥

अमृतझरिका

षोढैक्यं विवृणोति—**कलायामिति ।** कला मातृकाक्षराणि । बिन्दु-र्मूलाधारादि षट्चक्रम् । नादः शिवशक्तिसामरस्यलक्षणं श्रीचक्रमित्यग्रे स्वयं विवरीष्यते । तत्रैव च विशेषं व्याख्यास्यामः ।

(१) कलायां पञ्चाशद्वर्णात्मिकायां बिन्दोः षट्चक्रस्यैक्यम् । षट्चक्रस्य मातृकावर्णमयत्वात् । तथा चोक्तं विश्वसारतन्त्रे—

सर्ववर्णात्मकं पत्रं पद्मानां परिकीर्तितम् ॥ इति ।
आदिवर्णात्मकं पत्रं पद्मानां परिकीर्तितम् । इत्यपि पाठः ।

अकारादिवर्णात्मकमित्यर्थः। चक्रेषु वर्णाश्चान्यत्र विभज्य प्रदर्शिताः। तथा हि—

आधारे लिङ्गनाभ्योः प्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के।
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि॥

इति तद्विभाग उक्तः। आधारे-मूलाधारे। लिङ्गनाभ्योः स्वाधिष्ठान-मणिपूरयोः। प्रकटित-हृदये-अनाहते। तालुमूले विशुद्धौ। ललाटे आज्ञायाम्। इति क्रमेण चक्रकथनम्। व्युत्क्रमेण दलकथनं द्वे इत्यादि। ललाटे द्विदलपद्मम्। तत्रेत्यर्थः। षोडशारे कण्ठे षोडशदलपद्मे। द्विदशदशदल इति। द्व्यधिका दश द्विदशेति मध्यमपदलोपिसमासः। अन्यथा द्वादशेति स्यात्। हृदये द्वादशदलपद्मम्। नाभौ दशदलपद्मम्। द्वादशार्धं इति। द्वादशस्यार्धं षट्। षड्दल इत्यर्थः। स्वाधिष्ठाने षड्दलम्। मूलाधारे चतुर्दलमिति। पुनः क्रमेण वर्णानाह-वासान्त इति। वासेत्यादि प्रत्याहारः। वशषसेति। एवं बालेत्यादौ। दीर्घत्वं त्वविवक्षितम्। वस बले-त्यादावेव तात्पर्यम्। हं क्षमिति सानुस्वारनिर्देशात्। वस प्रत्याहारादावपि सानुस्वारा वादयो विवक्षिता इति सूचितम्।

(२-३) प्रथममेतत् सन्धाय तदनु ततः पश्चात् तयोः कलाबिन्द्वोर्नाद-विभवे श्रीचक्ररूपिणि ऐक्यं भावयेत्। भावनाया एव पौर्वापर्यसंभवात्। अथवा तदनु चेति समुच्चयार्थकोऽव्ययसमुदायः। तयोः कलाबिन्द्वोर्विश-कलितयोर्नादविभव ऐक्यमिति व्याख्यानादैक्यद्वयं लभ्यते। नादविभवे कलैक्यं बिन्द्वैक्यं चेत्यर्थं। तत्र बिन्द्वैक्यं "त्रिकोणं चाधारं त्रिभुवननुतेऽ-ष्टारमनघे" इति श्लोके प्रतिपादितमेव मन्तव्यम्। कलापदार्थमातृका-क्षरैक्यं श्रीचक्रे तावदेवं संक्षेपेण बोध्यम्। तथाहि—यरलवशषसहा अष्टवर्णा अष्टकोणे। अननुनासिका वर्गपञ्चकीया विंशतिर्वर्णा दशारद्वये। वर्णपञ्चमास्तु अनुस्वारस्वरूपत्वादनुस्वारस्थानभूतबिन्दावन्तर्भूताः। चतुर्दशारे चतुर्दश स्वराः अकाराद्यौकारपर्यन्ता अन्तर्भूताः। अनुस्वार विसर्गौ तु बिन्दावन्तर्भूता इति। विस्तरेण तु प्रस्तारत्रयप्रस्तावे निरूपयिष्यते।

(४) एवमेकैकानुयोगिप्रतियोगिकमैक्यत्रयमभिधाय द्विप्रतियोगिक-मैक्यत्रयमाचष्टे-तयोर्नादेनैक्यमित्यादि। तयोर्नादबिन्द्वोर्द्वित्वावच्छिन्नयोर्ना-

चेनैक्यम् । प्रथममेकैकशोऽपरापरेणैक्यं विभाव्य पश्चाद् द्वित्वावच्छिन्नानामेकैकेनैक्यं भावयितव्यमिति भावः ।

(५) तदनु ततः पश्चादिति पूर्ववत् । तयोर्नादबिन्द्वोर्द्वित्वावच्छिन्नयोः कलायामप्यैक्यं भावयितव्यम् । पूर्वोक्तसमुच्चायकोऽपि शब्दः ।

(६) तयोर्नादकलयोर्बिन्दावैक्यम् । नादकलयोर्द्वित्वावच्छिन्नयोर्बिन्दावैक्यं भावयितव्यमित्यर्थः ।

हे परशिवे तदेवं पूर्वोक्तक्रमेण यत्त्रितयविभवैक्यं नादबिन्दुकलाविभवत्रयस्य प्रत्येकपरस्परैक्यं द्वित्वावच्छिन्नतदितरपरस्परैक्यं चाभिहितं तदेव षोढैक्यं समयिनां सपर्या भवति । हिकारो भिन्नक्रमः एवकारार्थकश्च । षोढैक्यमेव षोढैक्यभावनैवेति यावत् । समयिनां समयमार्गानुसारिणां सपर्या पूजा भवति । न हि तेषां बाह्यपूजेति भावः ।

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः । इति ।
अन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः ॥

इति च सनत्कुमारसंहितावचनात्समयिनां बाह्यपूजाऽभावो बोध्यः । वक्ष्यमाणरीत्या समयिनामपि साधनावस्थायां बाह्यपूजासत्त्वाभ्युपगमे तु नात्र हिकारस्य भिन्नक्रमत्वमाश्रयितव्यम् । समयिनां यथोक्तं षोढैक्यं सपर्या भवत्येवेत्यर्थ एवात्र स्वीकार्यः । अयं भावः—यथोक्तं षोढैक्यं न पूजाङ्गमात्रं किन्तु सपर्यैव भवति । बाह्यपूजाविरहेऽपि सपर्यापर्याप्तिर्भवतीति यावत् ।

अत्र परशिवे इति सप्तम्यन्तमाश्रित्य तत्र त्रित्वावच्छिन्नैक्यं "त्रितय विभवैक्यं परशिवे" इत्यनेनाभिप्रेतमुच्येत तदा सप्तधैक्यमापद्येतेति तन्न स्वीकृतम् । उत्तरश्लोके कलाबिन्दु नादानामेवोपवर्णनं कृत्वा षोढैक्यस्य पुनः परामर्शदर्शनाच्च तयोः शक्तिशिवयोः प्रधानैक्यमिति श्लोके प्रधानानामेवैक्योपक्रमाच्च । न हि शक्तिशिवयोः प्रधानौ शक्तिशिवावेव भवितुमर्हतः । तथा सति शक्त्या सहैक्यस्यापि वर्णनीयतया न्यूनतापाताच्च ।

यथाश्रुतवादे तु एकैकपदे द्वयोर्द्वयोरैक्ययोरुक्तिदर्शनात् पादत्रये षडैक्यानि स्पष्टानि । परशिवे इति सप्तम्यन्तमेव । तत्र त्रितयैक्यमेवाभिधीयते । न चैवं तयोर्नादविभवे तयोर्नादेनैक्यमित्यत्र पौनरुक्त्यमात्रत्वात् पञ्चैवैक्यानि स्युरिति वाच्यम् । यतः तयोर्नादविभव इत्यत्र तयोरिति

षष्ठ्यन्तम्। तदुभयप्रतियोगिकैक्यं नादविभवे इत्यर्थः। तयोर्नादेनैक्यमित्यत्र तयोरिति सप्तम्यन्तम्। तथा च तदुभयानुयोगिकं नादप्रतियोगिकमैक्यमित्यर्थः। तथा च (१) कलानुयोगिक बिन्द्वैक्यम् (२) नादनुयोगिककलाबिन्दूभयैक्यं (३) नादबिन्दूभयानुयोगिकनादैक्यं (४) कलानुयोगिकनादबिन्दूभयैक्यं (५) बिन्द्वनुयोगिककलानादोभयैक्यं (६) परशिवानुयोगिककलाबिन्दुनादत्रितयैक्यमिति षडैक्यानि संपद्यन्ते। न च कलाया बिन्द्वैक्यवन्नादैक्यमपि वक्तव्यम्। अनुयोगिप्रतियोगिभावभेदेन चापराण्यनेकानि ऐक्यान्यापतन्ति। कलायां बिन्दुनादपरशिवत्रित्वावच्छिन्नैक्यमित्यादिरित्यापि योजने शतश ऐक्यानि स्युरिति वाच्यम्। ऐक्यानां वाचनिकत्वेनैतत्प्रदर्शितैक्यातिरिक्तैक्यंभावनाया अविहितत्वादेव दोषाभावाद्। एतावदैक्यभावनयैव सपर्यापर्यवसनाद्वेति।

लक्ष्मीधराचार्यास्तु सौन्दर्यलहरीटीकायां कलायां बिन्द्वैक्यं बिन्दौ कलैक्यमितिरित्या परस्परैक्ययोर्द्वित्वमाश्रित्य षोढैक्यं व्याचचक्षिरे। ननु चात्र श्लोके तदेव षोढैक्यमभिहितमिति चेन्न। अत्रैवमर्थाऽप्रतीतेः। कलायां बिन्द्वैक्यमित्युक्त्वा कलायामपि तयोरित्येवं पुनर्द्वयोरैक्यकथनवैफल्यस्य स्पष्टत्वाद्। एवमन्यत्रापि। तस्मात् सौन्दर्यलहरीटीकोक्तमैक्यषट्कमिहोपदिश्यमानाद् भिन्नमेव।

नन्वेवं विरुद्धमतसमावेशादप्रामाण्यमैक्यभावनाया आपततीति चेन्न। संप्रदायभेदेन भावनानां भिन्नत्वेऽपि क्षतिविरहात्। तथा च यथा संप्रदायमैक्यभावना कर्तव्या सपर्यात्मिकेति व्यवस्थितविकल्पाश्रयणान्नाप्रामाण्यशङ्कासंभवः।

ननु लक्ष्मीधराचार्यमते यथोक्तयथाश्रुतवादे च न षडैक्यानि संपद्यन्ते। तथाहि कलायां बिन्द्वैक्यभावनायां तुल्यवित्तिवेद्यतया बिन्दावपि कलैक्यं भावितं भवतीति भावनात्रय एव पर्यवसानं भवति। एवं नादायोगिककलाबिन्द्वैक्यभावनायां कलाबिन्दुद्वयानुयोगिकनादप्रतियोगिकभावनाप्यन्तर्भवतीति यथाश्रुतवादेऽपि षट्संख्यापूर्तिर्न भवतीति चेदुच्यते। यद्यपि तुल्यवित्तिवेद्यतया परस्परैक्यं प्रतीयते तथापि तुल्यवित्तिवेद्यतयाऽवगम्यमानं गौणं भवति। तथा च गौणमुख्यभावभेदेन षड्भावनासिद्धिः। न च गौणमुख्यभावभेदासिद्धिः। प्रकारताविशेष्यताभेदेन तत्सिद्धेः। तथा हि पर्वतो वह्निमानित्यत्र वह्निनिष्ठाधेयतानिरुपिताधिकरणता पर्वते प्रतीयते। पर्वतनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयता च तुल्यवित्तिवेद्यतया

वह्नौ प्रतीयते । तथापि वह्नेरेव प्रकारता, पर्वतस्यैव च विशेष्यता । पर्वते वह्निरित्यत्रापि यथोक्तमुभयं भासते । तथापि पर्वतस्यैव तत्र प्रकारता वह्नेस्तु विशेष्यतैव । यथा च प्रकारताविशेष्यतयोरुभयत्र पर्वतो वह्निमान्, पर्वते वह्निरित्यत्र भेदादुभयोः प्रतीत्योर्भेद एव । तथाऽत्रापि 'कला बिन्दुः' 'बिन्दुः कला' इत्यनयोरर्थैक्येऽपि प्रतीत्योर्भेद एव । यदि पुनरुदयनाचार्यादिमतेन ।

"अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्"

इति सिद्धान्तमनुसृत्यार्थभेदविरहे–प्रतीतिभेदसंपादनं दुर्घटमिति मन्यते तदा संसर्गीयप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरपि भानमङ्गीकृत्य प्रतीतिभेदः संपाद्यः । तथा च कलाबिन्द्वादौ प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरुभयोः सत्त्वेऽपि कलाबिन्दुरित्यत्र बिन्दौ केवलं प्रतियोगित्वभानम् । बिन्दुः कलेत्यत्र केवलमनुयोगित्वभानं तत्र । न च संसर्गतावच्छेदकसंसर्गान्तरभानं नोपेयतेऽनवस्थापातादिति वाच्यम् । यतो न प्रतियोगित्वानुयोगित्वे संसर्गताख्यविषयताविशेषेण भासेते । किन्तु भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वानुयोगित्वे एव प्रकारताविशेष्यते इति स्वीकारात् प्रकारतात्वविशेष्यतात्वाभ्यामेव । न हि सर्वानुभवसिद्धप्रतीतिभेदस्यान्यथोपपादनसंभव इति न भावनाषट्कत्वमनुपपन्नम् । अन्ये तु घटो मृदित्यादौ घटे मृदभेद सत्त्वेऽपि मृदि घटाभेदानभ्युपगमान्न तुल्यवित्तिवेद्यतया परस्पराभेदभावमित्याहुरित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्येति ।

अत्र चैक्यं सपर्येत्युक्तावैक्यस्याऽक्रियात्मकस्य सपर्यात्वायोगात्साध्यरूपत्वावश्यंभावादैक्यभावनैव विवक्षितार्थं इति ॥ १२ ॥



कला नादो बिन्दुः क्रमश इह वर्णाश्च चरणं
षडब्जं चाधारप्रभृतिकममीषां च मिलनम् ।
तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां
चतुर्धैक्यं तेषां भवति हि सपर्या समयिनाम् ॥१३॥

इस शास्त्र में कला, नाद, बिन्दु ये तीन क्रमशः (१) पचास मातृकाक्षर (२) श्रीचक्र तथा (३) मूलाधारादि षट्चक्र को कहते हैं। इनका परस्पर मिलन ही पूर्वोक्त षोढा (छः प्रकार का) ऐक्य है। जिन समय मार्गियों ने इस षडैक्य का सम्पादन किया उन्हीं की चतुर्विध ऐक्यरूपी पूजा संपन्न होती है ॥१३॥

अन्वयार्थबोधिनी

इह = अस्मिन् शास्त्रे **कला नादो बिन्दु**रिति त्रितयं **क्रमशः वर्णाश्च** = पञ्चाशन्मातृकाक्षराणि, **चरणं च** = श्रीचक्रम्, **आधारप्रभृतिकं** = मूलाधारादिकं **षडब्जं च** द्रष्टव्यम् । **अमीषां च** = कलानादबिन्दूनां **मिलनं**— तादात्म्यापत्तिलक्षणं **तदेवं** = पूर्वोक्तप्रकारेण निर्णीतं **षोढैक्यं** = षोढैक्यभावनालक्षणपूजनं **येषां खलु समयिनां भवति तेषां समयिनां** = समयमार्गिणां **चतुर्धैक्य**मग्रे स्फोरयिष्यमाणं **सपर्या भवति हि** = संपद्यत एव । कलाबिन्दुनादैः सह मन्त्रस्याप्यैक्यं चतुर्धैक्यम् ॥१३॥

अमृतझरिका

कलायां बिन्द्वैक्यमित्यत्र कलादीनां नाममात्रनिर्देशात्तत्स्वरूपाणां च तन्त्रान्तरेषु मतभेदेन स्थितत्वादत्राभिप्रेतानि तदीयस्वरूपाणि वक्तव्यानीति तान्येव वदंश्चतुर्धैक्यलक्षणं परमसपर्यां तद्योग्यसमयवर्णनपुरःसरमाह— **कलेति** । कला नादो बिन्दुश्च क्रमशः इह शास्त्रे इमे बोध्याः । के त इत्याह—**वर्णाश्चेति** । वर्णा मातृकाक्षराणि । चरणं श्रीचक्रम् । तथा मूलाधारप्रभृतिकं षडब्जम् । कला नाम मातृकाक्षराणि । नादो नाम श्रीचक्रम् । बिन्दुर्नाम मूलाधारादिषडब्जमित्यर्थः । तत्र वर्णाः पञ्चाशत्प्रसिद्धाः । कथं ते कलाशब्देनोच्यन्त इति चेद् ? **"कलशब्दसंख्यानयोरि"ति** धातुपाठे कलशब्दस्य शब्दार्थकत्वदर्शनाच्छब्दविशेषपरत्वेन

संकोचादिति गृहाण। "कालबन्धोः कलात्मन" इति शारदातिलकव्याख्याने राघवभट्टेन अन्ये त्वित्यादिना "कश्च लश्च इति प्रत्याहारेण व्यञ्जनानि गृहीतानि अश्चेत्यनेन स्वराः अपि गृहीता" इति व्याख्यानाच्च कलाशब्दस्य सकलवर्णार्थकत्वम्। वस्तुतस्तु

षोडशेन्दोः कला भानोर्द्विद्वादश दशानले।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी॥

इति लक्ष्मीधराव्याख्यायामुद्धृतवचनात् कलाशब्दस्य पञ्चाशद्वर्णात्मकत्वम्। यद्यपि शतं चाष्टौ वह्नेरित्यादिना मूले वह्न्यादीनामष्टोत्तरशतादिकलायुक्तत्वमभिहितं तथापि तत्प्रकारान्तरमिति न विरोधः।

चरणमित्यनेन श्रीचक्रमुच्यते। "तव चरणकोणाः परिणताः" इति सौन्दर्यलहरीपाठस्वीकर्तृभिश्चरणशब्दस्य श्रीचक्रार्थकरणात्। इहापि सप्तदश श्लोके "चतुर्द्वाःप्राकारस्त्रितयमिदमेवाम्ब चरणमि"ति पाठान्तरमुपलभ्यते। उभयत्र शरणमिति पाठे त्वत्रापि चरणमित्यस्य स्थाने शरणमिति पाठः सुगम एव। तथा च नादश्चरणं श्रीचक्ररूपमिति स्थितम्। ननु शिवशक्त्योः समवाय एव नाद उच्यते। तथा चोक्तं शारदातिलके—

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः॥ इति।

प्रयोगसारे चाभिहितं—

बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगो भवेन्नादः। इत्यादि।

सत्यम्। श्रीचक्रमपि शिवशक्तिसमवायात्मकमेव। तथा चोक्तं—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥ इति।

शिवशक्तितादात्म्यलक्षणसमवायश्च त्रिकोणं ते वृत्तत्रयमित्यधस्तादुपपादितमेव।

अपरा व्याख्या—नादः किल शब्दब्रह्मरूपम्। तस्य परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीभावेन भेदचतुष्टयम्। तत्र नादो बैन्दवरूपम्। "नादाद् बिन्दुसमुद्भवः" इत्युक्तेः कार्यकारणैक्यात्। परा त्रिकोणात्मिका। पश्यन्ती अष्टकोणात्मिका। मध्यमा दशारद्वयात्मिका। वैखरी चतुर्दशा-

रात्मिका। शक्ति चक्राभिन्नं च शिवचक्रमित्युक्तम्। तथा च चक्रस्य नादात्मकतोपपन्नेति।

आधारप्रभृतिकं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धयाज्ञालक्षणं षडब्जं षट्चक्रंबिन्दुरित्यनेनोच्यते। बिन्दोः सर्वमूलत्वात्। अत एव संमोहनतन्त्रे—

वादिसान्तान् दलस्थार्णान् संहरेत्कमलासने।
तं षट्पत्रमये पद्मे बादिलान्ताक्षरान्विते—इत्याद्यारभ्य
द्विपत्रे हक्षलक्षिते योजयित्वा ततः सुधीः
तदर्णौ संहरेद्बिन्दौ"

इत्येवं सवर्णषट्कमलसंहारं बिन्दावाह। किं च "सहस्रारं बिन्दुरि"ति वक्ष्यमाणत्वात् सहस्रारस्य च सर्ववर्णमयत्वेन सर्ववर्णमयमूलाधाराद्यभिन्नत्वाद्बिन्दुशब्दत्वं षट्चक्रस्येति।

तदेवं = पूर्वोक्तप्रकारेण अमीषां च कलाबिन्दुनादानां हि। चो ह्यर्थे। मिलनं तादात्म्यापत्तिरूपं षोढैक्यं प्रतिपादितं येषां समयिनां खलु भवति भावनाविषयतापन्नं भवति तेषामेव समयिनां चतुर्धैक्यं चतुर्धैक्यरूपा सपर्या पूजा भवति सम्पद्यत इत्यर्थः। हिकारः पूर्ववद् योजनीयः।

किमिदं चतुर्धैक्यमिति चेद् ? उच्यते। षोढैक्यं यदुक्तं तत्र वस्तुतस्त्रयाणामेव पदार्थानां सत्त्वात् तत् त्रिधैक्यमेव। तत्र च वक्ष्यमाणेन मन्त्रेणैक्ययोजनाच्चतुर्धैक्यं भवेत्। तथा च कलाबिन्दुनादमन्त्राणां चतुर्णामैक्यमिह चतुर्धैक्यमुच्यते। तत्र कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे इति क्रमोक्तेस्त्रयाणामुक्तक्रमेण संपादनीयताऽवगम्यते। मन्त्रस्तु पश्चाद् वक्ष्यत इति तेन सहैक्य मपि षोढैक्यसंपादनोत्तरमेव संपद्यत इत्येतदर्थागम्यते। तदेवेहोक्तं षोढैक्यं येषां भवति तेषां चतुर्धैक्यम्। अपि च कलाद् बिन्दुनादानां प्रथममपि ज्ञानं संपत्तुमर्हति। मन्त्रज्ञानं तु गुरुप्रासादानन्तरमात्रलभ्यमिति ततोऽपि पौर्वापर्यभावः।

ननु षट्चक्रादिनिरूपणसमनन्तरं श्रीपूर्णानन्देन—

ज्ञात्वैतत्क्रममुत्तमं यतमना योगी यमाद्यैर्युतः
श्रीदीक्षागुरुपादपद्मयुगलामोदप्रवाहोदयात्।
संसारे न हि जन्यते न हि कदा संक्षीयते संक्षये
पूर्णानन्दपरम्पराप्रमुदितः शान्तः सतामग्रणीः॥

इत्युक्तत्वात् षट्चक्रक्रमचिन्तनस्यापि दीक्षागुरोरेव प्राप्तव्यत्वाद् षोढैक्यं गुरुप्रसादतः पूर्वमेव संपद्यत इत्ययुक्तं वचः। कङ्कालमालिनी-तन्त्रे च—

सहस्रदलपद्मस्थमन्तरात्मानमुत्तमम्।
तस्योपरि नादबिन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वलम्॥
तस्मिन्निजगुरुं नित्यं रजताचलसंनिभम्।

इत्यादिकं गुरुध्यानमभिहितम्। एवं श्रीचक्रमध्येऽपि गुरुपूजनविधा-नात्तदीयसाङ्गस्वरूपज्ञानमपि गुरुमन्तरा न सम्भवतीति चेत्? न। गुरोरावश्यकत्वेऽपि कलाबिन्दुनादानां गुरोरेवावगन्तव्यत्वनियमविर-हात्। किं च मन्त्रः किल दीक्षागुरोरेव प्राप्यः। न त्वेवं कलादिः। अत एव श्रीपूर्णानन्दीयवचने दीक्षागुरुरिति प्रतीकमुपादाय व्याख्यातं काली-चरणेन—"प्रथमोपस्थितत्वेन गौरवातिशयेन च तद्ग्रहणम्। तद-भावेऽन्यगुरोरपि ज्ञातव्यम्।

अत एवोक्तं—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥ इति।

न चैवमपि सहस्रारादिचिन्तनसमये गुरुचिन्तनमावश्यकमिति वाच्यम्। पद्म-कुण्डलिनी-देवतादिस्वरूपाणां सर्वशरीरेष्वेकत्वेऽपि उपदेष्टृ-गुरूणामेकरूपत्वविरहेणानित्यत्वाद्। मन्त्रदीक्षातः प्रागपि यथाकथंचि-त्प्राप्तकलादिज्ञानेन गुरोस्तत्र चिन्तनसम्भवाच्च। मन्त्रः पुनर्गुरुमुखा-देवावगन्तव्य इत्यस्ति नियम इति। मन्त्रोपदेशे प्राप्तेऽपि प्रथमं षोढैक्यमेव भावनीयं पश्चान्मन्त्रेणैक्यमिति नियमाच्चेति दिक्।

ननु मन्त्रे कथं कलाबिन्दुनादानां मेलनमिति चेद्? उच्यते। वक्ष्य-माणप्रत्याहाराश्रयणेन मन्त्रे कलोपपत्तिः। ह्रींकारोपरि बिन्दुसत्त्वा-द्बिन्दूपपत्तिः। बिन्दुना तदुपरिप्रतीयमाननादसंग्रहान्नादोपपत्तिश्च। न च ह्रींकारोपरि यो बिन्दुः सोऽनुस्वारलक्षणो न तु षट्चक्रलक्षणः। एवं तल्लक्ष्यनादोऽपि न श्रीचक्रलक्षण इति वाच्यम्। ह्रींकारत्रयस्य सोम-सूर्यानलात्मकतया षट्चक्राणां च तद्रूपत्वात् षट्चक्रग्रहणोपपत्तिः। नादस्तु शिवशक्तिसमवायात्मक इत्युक्तमेवेति।

ननु भगवत्या सहाप्यैक्यं वक्तव्यमिति चतुर्धैक्यात्मकसपर्याया न्यूनत्वमेव। तथा च पञ्चविधैकत्वं वक्तुं युक्तमिति चेन्न। तस्य स्वतः सिद्धत्वात्। अन्यथाऽक्षरचक्रादीनां वैयर्थ्यमेवापद्येत। न हि कर्गलादौ लिखितान्यक्षराणि भूर्जपत्रादौ लिखितश्रीचक्ररेखा वा किंचित्कर्तुं पारयति यावत्तत्र शक्तिनिवेशो न भवति। अपि च

यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणी
मन्त्रवत्पूजिता देवी सहसैव प्रसीदति

इति कुलार्णववचनाद् "मन्त्रात्मानो देवताः" इति मीमांसकसिद्धान्ताच्च मन्त्रदेवतयोरभेदान्न तत्रैक्यभावना पृथगुच्यत इति।

सौन्दर्यलहरीटीकायां लक्ष्मीधरायां तु चन्द्रकलाविद्यानुष्ठाननिरूपणे (१) मातृकामन्त्रयोरैक्यं (२) मन्त्रचक्रयोरैक्यम् (३) चक्रनित्ययोरैक्यम् (४) नित्याप्रतिपदादिकलयोरैक्यमित्येवं चतुर्धैक्यं तदनुसन्धानं चोपपादितम्।

अपरे तु (१) मन्त्रचक्रैक्यं (२) देहचक्रैक्यं (३) नादबिन्द्वैक्यं (४) देवोतोपासकैक्यमिति चतुर्धैक्यं व्याचक्षते। तत्र मन्त्रचक्रैक्यं प्राग् व्याख्यातम्। देहचक्रयोरैक्यं तु तयोर्नवयोनिनिष्पन्नत्वसाम्यात्। तदुक्तं कामिकायां--

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिधातवः शक्तिमूलकाः।
मज्जाशुक्लप्राणजीवधातवः शिवमूलकाः॥
नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भवः।
दशमीयोनिरेकैव पराशक्तिस्तदीश्वरी॥ इति।

देवतोपासकैक्यं तु 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' 'नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेद्' इत्यादिविधिनिषेधाभ्यामवगम्यते। तदैक्यभावनं च "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मी" त्येवं श्रुत्यैवाभिहितं द्रष्टव्यम्।

ननु प्रथमव्याख्याने यथोक्तविधिप्रतिषेधगम्यदेवतोपासकैक्यभावनाविरहात् कथं सा समयिनां सपर्या भवेदिति चेन्न। षट् चक्रचिन्तनस्यैक्यचिन्तनान्तर्गतत्वात् तस्य च "मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुष" इत्यादिश्लोकेन प्रथममेव प्रतिपादितत्वात्तत्रैव प्रथमं हृदयस्थं दीपकलि-

काकारं जीवं मूलाधारे नीत्वा कुण्डलिन्या सह तं च सहस्रारे नीत्वा तत्र परमशिवेन योजनीयत्वात् । तदुक्तं श्रीपूर्णानन्देन—

नीत्वा तां कुलकुण्डलीं लयवशाज्जीवेन सार्धं सुधीः
मोक्षे धामनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनि । इति ।

अपरे पुनरन्यथा चतुर्धैक्यं प्रतिपादयन्ति । तच्च पिण्डब्रह्माण्डैक्यादिरूपम् । तथा चोक्तम्—

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ॥ इति ।

एतत्पुनरोंकारोपासनायामुपयुक्तमपि श्रीविद्योपासनायां तदुपयोगे प्रमाणं मृग्यमेव । त्रयोविंशचतुर्विंशश्लोकयोः पर्यालोचने चास्माभिः प्रथममभिहितं नादबिन्दुकलामन्त्रैक्यचतुष्टयमेवात्राचार्याभिप्रेतमिति प्रतिभाति । तथापि यथासम्प्रदायं सर्वाण्येव प्रमाणारूढानि मतानि सम्यञ्च्येवेति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवती
चतुर्धैक्यं तेषां भवति च चतुर्बाहुरुदिता ।
धनुर्बाणानिक्षूद्भवकुसुमजानङ्कुशवरं
तथा पाशं बिभ्रत्युदितरविबिम्बाकृतिरुचिः ॥१४॥

जो समयमार्गी छः प्रकार की पूर्वोक्त एकता से पूजा करते हैं उनके मणिपूर में बिजली की रेखाओं के मध्य में देवी स्फुरित होती है। उन्हीं की चार प्रकार की एकतारूपी पूजा सम्पन्न होती है। उन्हीं के सामने गन्ने का धनुष, पुष्प का बाण, अंकुश तथा पाश को लिए हुए चार हस्तों से युक्त प्रातःकालीन सूर्यसदृश कान्तिवाली भवानी प्रत्यक्ष होती है ॥ १४ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

येषां समयिनां षोढैक्यं येषां वा भगवत्यां परमभक्त्युद्रेकस्तेषां **मणिपूरे** = मणिपूरचक्रदेशे **तडिल्लेखामध्ये** = रेखायमाणविद्युन्मध्ये **भगवती** = श्रीदेवी **स्फुरति** = स्वयं प्रकाशमाना भवति । **तेषामेव चतुर्धैक्यं** = सम्पद्यते नान्येषाम् । **तेषां च, इक्षूद्भवम्** = ऐक्षवं धनुः **कुसुमजान्** = कौसुमान् बाणांश्च किं च **अङ्कुशवरं** = श्रेष्ठमङ्कुशं **तथा पाशं** च **बिभ्रती** = धारयन्ती **चतुर्बाहुः** = बाहुचतुष्टयवती **उदितरविबिम्बाकृतिरुचिः** = उदयमानसूर्यबिम्बाकारकान्तिकान्ता **भगवती उदिता** = उद्भूता = प्रकटा **भवति** ॥ १४ ॥

अमृतझरिका

येषां षोढैक्यं तेषां चतुर्धैक्यमित्युक्तम् । प्रथमसपर्यायाः फलं द्वितीया सपर्यैव । तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते योगीश्वरैः ।

भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् । इति ।

अधुना चतुर्धैक्यभावनालक्षणसपर्यायाः फलमाह—**तडिल्लेखेति** । अत्र येषामिति पूरणीयम् । तेषामिति दर्शनात् । यद्वा येषामितिपदं पूर्वश्लोकादनुवर्त्य व्याख्येयम् । येषां चतुर्धैक्यं चतुर्धैक्यभावनालक्षणा सपर्या सम्यक् सम्पद्यते तेषां मणिपूरे तडिल्लेखामध्ये भगवती स्फुरतीति योजना ।

तडिल्लेखामध्ये स्फुरणादेवास्या भगवत्यास्तडित्त्वतीति नामापि बोध्यम्। शिवोऽप्यत्र तडित्त्वानेव भवति। यद्यपि योगिभिर्मणिपूरेऽग्नितत्त्वमेव स्वीक्रियत इति जलतत्त्वकार्यमेघपटलमध्यविद्योतनीयविद्युल्लतायास्तन्मते न सम्भवः। तथाप्यस्मन्मते मणिपूरे जलतत्त्वमेवाङ्गीकृतं, स्वाधिष्ठान एवाग्नितत्त्वोपगमादिति न तडिल्लेखाया अनुपपत्तिर्न वा तत्र तडित्त्वतः शिवस्य तडित्वत्याः शक्तेश्चानुपपत्तिः। अत एव सौन्दर्यलहर्यामाचार्यैरप्यभिहितम्—

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तमःश्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥ इति ।

अस्यार्थः—तिमिरनाशकस्फुरणरूपया शक्त्या सौदामिन्याऽमृतेश्वर्या हेतुभूतया तडित्त्वन्तं विद्युत्त्वन्तं देव्या एव स्फुरतां नानारत्नानामाभरणैः परिणद्धं परिबद्धमिन्द्रधनुर्यस्य तं मणिपूरैकशरणं मणिपुरवास्तव्यं स्वाधिष्ठानगतसंवर्तहरमिहिरतप्तत्रिभुवनाऽऽसेचनपरं वर्षन्तं तमःश्यामं मेघं मेघरूपममृतेश्वरं निषेव इति तडित्त्वन्तमित्युक्तेरेवामृतेश्वरस्यामृतेश्वर्याश्च तडित्त्वान् तडित्त्वतीति च नाम। सिद्धघुटिकायां च स्पष्टतरं—

मणिपूरैकवसतिः प्रावृषेण्यः सदाशिवः।
अम्बुदात्मतया भाति स्थिरसौदामिनी शिवा ॥ इति ।

सौन्दर्यलहर्याः **केचन व्याख्यातारस्तु** स्वाधिष्ठानमणिपूरयोः संज्ञाव्यत्यय एव न तु नाभिगतमणिपूरे जलतत्त्वं स्वाधिष्ठाने वाऽग्नितत्त्वं **"तमःश्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणमि"**ति **"तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाये"**ति च प्रतिपादयन्ति। प्रत्यक्षं च नाभावग्नितत्त्वं स्वाधिष्ठाने च जलतत्त्वम्। नाभिस्थितेन हि समानवायुप्रज्वलितजठराग्निनाऽशितपीतादिसमीकरणं भवति। स्वाधिष्ठाने चोपस्थरूपे जलं प्रत्यक्षम्। न च संज्ञाव्यत्ययेऽपि प्रमाणाभावः। शान्तनवेन संज्ञाव्यत्ययस्वीकारात्। तेनोपस्थगतचक्रं मणिपूरशब्देन नाभिगतचक्रं स्वाधिष्ठानशब्देन च व्युत्पादितम्। अत एव **"महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने"** इत्यादावाधारादाज्ञापर्यन्तचक्राणां क्रमिकनिर्देशोपपत्तिराचार्याणाम्। "तवाज्ञाचक्रस्थमि"त्यारभ्य षट्श्लोक्या आज्ञा-

विशुद्ध्यनाहतस्वाधिष्ठानमणिपूरमूलाधाराणां क्रमनिर्देशोपपत्तिश्चेति वदन्ति ।

लक्ष्मीधराचार्यास्तु "आत्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी"ति श्रौततत्त्वक्रममादाय मणिपूरस्वाधिष्ठानयोः क्रमव्यत्ययः एव । पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशक्रमश्च सुप्रसिद्ध इति "महीं मूलाधार"इत्यादावपि क्रमव्यत्ययेन निर्देशोपपत्तिरिति समादधुः ।

नन्वेवमुभयोर्मतयोः कतरद् वास्तविकमिति चेद् ? लक्ष्मीधरीयमतमेव सम्यगिति प्रतीमिः । तत्र हठयोगादिषु स्वाधिष्ठाने जलतत्त्वं मणिपूरे चाग्नितत्त्वं कामं भवतु । तथापि शक्तोपासनायां तन्त्रेषु स्वाधिष्ठानेऽग्नितत्त्वं मणिपूरे च जलतत्त्वमित्येव स्थितिः । अत एव मनोमार्गं जित्वेति श्लोकव्याख्यायां प्रागुदाहृतवामकेश्वरमहातन्त्रवचनेषु

"वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्"

इत्येतत् संगच्छते । तत्र स्वाधिष्ठानगतो वह्निरिति स्पष्टमेवाभिहितम् । न च तत्रापि स्वाधिष्ठानपदं संज्ञाव्यत्ययेन मणिपूरपरमिति शक्यमभिधातुम् । अपानवायोराघातस्य मणिपूरपर्यन्तत्वायोगात् । तथाहि तत्रोक्तं—

पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्यसाधकः ।
वायुमूर्ध्वंगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ॥ इति ।

गुदमाकुञ्च्येत्युक्तेर्मूलाधारशक्तेरूर्ध्वप्रवर्तितत्वं गम्यते । तेनोपस्थोपरिस्थस्वाधिष्ठानपर्यन्तमेव वाय्वाघातः संभाव्यते । न तु नाभावपि । यथाकथंचिद् वाय्वाघातस्य नाभिगतमणिपूरपर्यन्तत्त्वस्वीकारेऽप्युत्तरश्लोकसंगतिर्न भवति ।

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।

इत्युत्तरत्र पठ्यते । तथा च वाय्वाघातेन नाभिगतज्वलनप्रज्वलनेऽपि तस्य स्वाधिष्ठानगतजलतत्त्वेन व्यवधानात् कथं ततोऽपि नीचैःस्थितस्य सर्पराजस्याघातसम्भवः । जलतत्त्वेन हि शाम्यत्यग्निवेगः । तथा च नाभिस्थज्वलनस्य स्वाधिष्ठाने प्रशमात्तदाघातो मूलाधारे नैवोपपद्येत । स्वाधिष्ठानेऽग्नितत्त्वस्वीकारे च गुदाकुञ्चनवायूर्ध्वगमनयत्नाभ्यामूर्ध्वप्रवर्तमानापानवाय्वाघातः समनन्तरस्वाधिष्ठानाग्निप्रज्वलनेन तदाघातश्च सर्पराजस्य नितरां घटेते । न च प्रत्यक्षविरोधः इति वाच्यम् । प्रत्यक्षतः

कृत्स्ने शरीरे जलस्याग्नेश्चोपलम्भात्। इह हि तत्त्वमात्रचिन्तनं क्रियते, न तु स्थूलजलाग्न्योः। तत्र च भावनायाः प्रधानत्वाद् यत्र यद्भावना क्रियते तत्र तदभिव्यक्तिस्वीकारेण स्वाधिष्ठानेऽग्नितत्त्वस्य मणिपूरे जलतत्त्वस्य चाभिव्यक्त्युपपत्तेः। अत एव हठयोगिनां स्वाधिष्ठाने जलतत्त्वं मणिपूरेऽग्नितत्त्वमित्यभ्युपगमेऽपि न विरोधः। तथा भावनया तत्र तत्तत्त्वाभिव्यक्तेः। न चैवमपि हठयोगिनां कुण्डलिनीप्रबोधो दुर्घटः स्याद्, मणिपूराभिव्यक्ताग्नितत्त्वाऽघातस्य स्वाधिष्ठानजलव्यवहितमूलाधारगतसर्पराजेऽसंभवादिति वाच्यम्। तत्र प्रक्रियान्तरस्यैव कुण्डलिनीप्रबोधकत्वात्। तदप्यस्माभिर्मनोमार्गं जित्वेत्यत्र प्रदर्शितम्। तथा हि **"तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा"** इत्यत्र देहज इति विशेषणेन कृत्स्नदेहतापस्योक्तत्वात्तत्प्रभावस्य मूलाधारेऽप्यवश्यंभावेन तावन्मात्रेण कुण्डलिनीप्रबोधोपपत्तेः। किमुक्तं भवति? शाक्तोपासनाप्रक्रियायां स्वाधिष्ठानेऽग्नितत्त्वभावनाप्रयुक्ततत्प्रज्वलनसमनन्तरतदाघातवशात्कुण्डलिनीप्रबोधः। हठयोगे मणिपूरेऽग्नितत्त्वभावनाप्रयुक्ततत्प्रज्वलनजनितकृत्स्नशरीरतापसंतप्ततया कुण्डलिनीप्रबोध इति। तस्मात् सौन्दर्यलहर्यां क्रमव्यत्यय एव न तु संज्ञाव्यत्यय इति सिद्धम्।

अत्रापि मणिपूरशब्दः स्वाधिष्ठानवाची न कथंचिदप्युपपद्यते। कुत इति चेत्? समयिनां मूलाधारस्वाधिष्ठानयोस्तामिस्राख्ययोः पूजाविरहस्य 'भवेन्मूलाधारमि'त्यादि श्लोके स्वयमेवाचार्यैर्वक्ष्यमाणत्वात्। इह हि 'चतुर्धैक्यं तेषां भवति हि सपर्या समयिनामि'त्युपक्रम्य 'तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवती'त्येवं समयिनां सपर्याया एव मणिपूरे भगवतोस्फुरणस्य स्पष्टमुक्तत्वात्। अग्रेऽपि च 'मणिरिति जलम्' इत्यादिना मणिपूरशब्दं जलपूरार्थतया व्युत्पाद्य मणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञानामेव वर्णनं करिष्यते। अन्यथा संज्ञाव्यत्ययेन मणिपूरस्य मूलाधारोपरिस्थानत्वे तदुत्तरं स्वाधिष्ठानमपि ब्रूयात्। तस्मात् तथा प्रदर्शितव्यवस्थैवात्र युक्तेत्यलं विस्तरेण।

फलान्तरमाह—**भवति चेति**। च किं च येषां चतुर्धैक्यं तेषामेव चतुर्बाहुरुदितरविबिम्बाकृतिरुचिर्भगवती उदिता प्रकटा भवति। उदितेत्यादिकर्मणि निष्ठा। उदयमानेत्यर्थः। तथाविधं यद्रविबिम्बं तदाकृतेरिव रुचिर्यस्याः सा तथा। प्रथमं तावत् स्फुरिता भवति। पश्चात् प्रकटा भवतीत्यर्थः। कः स्फुरणप्रकटनयोर्विशेषः इति चेत्? उच्यते। प्रथमं

भावनया प्रत्यक्षेव भवति । पश्चात् साक्षात्प्रत्यक्षैव भवतीति । यद्वा उदितरविबिम्बेति दृष्टान्ताद् यथा सूर्योदयात् प्रागरुणप्रकाशस्फुरणं भवति सूर्योदये सति च सूर्यबिम्बस्फुरणं भवति तथा चतुर्धैक्यसपर्यावतां प्रथमं मणिपूरे भगवत्याः प्रकाशस्फुरणं भवति । पश्चादुदितरविबिम्बवच्चतुर्बाहुरूपप्रत्यक्षं भवतीति । 'चतुर्बाहुरुदिते'त्युक्तेः प्रथमं चतुर्बाहुस्फुरणं न भवति किन्तु केवलं प्रकाशस्फुरणमेवेति सूचितं भवति ।

चतुर्बाहुत्वमेव विशदयति—**धनुर्बाणानित्यादि** । धनुश्च बाणाश्च धनुर्बाणास्तान् धनुर्बाणान् । अस्यैव विशेषणम्—**इक्ष्वित्यादि** । इक्षूद्भवं च कुसुमजाश्चेतीक्षूद्भवकुसुमजास्तानिक्षूद्भवकुसुमजान् । अत्र यथासंख्यमन्वयः । इक्षूद्भवं धनुः कुसुमजाश्च बाणा इति । ननु **"संज्ञासमासनिर्देशात्सर्वप्रसङ्गेऽनुदेशस्य तत्र यथासंख्यवचनं नियमार्थम्"** इति कात्यायनवार्तिकवचनाद् समासस्थले व्याकरणे सूत्रेण यथासंख्योपपत्तावपि लोके सर्वस्योद्देशस्य सर्वोऽनुदेशः प्राप्नोति । तथा चाह **कैयटः—"लोकेऽप्यजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्ताविति समासनिर्देशे नास्ति क्रमनियमः"** इति । तथा चात्र 'धनुर्बाणानिक्षूद्भवकुसुमजानि'ति कथं यथासंख्यान्वयलाभ इति चेन्मैवम् । नियमेन क्रमलाभाभावेऽपि क्रमः कुत्रापि न भवतीति वक्तुमशक्यत्वात् । अत एव **"तत्र यथासंख्यवचनं नियमार्थम्"** इत्युक्तम् । यथासंख्यत्वायथासंख्यत्वयोः प्राप्तयोर्यथासंख्यवचनं यथासंख्यत्वनियमार्थमित्यर्थः । **यत्तु** नागेशभट्टेनोक्तम्—**"एवं चेदं सूत्रं द्वन्द्वसमास**निर्दिष्टसम्बन्धिनोस्तथान्वयेऽपि द्वन्द्वस्य साधुत्वं बोधयति स्वशास्त्रे । तेन लोके आद्यन्तौ वर्णानां विप्रशूद्रावि"त्यादेः साधुत्वं नेतीति । **तच्चिन्त्यम्** । लोके अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्यत्र क्रमनियमाभावमात्रं वदता कैयटेन विरोधात् । नियमार्थमिति भाष्यवार्तिकोभयविरोधाच्च । सर्वस्योद्देशस्य सर्वोनुदेशः प्राप्नोतीति भाष्यविरोधाच्च । प्रयोगस्यैवासाधुत्वेन प्राप्तेर्दूरनिरस्तत्वात् । लोके प्रयोगस्यासाधुत्वे स्वशास्त्रे तत्साधुत्वमित्यपि आपातरमणीयम् । न हि सूत्राणि साधुत्वं कारयन्ति । किन्तु ज्ञापयन्त्येव । अनादिपरम्परासिद्धाः प्रयोगाः साधवोऽसाधवो वा न सूत्रेण स्वशास्त्रे विपरीताः शक्यन्ते कर्तुम् । न च 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ती'ति भाष्योक्तेः सौत्रप्रयोगसाधुत्वमिति वाच्यम् । तथा सति छन्दःसादृश्यमेव साधुत्वं बोधयति न तु **"यथासंख्यमनुदेशः समानामि"**ति सूत्रमिति 'इदं सूत्रं साधुत्वं बोधयति स्वशास्त्र' इति फलवेव वचनम् । न च **"सविशेषणानां**

वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत'' इति ''**समर्थः पदविधि**''रिति सूत्रस्थभाष्याद् धनुर्बाणानितिसमासाऽसाधुत्वमिति वाच्यम्। राजपुरुषोऽभिरूप इति प्रयोगासाधुत्वापत्तेः। यदि प्रधानस्य सापेक्षस्यापि भवति समास इत्युच्यते तदा द्वन्द्वे उभयपदार्थप्राधान्यात्कथं न समासः। न चैवमपि 'इक्षूद्भवकुसुमजानि'त्यस्य विशेषणत्वान्न प्रधानत्वमिति वाच्यम्। समासकाले तयोः प्रधानत्वात्। कथमन्यथा देवदत्तयज्ञदत्तयोर्गृहमिति प्रयोगः। तथा च भाष्ये प्रयोगौ—'राज्ञो गवाश्वपुरुषा' इति 'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राणां गौरि'ति च। सापेक्षस्थलेऽपि गमकत्वाद् देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादि भाष्ये साधितम्। तथा च यथासंख्यान्वयेऽपि गमकत्वादेव समासो भविष्यति। अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्यत्र अजाविधनश्चाजाविधनश्चाजाविधनाविति विग्रहे उभयोरुभयधनत्वसम्भवात्क्रमनियमाभावः। एवं ''**वुञ्छणा**''दिसूत्रेऽनियमप्रसक्तिवारणाय यथासंख्यसूत्रोपयोगः। किं च ''**एचोऽयवायावः**'' इत्यादौ एचः संज्ञात्वेन एच्त्वेन चतुर्णामविशेषेणोपस्थितौ अनुशासनविशेषं विना तत्र यथासंख्यान्वयः कथंचिदपि न शक्यसम्भावनः। क्वचित्पुनर्विवक्षान्तरवशाद् यथासंख्यसूत्राप्रवृत्तिः। तत्पुनर्व्याख्यानादवसीयते। तथा च तत्रैव भाष्यं ''**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणमि**''ति। तस्माल्लोकेऽपि द्वन्द्वस्थले तात्पर्ये सति यथासंख्यं विशेषणविशेष्ययोरन्वयो भवत्येवेति धनुर्बाणानिक्षूद्भवकुसुमजानिति साधुरेवायं प्रयोग इत्यास्तामतिप्रपञ्चः।

अङ्कुशवरमिति। श्रेष्ठमङ्कुशमित्यर्थः। वरमुद्राहस्तविरहस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। तथा पाशमिति चतुष्टयं बिभ्रती चतुर्बाहुरिति योजनायामर्थाच्चतुर्भिर्हस्तैर्बिभ्रतीति लभ्यते। क्वचित्तु बिभ्रतीत्यस्य स्थाने हस्तैरिति पाठः। तस्मिन्पक्षे बिभ्रतीत्यध्याहृत्य व्याख्येयम्। एतदेव स्वरूपं सौन्दर्यलहर्यां वर्णितम्—

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका॥ इति।

तत्र लक्ष्मीधरा—पुरस्ताद् हृदये। मणिपूरान्निर्गत्येति शेषः इति। तथा च मणिपूरे एवास्या एवंरूपाया भगवत्याः स्थितिः। ततो निर्गत्य

हृदये प्रकाशत इत्येष एव विशेषः उदिता भवतीत्यनेनाभिहितम् । उर्ध्वं मणिपूराद् हृदयकमले इता गता उद्गतेत्यर्थः । एवं व्याख्यायां तु स्फुरतीत्यस्य मणिपूरे सामान्यरूपेण प्रकाशत इत्यर्थकरणेऽपि न हानिः ।

अथवा प्रकारान्तरेणायं श्लोको व्याख्यातव्यः । पूर्वश्लोके तावत्षोढैक्यवतां चतुर्धैक्यं प्रतिपादितं—"तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां चतुर्धैक्यं तेषामि"त्यनेन । षोढैक्यभावनानन्तरं कदा चतुर्धैक्यं सिद्धं भवतीति जिज्ञासायामिदमाह - **तडिल्लेखेति** । येषां समयिनां षोढैक्यं भवतीति पूर्वश्लोकादनुवर्तनीयम् । तेषामिति च । तथा च येषां समयिनां षोढैक्यं भवति तेषां मणिपूरे तडिल्लेखामध्ये भगवती वक्ष्यमाणश्लोकनिरूपणीया स्फुरतीति योजना । दशहस्ता भगवती मणिपूरे प्रकाशत इत्यर्थः । तेषामेव चतुर्धैक्यमिति योजना । किं च तेषां भवतीति जिज्ञासायामाह—**भवति** चेति । अत्र चतुर्बाहोः कुत्र चक्रे प्रत्यक्षमिति नोक्तम् । अग्रे वक्ष्यमाणमेव तद् ग्राह्यमिति द्रष्टव्यम् । एतदुक्तं भवति षोढैक्येन मणिपूरे वक्ष्यमाणलक्षणदेवीप्रत्यक्ष एव चतुर्धैक्यं फलोन्मुखं भवतीति ॥१४॥

भवत्यैक्यं षोढा भवति भगवत्याः समयिनां
मरुत्त्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरुचिः ।
भवत्पाणिव्रातो दशविध इतीदं मणिपुरे
भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरुपास्ते न हि परम् ॥१५॥

हे भवानी माता ! जो लोग केवल छः प्रकार की एकता की उपासना करते हैं, चतुर्धैक्य की नहीं, उन समयमार्गियों को इन्द्रधनुष के समान शोभावाली दस भुजाओं से युक्त आपके शरीर का मणिपूर में प्रत्यक्ष होता है ॥ १५ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे भवानि येषाम् ऐक्यं षोढा भवति = षोढैक्यरूपा सपर्या भवति तेषां समयिनां मरुत्त्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरुचिः = मरुत्वतः = इन्द्रस्य कोदण्डः—इन्द्रधनुः, तस्य द्युतीनां नियुतानि तेषां भासा शोभया तुल्यरुचिः = समानशोभः दशविधः = वक्ष्यमाणायुधादिभेदेन दशप्रकारयुक्तः भवत्पाणिव्रातः = भवदीयदशपाणिसमुदायः खल्वेष भवति इति = इत्येवं प्रकारेण भगवत्याः तव इदं वपुः मणिपूरे प्रत्यक्षं भवति यदि समयिगणः परं = चतुर्धैक्यं न हि उपास्ते। चतुर्धैक्यपूजामकुर्वाणाः केवलषोढैक्यपरा ये समयिनस्ते नानाविधायुधादिकलितोर्ध्वाधोनिविष्टार्धगोलकाकारदशपाणिव्रातोऽयं भगवत्या इन्द्रधनुर्वदहो विद्योतत इत्येवं भगवतीवपुः प्रत्यक्षीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अमृतझरिका

षोढैक्यवतां चतुर्धैक्यं सिध्यति। एवं चतुर्धैक्येनोपासीनानां किं फलमिति वीक्षायां तडिल्लेखामध्ये इति श्लोकेन चतुर्बाहुरूपाया भगवत्याः सामान्यतो विशेषतश्च प्रत्यक्षं भवतीत्युक्तम्। ततः किं षोढैक्यस्य चतुर्धैक्योपासनायामङ्गत्वमात्रमाहो साक्षात् स्वतन्त्रमपि किंचित्फलमिति जिज्ञासायामस्ति फलं दशहस्ताया भगवत्या मणिपूरे प्रत्यक्षमित्याशयेनेदमाह—भवत्यैक्यमिति। अथवेतिप्रदर्शितव्याख्यान्तरानुसारेण—ननु षोढैक्यवतां तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवतीति यत्फलमुक्तं

तस्या भगवत्या विशेषस्वरूपजिज्ञासायामिदमाह—**भवत्यैक्यमिति**। येषामिति पूर्ववदध्याहारो वा पूर्वतरतृतीयश्लोकादनुवर्तनं वा। एवं तेषामित्यस्याप्यध्याहारः पूर्वश्लोकादनुवर्तनं वा बोध्यम्। येषां समयिनां षोढैक्यं भवति तेषां दशहस्तं भगवत्या वपुः प्रत्यक्षं भवतीति समुदितश्लोकार्थः। अथ प्रतिपदं व्याख्यायते। येषां समयिनां समयमार्गप्रवृत्तानां षोढैक्यं षोढैक्यभावनालक्षणसपर्या भवति संपद्यते तेषां **मरुत्त्वदित्यादि**। मरुत्वानिन्द्रस्तस्य कोदण्ड इन्द्रधनुर्वर्षासु दृश्यमानम्। तदीयद्युतिनियुतभासा इन्द्रधनुःकान्तिसहस्रशोभया समरुचिस्तुल्यशोभः। यद्यपि द्युतिशब्दस्य भासशब्दस्य च समानार्थकत्वम्।

"स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः"

इत्यमरवचनात्। तथापि अत्र द्युतिशब्दस्य प्रकाशार्थकत्वं भासशब्दस्य शोभार्थकत्वं चादाय व्याख्येयमित्यशेषः। एवं समरुचिरित्यत्र रुचिशब्दस्यापि शोभार्थकरणेन दार्ष्टान्तिकोपपत्तिः। वस्तुतस्तु कोदण्डद्युतीनां नियुतमित्युक्त्या द्योतमानकोदण्डानां नियुतत्वमेव विवक्षितम्। अन्यथैककोदण्डस्य नियुतादप्यधिकसंख्याकद्युसंभवेन तन्नियमने न्यूनत्वमेवापद्येत। न च द्योतमान एवेन्द्रकोदण्डो भवति न त्वद्योतमान इति विशेषणानर्थक्यमिति वाच्यम्। द्योतमानस्यैव पुनर्द्योतमानत्वकथनेनेषद्द्योतमानव्यवच्छेदलाभात्। इन्द्रधनुर्हि क्वचिदीषद् द्योतते। क्वचिच्च प्रद्योतते। तथा च द्युतिपदेन प्रद्योतमानत्वं लभ्यते। प्रद्योतमानेन्द्रकोदण्डनियुतेन समप्रभ इति व्याख्याने न भारुचिशब्दयोः शोभार्थतया नेयार्थत्वमपि न भवति। न च द्युतिशब्दस्य भावार्थवाचित्वाद् द्योतमानार्थदौर्लभ्यमिति वाच्यम्। **'इगुपधात् कित्'** इत्युणादिसूत्रेण विधीयमानस्य इन् प्रत्ययस्यातिदिश्यमानकित्त्वस्य कर्तर्यपि सम्भवात्। **'विशेषणं विशेष्येण बहुलमि'**त्यत्र बहुलग्रहणात् क्वचिद्विशेष्यमपि विशेषणेन समस्यत इति कोदण्डस्य पूर्वनिपातोपपत्तिः।

कोऽयं मरुत्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरुचिः? तत्राह—**भवत्पाणिव्रात इति**। भवत्या भगवत्याः पाणिसमुदायः। स च पाणिव्रातो भिन्नायुधत्वादिना दशविधः। दश विधाः प्रकारा यस्मिन् स इति विग्रहः। पाणिव्रातानामनेकेषामविद्यमानत्वेन तस्मिन्नेव दशविधताया वक्तव्यत्वात्। पाणयस्तु दश भिन्नायुधा वक्ष्यन्त इति दशविधत्वं पाणिव्रातस्योपपन्नं भवति।

यद्यपि 'तडिल्लेखातन्वी'त्यादिवद् भगवतीवपुष एवेन्द्रधनुस्तुल्यत्वं वक्तुमुचितं न तु हस्तानाम्। तथापि दश हस्ता ऊर्ध्वाधोविभागेन निविष्टा अर्धचन्द्राकारतां भजन्त इति पाणिव्रातविशेषणत्वेऽपि न कापि क्षतिः।

इतीदं तव वपुरिति। इति एवंप्रकारविशिष्टमिदं तव वपुर्मणिपूरे प्रत्यक्षं भवतीति योजना। इतिपदमैन्द्रधनुःसमानशोभपाणिप्राकारता-कत्वार्थकम्। तदर्थद्योतकं मरुत्वत्कोदण्डेत्यादि दशविध इत्यन्तम्। अथवा निपातातिरिक्तनामार्थयोरेव भेदान्वयस्याव्युत्पन्नत्वादत्र भेदे-नैवान्वयः। इतिपदस्य निपातत्वात्। तथा च दशविधः पाणिव्रातः इत्यस्य आधेयतासम्बन्धेन इतिपदार्थप्रकारतायामन्वयः। तस्य च निरूपकत्वसम्बन्धेन वपुःपदार्थेऽन्वयः। तथा च यथोक्तदशविधपाणि-व्रातनिष्ठप्रकारतानिरूपकं तव वपुरित्यन्वयार्थः। कम्बुग्रीवादिमन्तं घट इति जानातीत्यादौ घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितकम्बुग्रीवादिमद्विशेष्य-ताकज्ञानाश्रयो देवदत्त इत्यन्वयार्थबोधदर्शनात्। एतावांस्तु विशेषः, घटपदस्य घटत्वे लक्षणा। पाणिव्रात इत्यत्र न लक्षणेति। न च 'भूतलं घट इति जानाती'ति प्रयोगापत्तिः। घटपदस्य घटत्वलक्षणां विना घट-निष्ठप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्यताकबोधसम्भवात्। तस्मादेवंविध-स्थले घटादिपदस्य घटत्वादौ निरूढलक्षणा वक्तव्या। न हि घटता-दात्म्येनाप्युपपत्तिः। रज्जुं सर्पं इति जानातीत्यादौ सर्पत्वलक्षणावश्यं-भावात्। तथा चात्रापि पाणिव्रातत्वे लक्षणा स्यादिति नोक्तार्थलाभ-सम्भव इति वाच्यम्। घटं श्याम इति जानाति पर्वते वह्निरिति पर्वतं कुसुमस्य सुगन्धिरिति कुसुमं कल्पयतीत्यादिप्रयोगदर्शनादत्रापि 'भवत्-पाणिव्रात' इत्येवं भवच्छब्दप्रयोगात्तदभिन्नवपुषि प्रकारविधया पाणि-व्रातान्वयबोधे बाधकाभावात्।

येषां षोढैक्यं भवति तेषां भगवत्याः पाणिव्रातो दशविध इत्येतत् प्रत्यक्षं भवतीत्यपि योजना सम्भवति। तव वपुरित्युत्तरान्वयि भवेत्। तथापि भगवतीवपुषः प्रत्यक्षीकरणमनुक्त्वा पाणिव्रातदशविधत्वमात्र-प्रत्यक्षीकरणं नातीव शोभनं भवतीति तादृशयोजना परित्यक्तेति मन्तव्यम्।

हे भवानि इत्येवंप्रकारकं यथोक्तदशहस्तयुक्तं भगवत्यास्तवेदं वपुः मणिपूरे प्रत्यक्षं भवतीति योजना।

अथवा समरुचीति निर्विसर्गः पाठः। सविसर्गपाठेऽपि रुचिरस्तीति रुचिरिति क्विबन्तरुचिरशब्दस्य रूपम्। वपुरित्यस्य विशेषणं समरुचि-

रिति। भवत्पाणिव्रातो दशविध इति हेतोरूर्ध्वाधोव्यवस्थितदशविध-पाणिव्रातहेतोरिति यावत्। मरुत्त्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरुचि तुल्यशोभं तव वपुर्यथोक्तोपासकानां प्रत्यक्षं भवतीति योजना कर्तव्येति द्रष्टव्यम्। एवं च तडिल्लेखातन्वीतित्रङ्गवत्या एव विशेषणमिति पूर्वपक्षस्यापि नोत्थानम्।

तव वपुरित्यस्यानन्तरं यदीति पूरणीयम्। यदि समयिगणः परमन्यन्न ह्युपास्ते। षोढैक्योपासनातिरिक्तोपासनं यदि न करोति तदा दशहस्त-देवीप्रत्यक्षं भवति। षोढैक्यातिरिक्तं चतुर्धैक्योपासनं चेत् करोति तदा न दशहस्तदेवीप्रत्यक्षमपि तु चतुर्बाहुरित्यादिपूर्वाभिहितचतुर्बाहुप्रत्यक्षमेव भवतीत्यर्थः। षोढैक्यपूर्वकचतुर्धैक्यस्य हि तत्फलमुक्तम्। न ह्युभयोः प्रत्यक्षमेककाले भवति। षोढैक्यपूर्वकचतुर्धैक्योपासनायां षोढैक्यमङ्गमेव भवति न तु प्रधानं संयोगपृथक्त्वन्यायात्। यथा कर्मोपासनादीनां ज्ञानोत्पत्तिप्रयोजकत्वेनानुष्ठाने **"कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोक"** इत्याद्यभिहितं फलं न जायते। **"विविदिषन्ति यज्ञेने"**त्यादि श्रुतिमनपेक्ष्य तदनुष्ठाने तु पितृलोकादिकं भवति। एवं चतुर्धैक्यप्रयोजकतया षोढैक्या-नुष्ठाने न तस्य स्वतन्त्रं फलं किन्तु तदनपेक्षेण षोढैक्यानुष्ठाने एव दश-भुजभगवतीप्रत्यक्षात्मकं फलमिति।

ननु **"गोदोहनेनापः प्रणयेत् पशुकामः"** इत्यत्र गोदोहनेनापां प्रणयने पशुफलं भवति दर्शपूर्णमासाङ्गत्वेन तावपि सम्पद्येते इति तद्वदत्रापि षोढैक्यानुष्ठाने दशभुजादेवीप्रत्यक्षं च भवति तेन चतुर्धैक्यमपि सम्पद्यत इति कुतो न भवति? तथा च दर्शपूर्णमासफलस्वर्गप्राप्तिवदत्रापि पश्चाच्चतुर्भुजाप्रत्यक्षलक्षणं फलमपि भवितुमर्हतीति चेन्न। वैषम्यात्। **"चमसेनापः प्रणये"**दिति वाक्यान्तरसत्त्वेनान्यथापि दर्शपूर्णमासनिष्पत्ति-रुपपद्यते। इह पुन"स्तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां चतुर्धैक्यं तेषामि"त्युक्तत्वेनोपायान्तरविरहात्। वस्तुतस्तु अपां प्रणयनमङ्गं दर्श-पूर्णमासस्य तत्र प्रविष्टस्य गोदोहनस्य फलं पशुः। न च गोदोहनस्याङ्ग-त्वम्। तद्विनापि चमसेनापां प्रणयनोपपत्तेः। इह पुनः षोढैक्यमङ्गत्व-मापन्नं चतुर्धैक्यं प्रतीति न तस्य पृथक्फलसम्भवः। तथा सति जुह्वाः पर्णमयीत्वादेरपि पापश्लोकनिवृत्तिफलस्वीकारापत्तेः। यथा वा लोके गणेशपूजनादीनां स्वतन्त्रे तदीयप्रत्यक्षवराभयप्राप्त्यादिकं फलं भवति। शिवशक्त्यादिपूजनाङ्गत्वेन गणेशपूजनादिकरणे तु न तत्फलम्। किन्तु शिवशक्त्यादिप्रत्यक्षतदीयवरदानादिकमेव तद्वदिति।

किं च षोढैक्यं न चतुर्धैक्यस्याङ्गमपि तु साधनमेव। कारीर्यां वृष्टि-रिव षोढैक्यापूर्वद्वारा दृष्टं चतुर्धैक्यं फलमिति संयोगपृथक्त्वेन तत्फल-निष्पत्तौ न दशभुजाप्रत्यक्षसम्भावना। अप्प्रणयनादीनां दर्शपूर्णमासाङ्ग-त्वमेव न तु कारीर्यां वृष्टिवदप्प्रणयनादिना दर्शपूर्णमासः फलविधया निष्पद्यते। इह तु "तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां चतुर्धैक्यं तेषां" इति फलविधयाऽभिहितमिति।

एतच्च मीमांसकमतानुरोधेनोदीरितम्। वस्तुतस्तु भगवतीकृपायां किं न सम्पत्तुमर्हति। तथा च षोढैक्यसम्पादितचतुर्धैक्ये सति दशभुजा-प्रत्यक्षमपि सुघटमेव। मूले तु षोढैक्यमेव चेदुपास्ते न तु चतुर्धैक्यं तदा दशभुजाप्रत्यक्षमेव भवति मणिपूरे, न तु हृदये सहस्रारे वा चतुर्भुजा-प्रत्यक्षमित्यत्रैव तात्पर्यं, न तु चतुर्धैक्यकलने दशभुजाप्रत्यक्षं न भवती-त्यत्र। तथा च न हि परमुपास्ते चेत्तेषामेव समयिनां दशशभुजाप्रत्यक्ष-मिति नान्वयः। किन्तु न हि परमुपास्ते चेद्दशभुजाप्रत्यक्षमेव भवतीत्येवं सावधारणा व्याख्येति मन्तव्यम्।

अत्र परमित्यस्य षोढैक्यादन्यच्चतुर्धैक्यमित्यर्थो दर्शितः। अथवा द्विविधं पूजनम्। परमपरं च। षोढैक्यमपरं चतुर्धैक्यं परम्। श्रेष्ठ-मित्यर्थः। तथा च 'उपास्ते न हि परं', परं श्रेष्ठं चतुर्धैक्यं नोपास्ते चेदित्यर्थः। तात्पर्यं समानमेव। तथापि श्रेष्ठार्थकपरपदेनाशयविशेष-लाभो भवति। कस्तावदाशयविशेष इति चेदिदमिहावधेयम्। चतुर्धैक्य-सपर्यायाः परत्वात् तत्फलमपि परमेव भवितुमर्हति। तथा सति च

विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः।

इति न्यायाद्

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

इति न्यायाच्च चतुर्भुजाप्रत्यक्षस्यामृताम्भोधिस्थानीयत्वात् संप्लुतोदक-स्थानीयत्वाच्च तत्प्राप्तानां मणिपूरे दशभुजाप्रत्यक्षस्य खातकोदकोद-पानस्थानापन्नस्याभिलाष एव न भवितुमर्हतीति अकामितत्वादेव तत्प्रत्यक्षं न भवेत्। न हि महाराजाधिराजलब्धकामस्य कामान्तरप्राप्त्यपेक्षा भवति। न हि तदा सचिवादय इममपि कामं मत्प्रदत्तं गृहाणेति वदन्त उपतिष्ठन्ते। तदपेक्षायां महाराजाधिराजप्रदत्तकामस्य न्यूनत्वप्रसङ्गात्। एवंस्थिते सति ये न परं चतुर्धैक्यमुपासते तेषामेव दशभुजायाः प्रत्यक्षं वराभयादिप्राप्तिश्चेत्येवं सावधारणव्याख्यायामपि न कोऽपि दोषः ॥१५॥

भवानि श्रीहस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमथो
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्त्रक्शुकवरौ ।
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभयवरदानैकरसिकां
क्वणद्वीणां द्वाभ्यां त्वमुरसि कराभ्यां च बिभृषे ॥१६॥

हे भवानी भगवती ! आप अपने हाथों में ना पाश, अंकुश, ईख का धनुष, पुष्पनिर्मित बाण, जपमाला और तोता धारण किए हुए हैं तथा दो हाथों में अभयमुद्रा एवं वरदानमुद्रा धारण किए हुए हैं । अन्य दो हाथों से वक्ष में नादयुक्त वीणा धारण किए हुए हैं ॥१६॥

अन्वयार्थबोधिनी

दशहस्तामेव निरूपयति—हे **भवानि त्वं श्रीहस्तैः** षड्भिः **फणिपाशं**=नागपाशं **सृणिम्**=अङ्कुशं च **वहसि**=धारयसि **पौण्ड्रम्**=ऐक्षवं **धनुः पौष्पं शरं** च वहसि तथा **जपस्त्रजं**=जपमालां **शुकवरम्**=उत्तमशुकं च वहसि । **अथ द्वाभ्यां**=हस्ताभ्याम् **अभयवरदानैकरसिकाम्**=अभयदानपरां वरदानपरां चेति **मुद्रां**=मुद्राद्वयीं **बिभृषे**=धारयसि । किं च **द्वाभ्यां कराभ्यां उरसि**=वक्षसि **क्वणद्वीणां**=क्वणन्तीं वीणां च **बिभृषे** ॥१६॥

अमृतझरिका

चतुर्बाहुरुदितेत्युक्तं धनुर्बाणानित्यादिना विवृतं, तथैव पाणिव्रातौ-दशविध इति यदुक्तं तद्विवरणीयमित्यतस्ता एव विधा दश दर्शयितुमिदमाह—**भवानीति** । हे भवानि त्वं श्रीहस्तैः फणिपाशादिकं वहसि इति प्रथममन्वयः । फणिपाशं नागपाशं वहसि । सृणिमङ्कुशं वहसि । अथो पौण्ड्रमैक्षवं धनुर्वहसि । पौष्पं शरं वहसि । अथ जपस्त्रक्शुकवरौ—जपस्त्रजं जपमालां वहसि, शुकवरं व वहसि । अथ द्वाभ्यां हस्ताभ्यामभयवरदानैकरसिकां मुद्रां वहसि । मुद्रामिति जात्येकवचनम् । मुद्रे इत्यर्थः । एकेन हस्तेनाभयं वहसि, अपरेण हस्तेन वरमुद्रां च वहसीत्यर्थः । मुद्रयोश्चेतनत्वारोपेण रसिकामिति विशेषणम् । क्वचित्कोशे रसिके इति सम्बोधनपदं दृश्यते । तदा त्वभयवरयोर्दाने एका अद्वितीया रसिका

तथा तत्सम्बुद्धी। इतरा अपि देवता अभयवरौ ददति तथापि तत्र रसिकत्वं तवैवेति भावः। अत्र चार्थादभयमुद्रा वरमुद्रा च हस्तयोर्द्रष्टव्या। अस्य बिभृषे इत्युत्तरेणाप्यन्वयः सुघट एव। पुनश्च द्वाभ्यां कराभ्यां क्वणद्वीणामुरसि विभृषे। क्वणनपराभ्यां हस्ताभ्यां वीणां बिभृष इत्यर्थः।

ननु चतुर्हस्तदशहस्तयोः प्रत्यक्षतायां को विशेषः, सिद्धेरुभयत्र तुल्यत्वादिति चेन्न। चतुर्हस्ताया एव श्रीविद्यात्वेन पूर्णत्वात्सकलफलदत्वाच्च। एतच्च भङ्ग्यन्तरेण भगवत्पादैरभिहितं सौन्दर्यलहर्यां

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगणः
त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया।
भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ ॥ इति।

भयात्त्रातुमिति मुक्तेः, फलमित्यादिना भुक्तेश्च वर्णनाद् भुक्तिमुक्तिप्रदायकत्वं भगवत्या उक्तं भवति। न चैतदन्यदेवतासाधारणम्। तथा चोक्तं मनोहरस्तोत्रे

यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥ इति।

सालोक्यादिर्यत्किंचिन्मोक्षस्य सार्वभौमत्वादिर्यत्किंचिद्भोगस्याप्यन्यदेवताप्रदेयत्वेऽपि निरवच्छिन्नभोगमोक्षप्रदत्वं श्रीदेव्या एवेति तत्त्वम्।

केचित्पुनरेवमत्र वर्णयन्ति। चतुर्धैक्यषोढैक्ययोर्मतभेदेन विकल्प एव। तत्र क्वणत्काञ्चीदामेत्यादिसौन्दर्यलहरीश्लोकवर्णितदिशा चतुर्धैक्यानुसंधानवतां चतुर्हस्ता भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति। षोढैक्यानुसन्धानवतां तु दशभुजा भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति। दशभुजात्वेऽपि धनु-र्बाण-पाशाऽङ्कुश-वरा-ऽभय-पुस्तका-ऽक्षमाला-वीणाहस्तेत्येकं मतम्। पाशा-ऽङ्कुश–पुण्ड्रेक्षुचाप–पुष्पबाण–जपमाला–शुक–वरा–ऽभय-वीणाकरेति मूलोक्तरूपात्मकमपरं मतम्।

किंच नादबिन्दुकलानां परस्परैक्यलक्षणषड्विधैक्येन भगवतीं संभाव्य साधको यदा सादाख्यायां विलीनो भवति तदा तदभ्यासात् षड्विधैक्यमहिम्ना गुरुकटाक्षसंजातमहावेधमहिम्ना च भगवती झगिति मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रद्वयं भित्त्वा मणिपूरे दशभुजा प्रत्यक्षं वीक्ष्यत इति।

कोऽयं महावेधप्रकार इति चेदुच्यते। पूर्वं गुरोर्मूलमन्त्रं लब्ध्वा तदुपदिष्टमार्गेण जपं कुर्वन् आश्वयुजशुक्लपक्षे महानवमीशब्दाभिधेयाया-मष्टमीनिशीथिन्यां गुरोः पादावुपसंगृह्णीयात्। तदा गुरुः शिष्यमस्तके हस्तं विन्यस्य पुनर्मन्त्रोपदेशं षट्चक्रपूजाप्रकारोपदेशं षड्विधैक्यानुसंधानोपदेशं च कुर्यात्। तदानीं सादाख्यायाः प्रकाशरूपः शैवो महावेधो जायत इति। एवं संपन्नमहावेधमहिम्ना मणिपूरे दशभुजा भगवती प्रत्यक्षा भवतीति।

मणिपूरे प्रत्यक्षीभूताया भगवत्यास्तत्रैवार्घ्यपाद्यादिभूषणप्रतिपादन-पर्यन्तं पूजाकलापं संपाद्य ततस्तामनाहतमनाहतमन्दिरं नीत्वा धूपदीप-नैवेद्यहस्तप्रक्षालनान्तं पूजाकलापं समाप्य पुनर्विशुद्धिं तामानीय तत्र सिंहासनासीनां सखीवृतां शुद्धस्फटिकसमैर्मणिभिरर्चयेत्। तत आज्ञा-चक्रं तां नीत्वा नीराजनादिभिः संप्रीणयेत् तदनन्तरं विद्युल्लतावज्झटिति सहस्रकमलमनुप्रविश्य सुधासिन्धौ मणिद्वीपे चिन्तामणिनिर्मितगृहे सदा-शिवेन सा विहरमाणा भवति। तदा तिरस्करिणीं प्रसार्य समीपे मन्दिरे स्वयं निवसेत् यावत् सा ततो निर्गत्य पुनर्मूलाधारकुण्डं न प्रविशतीति। अत्रैव चतुर्धैक्येन चतुर्बाहुप्रत्यक्षनये तस्या एव मणिपूरादौ यथोक्तपूजा-कलापव्यवस्थेति।

परे तु नैषा षट्चक्रपूजापि समयिनां नियता। तेषां सहस्रारकमल एव पूजा भवति। तत्रापि न यथोक्ता षोडशोपचारपूजा। किन्तु चतुर्धैक्य-चिन्तनमेवेति वदन्ति। **तत्राप्यपरे** सहस्रदलकमलस्य बैन्दवस्थानत्वेन तन्मध्यगतचन्द्रमण्डलस्य चतुष्कोणात्मना, बिन्दोश्च शिवशक्तिसामरस्या-त्मकं सादाख्यात्मनानुसन्धानमेव पूजेति वदन्ति।

आचार्यास्तु सप्तविंशश्लोकमारभ्य मणिपूरादौ पूजाया वक्ष्यमाणत्वा-न्मणिपूरमारभ्य पूजासत्त्वमुपगच्छन्ति। मूलाधारस्वाधिष्ठानयोश्च पूजाऽ-भावमपि वक्ष्यति। तथापि मनोमार्गं जित्वेति श्लोके कुण्डलिन्युत्थापन-विधिकथनात्प्राणायामपूर्वकं कुण्डलिन्याश्चिन्तनं तस्या ऊर्ध्वमुत्थापन-मित्यादिकमङ्गीकुर्वन्त्येवेति झगिति मणिपूरे भगवतीप्रत्यक्षं नाभ्युप-गच्छन्ति। **तस्मादत्रायं क्रमः**। गुरूपदिष्टेन तन्त्रप्रदर्शितमार्गेण प्रथमं प्राणायामादिपुरःसरं षट्चक्रभेदनं संपाद्यम्। ततः श्रीचक्ररूपं सम्यग् ज्ञात्वा पूर्वप्रज्ञातमातृकाक्षरैः सह षोढैक्यं चिन्तनीयम्। तत एव मणिपूरे दशभुजाप्रत्यक्षं भवति। षोढैक्यपूर्वकचतुर्धैक्यकलनायां च चतुर्भुजायाः प्रत्यक्षं भवति।

ननु "तवाज्ञाचक्रस्थमि"त्यादिना ग्रन्थेन सौन्दर्यलहर्यामाज्ञाचक्रादौ परदेवतातो भिन्ना एव देव्यस्तत्तच्छिवैः सहिता "वन्दे" इत्यादिलिङ्गेन पूज्यत्वेनाभिधीयन्ते । मूलाधारे च समया समयश्च पूज्यत्वेनाभिहितौ । तथा च कथमुच्यते कुण्डलिनी मणिपूरादौ पूज्येति । अपि च मूलाधारे समयसंज्ञं शिवं त्यक्त्वा किमिति कुण्डलिनी सहस्रारे गच्छति । अत्रोच्यते । सहस्रदलकमले बिन्दुरूपेण परमशिवः परमशिवा च वर्तेते । तत्रैव तत्सामरस्यं च । तत् किल तत्त्वातीतं वा परमतत्त्वं वोच्यते ! तदंशरूपाश्चाज्ञाचक्रादौ शिवा च शिवश्च मूलाधारपर्यन्ते । तेषां च चिन्तनं षट्चक्रचिन्तनतद्भेदनयोरुपयुक्तम् । कुलकुण्डलिनी पुनरेभ्यः पृथगेव साक्षाद् भगवतीरूपभेदेन मूलाधारे स्वपिति । तस्याः समयारूपत्वे समयेन सह वर्तमानायास्तस्याः कुमारीत्वं न घटत इति "कुमारीयं मन्द्रं ध्वनती"ति वचनानुपपत्तिः स्यात् । नापि च "तवाधारे मूले" इत्यारभ्य समयां समयं च वर्णयित्वा "सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदमि"तिवचनसिद्धशिवशक्तिसंयोगे सति दहराकाशे पातिव्रत्यकथनमुपपद्यते । स्वपत्याश्च कथं लास्यपरत्वं तत्रोक्तमुपपद्येत ? न हि स्वापं कुर्वती काचिन्नृत्यति । अपि च "प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतमि"ति प्रागुक्तत्वात् प्रबुद्धायास्तस्या झटित्येव सकलग्रन्थिभेदनपूर्वकं सहस्रारगमनं प्रतीयत इति नैकैकचक्रेषु पूजादिपूर्वकं शनैः शनैरुर्ध्वनयनमपि घटते । तस्मात्तत्तद्रूपशिवाभ्यामधिष्ठितत्वेन चक्रचिन्तनं षोढैक्यादिसंपादनप्रयोजनकं पृथगेव । प्राणायामपुरःसरसुषुम्नानाडीवायुसंचारानन्तरभाव्यग्न्याघातपवनाघातप्रबुद्धकुण्डलिन्या ऊर्ध्वक्रमणपूर्वकसहस्रसारचन्द्रकलाप्रतिपत्तिश्च पृथगेव । इह तु कलाबिन्दुनादानां मुहुर्मुहुरनुसन्धानपूर्वकस्वरूपावधारणं कृत्वा पुनस्तेषां त्रयाणां पूर्वोक्तषोढैक्यानुसन्धानपूर्वकं भगवत्या दशभुजाया नाभिकमले चिन्तनं तत्प्रत्यक्षदर्शनं च पृथगेव ।

अत्र च पूर्वप्रदर्शितमतैरेकवाक्यता तावदेवमवधेया । साधकभेदेन द्विधा पूजा । एका तावत्सहस्रारकमले एव परे त्वित्यादिना प्रदर्शिता । द्वितीया केचित्पुनरित्यादिना प्रदर्शिता । तत्रायं विशेषः । प्राणायामादिकं यथाविधि कर्तव्यम् । ततः पश्चात्षट्चक्रभेदनमनुसन्धानात्मकमेव प्रथमं कर्तव्यम् । तत्र षट्चक्रचिन्तनादिकं प्रागुक्तं वक्ष्यते च । तत्र यदि चतुर्थैक्यकामः स्यात्तर्हि कुलकुण्डलिनी चतुर्हस्ता चिन्तनीया अन्यथा षोढैक्यवता

दशभुजा चिन्तनीया। तस्या मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरूर्ध्वंगमनचिन्तनमात्रम्। मणिपूरमारभ्य प्राग्दर्शितदिशा मानसं पूजनानुसन्धानं कर्तव्यम्। प्रत्यक्षत्वेन तदनुसन्धानमात्रं प्रथमं मणिपूरे। न तु प्रत्यक्षमेव। एवमनुसन्धानात्मकषट्चक्रभेदनपुरःसरं सहस्रारे श्रीचक्रं सम्यग् ध्यात्वा तत्र षोढैक्यं तत्पूर्वकचतुर्धैक्यं वा संचिन्त्य तत्र देव्याः शिवमिलनादिकं प्राग्दर्शितदिशैवानुसन्धेयम्। एवमभ्यस्यतः अभ्यासपरिपाके वास्तविकं कुण्डलिन्युत्थानं भवति। सा च झगित्येवोत्थिता सहस्रारमाक्रमति। तथापि प्रथमं स्पष्टदर्शनं मणिपूरे भवति इति।

इदं तु बोध्यम्। तवाज्ञाचक्रस्थमित्यादिना सौन्दर्यलहर्यां षट्सु चक्रेषु तत्तद्रूपेण शिवयोर्यद् वर्णनं कृतं तेन रूपेण तयोः पूजापि वन्दनाद्यात्मिका भवत्येव। अत एव मूलाधारस्वाधिष्ठानगतयोः शिवयोस्तमीडे संवर्तमित्यादिना पूजनोक्तिरुपपद्यते। अन्यथा मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः पूजाविरहाद् भगवत्पादानां समयाचार्याणां तदुक्तिरसंगता स्यात्। न हि तत्कौलमतानुवादमात्रमिति शक्यं वक्तुम्। तदप्रतीतेः। भगवत्या दशभुजाचतुर्भुजादिरूपेणार्घ्यपाद्याद्यात्मिकाऽन्या वा पूजा नास्तीत्येव समयिमार्गरहस्यम्। अन्यथा हठयोगिनामपि कौलत्वं निषिद्धाचारत्वं चापद्येत। तदिदं चिन्तनं कुण्डलिनीप्रबोधोपयोगि षोढैक्याद्युपयोगि च। प्राणायामादिपूर्वककुण्डलिनीप्रबोधश्च मणिपूरे भगवतीप्रत्यक्षादौ शीघ्रफलदत्वसंपादनोपयोगी। एताभ्यां च षोढैक्यं तत्पूर्वकचतुर्धैक्यं वा सुसंपन्नं भवति। ततः प्रथमं मणिपूरे भगवतीप्रत्यक्षं भवति। एष एव चाचार्यपादानामत्राभिप्रेतोऽर्थः। महावेधादिकं तु यथासंप्रदायमनुष्ठेयमिति नास्माकं तत्र काचन विप्रतिपत्तिरिति परमरहस्यं जिज्ञासुभिरवधेयम् ॥१६॥

त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुदभूद्
दशारं भूवेश्मादपि च भुवनाश्रं समभवत् ।
ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात्त्रिवलयं
चतुर्द्वाःप्राकारत्रितयमिदमेवाम्ब चरणम् ॥१७॥

हे अम्बा माता ! बिन्दु एवं त्रिकोण से अष्टकोण की उत्पत्ति हुई। बिन्दु त्रिकोण सहित अष्टकोण से प्रथम दशकोण की उत्पत्ति हुई। सर्वबाह्य भुवनत्रय से युक्त होकर प्रथम दशार से द्वितीय बाह्य दशकोण की उत्पत्ति हुई। बिन्दु आदि चार एवं बाह्यदशकोण से चतुर्दशकोण उत्पन्न हुआ। उसके बाद (अष्टकोण से) अष्टदलपद्म हुआ। उससे तीन वृत्त पैदा हुए। उससे चार द्वार से युक्त भुवनत्रय पैदा हुआ। हे अम्बा ! यही संमिलित-रूप श्रीचक्र आपका निवास स्थान है ॥१७॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे **अम्ब !** **त्रिकोणै**र्बिन्दुसहितैर्द्विगुणितैः **अष्टारम्** = अष्टकोणं **समुद-भूत्** = समुद्भूतम्। **त्रिभिरपि** = बिन्दुः त्रिकोणम् अष्टकोणमित्येतैर्द्वे-चाष्टौ चेति **दशारम्** = अन्तर्दशारं समुदभूत्। **भूवेश्माद्** = भुवनत्रयात् **अपि च,** अपिनाऽन्तर्दशाराद् भुवनत्रयीयबाह्यत्वयुक्त्या **दशारं** = बहि-र्दशारं समुदभूत्। अपि चेत्यस्यावृत्तिः। अपि च बिन्दुस्त्रिकोणं वसुकोण-मन्तर्दशारमिति चतुष्टययुक्ताद् बहिर्दशाराद् **भुवनाश्रं** = चतुर्दशारं **समभवत्** = संभूतम्। **ततः** = तदन्तर्गतादष्टारात् **नागारम्** = अष्टदलपद्मं समभवत्। **अस्माद्** = अष्टदलात् द्विगुणीभूतात् **नृपतिदलं** = षोडशदलपद्मं समभवत्। **अस्मात्** = कोणेनाष्टदलपद्मेन च सहितात् षोडशदलात् त्रित्वा-पन्नात् **त्रिवलयं** = वृत्तत्रयं समभवत्। कोणं च पद्मं च वृत्तं चेति त्रयात् **चतुर्द्वाःप्राकारत्रितयं** = द्वारचतुष्टययुक्तभुवनत्रयं समभवत्। एवं च बिन्दोरेव साक्षात्परम्परया वा सर्वं जातमिति भावः। **इदमेव** = यथोक्त-नवयोनियुक्तश्रीचक्रमेव हे **अम्ब** तव **शरणं** वासस्थानं **चरण-मिति** वा ॥१७॥

अमृत झरिका

त्रिकोणं चाधारमित्यादिना सामान्यतः श्रीचक्रं षट्चक्रं चैक्योपयोगितया प्राङ्निरूपितम् । विशेषतस्तु नागदलषोडशदलादयो न श्रीचक्रगता निरूपिताः । नापि कोणादीनां प्रत्येकोत्पत्तिरुक्ता । तस्यामुक्तायां हि स्वगतैक्यं सम्यक् शक्यमवगन्तुं कारणकार्ययोरभेदात् । न चैवं षट्चक्रस्यापि तथानिरूपणमावश्यकमिह च न तद् दृश्यत इति वाच्यम् । "अधिष्ठानाधारद्वितयमिदमेवमि"त्यादिनाऽग्रेऽवसरतस्तस्यापि निरूपयिष्यमाणत्वात् । श्रीचक्रोपासकानां तु निरूपणीयत्वेन श्रीचक्रं प्रथममुपतिष्ठत इति तदेव विशेषेण निरूपयति—त्रिकोणैरिति । त्रिकोणैरष्टारं समुद्भूदुद्भूतम् । त्रिकोणैरिति बहुवचननिर्देशः कोणत्रयाभिप्रायेण । अन्यथा तु त्रिकोणमेकमेव । त्रित्वसंख्याविशिष्टाः कोणास्त्रिकोणाः । मध्यमपदलोपः । अन्यथा समाहारैकत्वापत्तेः ।

नन्वेवमष्टकोणादावेकैककोणस्य कोणत्रयात्मकतया चतुर्विंशतिकोणत्वादिरूपेण निर्देशः कर्तव्यः स्यात् । यदि च मर्मणः कोणत्वं नेष्यते । सन्धिमर्मं च द्वयं प्रसिद्धं श्रीचक्रे । तल्लक्षणं तु—

द्विरेखा संगमस्थानं सन्धिरित्यभिधीयते ।
त्रिरेखा संगमस्थानं मर्म मर्मविदो विदुः ॥ इति ।

सन्धयो मर्माणि च कतीत्यप्यन्यत्रोक्तं—

अष्टाविंशतिमर्माणि चतुर्विंशतिसन्धयः ॥ इति ।

एवमपि अष्टकोणे दशकोणाः स्युः । यदि च सन्धीनामपि कोणत्वं नेष्येत तदाष्टकोणे एव चत्वार एव कोणाः स्युः । एवमन्यत्रापि । अत्र पक्षे त्रिकोणेऽपि कोणद्वयं मर्मरूपमिति त्रिकोणैरितिबहुवचनानुपपत्तिरेवेति चेत् । सत्यम् । अष्टकोणमित्यादेरष्टत्रिकोणमित्याद्यर्थत्वाच्चातुर्विंशतिकोणत्वाद्यापत्तिविरहात् ।

एतेन "चतुर्भिः श्रीकण्ठैरि"ति सौन्दर्यलहरीश्लोके त्रयश्चत्वारिंशत् कोणा इत्युक्तं त्रिकोणस्य कोणत्रयात्मकत्वेन पञ्चचत्वारिंशदिति वक्तुं युक्तत्वादिति परास्तम् । त्रिकोणत्वेन रूपेण तस्यैकत्वेन कोणत्रयत्वविरहात् ।

यत्तु त्रिकोणगतकोणद्वयस्याष्टकोणान्तर्गतत्वान्न संख्याधिक्यमिति केचित् समादधुः । तन्न । अष्टकोणस्यापि त्रिकोणेनान्यकोणैश्च संयोगेन

तदन्तर्गतत्वापत्त्याऽष्टकोणत्वभङ्गापत्तेः। कोणान्तरेण संयोगमात्रेण कोणत्व भंगानुपपत्तेश्च। न ह्येकसूच्यग्रस्य सूच्यग्रान्तरेण संयोगमात्रात् सूच्यग्रत्वं भज्यते। एवं सति रेखान्तरसंयोगादपि कोणत्वं भज्येतेति चतुर्दशकोणीयं कोणाष्टकमेव रेखान्तराऽसंपृक्तं कोणत्वं भजेतेति बहुविप्लव आपद्येत। तस्मादत्र त्रिकोणस्यैकत्वेऽपि अग्रिमकोणोत्पत्तिप्रयोजकत्वेन त्रित्वं विवक्षित्वा बहुवचनेन निर्देशः कृतः। त्रिकोणगतरेखात्रयस्य ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपत्ववैशेष्याच्चात्र त्रित्वविवक्षोपपत्तिः।

अत्रेदं बोध्यम्। बिन्दुत्रिकोणयोरत्रोत्पत्तिर्न कथिता। कुतः?

त्रिकोणरूपिणी शक्तिर्बिन्दुरूपः शिवः स्मृत.।

अविनाभावसम्बन्धस्तस्माद्बिन्दुत्रिकोणयोः॥

इति भैरवयामलवचनेन शिवशक्त्योरेव बिन्दुत्रिकोणरूपाभ्यां प्रथममवस्थानम्। पुण्यानन्दास्तु प्रकारान्तरेण व्याचख्युः—

मध्यं चक्रस्य स्यात् परामयं बिन्दुतत्त्वमेवेदम्।

उच्छूनं तच्च यदा त्रिकोणरूपेण परिणतं स्पष्टम्॥

बिन्दुः पराशक्तिस्वरूपः। स एवोच्छूनस्त्रिकोणं भवति। न हि बीजमुच्छूनावस्थं कार्यत्वेन परिगण्यते। अङ्कुरादेरेव कार्यत्वस्वीकारात्। बिन्दुमुपक्रम्य त्रिशिकायां—

शृङ्गाटरूपमापन्नमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम्।

इत्यभिहितम्। शृङ्गाटरूपं त्रिकोणरूपमित्यर्थः। त्रिकोणस्य परात्वाऽव्याघातादेव तस्य पश्यन्तीमध्यमावैखरीनिदानत्वोक्तिरपि संगच्छते। तथा चोक्तम्—

एतत्पश्यन्त्यादित्रितयनिदानं त्रिबीजरूपं च॥ इति।

त्रिबीजरूपं—वाग्भव-कामराज-शक्तिकूटत्रयबीजरूपमित्यर्थः। रहस्याम्नाये तु विशेषः—

बिन्दुत्रयात्मकं स्वात्मशृङ्गाटं विद्धि सुन्दरम्।

मिश्रं शुक्लं च रक्तं च पुराणं प्रणवात्मकम्॥

रेखात्रयावगन्तव्यं संवित्सान्द्रशिवात्मकम्।

इत्यादिः। अयं भावः। मध्ये परबिन्दुः। ततो बिन्दुत्रयम्। शुक्लं रक्तमुभयमिश्रं च। एतद्बिन्दुत्रयमेव रेखारूपमापन्नं रेखात्रितयेन द्योत्यते।

न चैवं त्रिकोणोत्पत्तिकथनमावश्यकमिति वाच्यम् । बिन्दुभावाऽपरित्यागात् । बिन्दुत्रयरूपत्वं प्रथमत्रिकोणस्यैवेति बहुवचनं सुसमर्थम् । शक्तित्रयरूपत्वाद् गुणत्रयरूपत्वाच्च । तथा च सुभगोदयवासनायां—

इच्छादिशक्तित्रितयं पशोः सत्त्वादिसंज्ञकम् ।
महत् त्र्यश्रं भावयामि गुरुवक्त्रादनुत्तरात् ॥ इति ।

इच्छादिशक्तित्रितयमेव पशोर्जीवस्य सत्त्वरजस्तमःसंज्ञकमित्यर्थः । किं च—

एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ।

इत्येवं श्रीतन्त्रसद्भावोक्तेस्त्रित्वेन निर्देशात्त्रिकोणैरिति बहुवचनोपपत्तिः । पराशक्तित्वानपायाच्च न तदुत्पत्तिकथनमिति ।

एवं व्याख्यातरीत्या बिन्दुचतुष्टयरूपे बिन्दुत्रिकोणे इत्यायातम् । ततः कार्योत्पत्तौ द्विगुणीभावादष्टभावापत्तिरिति ततोऽष्टकोणोत्पत्तिः । तदिदमाह त्रिकोणैरष्टारमिति । त्रिकोणैरिति बिन्दोरप्युपलक्षणाद् बिन्दुत्रिकोणैरित्यर्थोऽवगन्तव्यः । त्रिभिरपि दशारमिति । नवजातस्य पूर्णसंख्यया पूर्वेषामेकैकसंख्यया च प्रायः सर्वत्र संख्यापूर्तिः । तथा हि बिन्दुरेकः त्रिकोणं चैकम् । अष्टकोणस्याष्टौ मिलित्वा दशेति दशभिरन्तर्दशारोत्पत्तिरित्यर्थः । दशारं भूवेश्माद्दपीति । अपिनाऽन्तर्दशारात् । तत्र दशसंख्यासामान्यादन्तर्दशाराद् बहिर्दशारोत्पत्तिः सुगमा । तत्र बहिष्ट्वं तु भुवेश्मादागतम् । भूवेश्म धरणीत्रयात्मकं सर्वबहिर्भूतम् । भुवनाश्रं च समभूदिति । अत्र त्वर्थादेव कारणमूह्यम् । बिन्दुः त्रिकोणं वसुकोणमन्तर्दशारमिति चत्वारि । बहिर्दशारं दशेति मिलित्वा चतुर्दश । ततः संख्यासामान्यादेभ्यश्चतुर्दशारमभूदिति । तदुक्तं पुण्यानन्दैः—

एतच्चक्रचतुष्कप्रभासमेतं दशारपरिणामः ।
आदिस्वरगणगचतुर्दशवर्णमयं चतुर्दशारमभूत् ॥ इति ।

ततोऽभून्नागारमिति । ततोऽष्टकोणादित्यर्थः । न तु चतुर्दशकोणादिति । अष्टकोणनागदलयोरैक्यस्य प्राग्दर्शितत्वादष्टकोणान्नागदलोत्पत्तौ न क्षतिः । न चात्र क्रमोत्पत्तिप्रदर्शनाच्चतुर्दशारात् स्वतन्त्राद्वा पूर्वपञ्चकसहिताद्वा नागदलोत्पत्तिर्युक्ता । संख्यासामान्यविरहेऽपि प्रकारान्तरेण योग्यत्वं शक्यं संपादयितुम् । चतुर्दशकोणपर्यन्तेषु मातृकाष्टवर्गान्तर्भावादिति वाच्यम् । तथा सति अन्योन्याश्रयदोषापातात् । तथा हि दशारं भूवेश्मादपीत्युक्तम् । बहिर्दशारं नाम अन्तर्दशारात्संख्यासामान्यादुत्पन्नं भूवेश्मा-

दपि कारणादुत्पन्नं बहिष्ट्वोपपत्तेरिति तत्र व्याख्यातम्। तथा सति भूवेश्मादुत्पन्नबहिर्दशारात्तदुत्पन्नचतुर्दशाराष्टदलषोडशदलवृत्तत्रयपरम्परया भूवेश्मोत्पत्तिरिति स्पष्टमन्योन्याश्रयत्वम्। न च वाचनिकत्वाददोष इति वाच्यम्। वाचनिकस्याप्यन्योन्याश्रयदोषग्रस्तस्य प्रतिबोद्धुमशक्यत्वात्। अन्यथा वाचनिकत्वादेव प्रजापतिवपोत्खननादेरपि सिद्धिसंभवेनार्थवादाधिकरणानुत्थानापत्तेः। अष्टकोणाष्टदलोत्पत्तिस्वीकारे च नान्योन्याश्रयः इति सर्वमनद्यम्।

नृपतिदलं षोडशदलमस्मादष्टारादष्टदलकमलाद् द्विगुणीभूतात्समभवत्। यद्वा अष्टारादिति अष्टकोणाष्टदलयोरेकशब्देन निर्देशः। तथा चाष्टकोणगताष्टत्वसंख्या अष्टदलगताष्टत्वसंख्या च मिलित्वा षोडशसंख्यासामान्यमित्यवधेयम्।

अस्मात्षोडशदलात् त्रिवलयं वृत्तत्रयमभूत। वृत्तत्रयस्य षोडशभिरपि दलैः सम्बद्धत्वात् षोडशदलस्यैकत्वसंख्यैव भवितुमर्हति। तथा च षोडशदलं त्रिगुणीभूय वृत्तत्रयमभूत्। यद्वाऽष्टकोणाष्टदलषोडशदलेति त्रितयात्रित्वसंख्यासामान्येन त्रिवलयमभूत्। केचित्पुनर्बिन्दुत्रयरूपत्रिकोणादेव त्रिवलयोत्पत्तिमिच्छन्ति। बिन्दुत्रयस्य सोमसूर्यानलात्मकत्वात्। तथा चोक्तम्—

> सोमसूर्यकृशान्वात्मतेजस्त्रितयरूपकम् ।
> नेत्रत्रयं भावयामि वृत्तत्रितयमञ्जसा ॥ इति ।

तदेतोपादाय पुण्यानन्दैरप्यभिहितम् —

> बिन्दुत्रयमयतेजस्त्रितयविकारश्च तानि वृत्तानि ॥ इति ।

सम्प्रदायभेदेन सर्वं समाधेयम्।

त्रिवलयादेव चतुर्द्वाःप्रकारत्रितयं समभवत्। चतुर्द्वारयुक्ताः प्राकाराश्चतुर्द्वाःप्रकारास्तेषां त्रितयं भुवनत्रयमित्यर्थः। तत्समभवदित्यनुषङ्गः। इदमेवाम्ब चरणमिति। 'कलाबिन्दुर्नादः क्रमशः इह वर्णाश्च चरणमि'त्यत्र चरणपदेन हे अम्ब इदमेव यथावर्णितत्रिकोणादिसमुदायात्मकश्रीचक्रमभिप्रेतमित्यर्थः। शरणमिति पाठः। 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'ति कोशवचनात् शरणं वासस्थानम्। चरणमिति पाठेऽपि चर्यतेऽत्रेति विहारस्थानार्थकत्वात्तत्रैव पर्यवसानम् ॥ १७ ॥

चतुःषष्टिस्तन्त्राण्यपि कुलमतं निन्दितमभूत्
तदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह ।
शुभाख्याः पञ्चैताः श्रुतिसरणिसिद्धाः प्रकृतयो
महाविद्यास्तासां भवति परमार्था भगवती ॥१८॥

चौंसठ तन्त्र पूरे कुलमत है। शिष्टों ने उसका आदर नहीं किया। मिश्र मत भी उपासना मार्ग में आदरणीय नहीं है। वेदानुसारी शुभ नाम वाले ये पांच तन्त्र ही मूल, महाविद्या है। उन्हीं महाविद्याओं में भगवती शब्द चरितार्थ होता है ॥१८॥

अन्वयार्थबोधिनी

चतुःषष्टिरपि महामायाशम्बरादीनि **तन्त्राणि कुलमतम्**। तच्च **निन्दितमभूत्** शिष्टैः। **तदेतद् मिश्राख्यं** = कौलसमयिमिश्ररूपं चन्द्रकलाविद्याष्टकरूपं **मतं** तदपि **इह** = उपासनामार्गे **निन्दितं भवेत्**। **श्रुतिसरणिसिद्धाः** = श्रुत्यनुकूलाः **शुभाख्या एताः पञ्च** वशिष्ठसंहिताद्याः **प्रकृतयो महाविद्या** भवन्ति। **तासां**-तासु महाविद्यासु **भगवती परमार्था**= चरितार्था भवति ॥१८॥

अमृतझरिका

यद्यपि सामान्यरूपेण प्रथममपि मन्त्रः प्राप्तुं जपितुं च शक्यः। तथापि महावेधपूर्वकमन्त्रप्राप्त्यादिकं शिष्यसामर्थ्यसापेक्षम्। तदर्थं प्रथमं षोढैक्यसंपादनमावश्यकमिति तदिह पूर्वमुपपादितम्। उत्तरश्लोके च मन्त्रोद्धारः करिष्यते। तेन च चतुर्धैक्यमपि संपादयिष्यते। तथापि मन्त्रस्यातिरहस्यत्वात्तत्प्राप्त्यनन्तरं तामसादिसरणिषु वैदिका मास्म पतन्निति मन्त्रोद्धारात् पूर्वमेव तामसराजससात्त्विकभेदभिन्नानि कौलमिश्रसमयिमतानि प्रदर्शयन् समयिमतं तदुपादेयताप्रदर्शनार्थं स्तवीति—**चतुःषष्टि**रिति। चतुःषष्टिसंख्यकानि तन्त्राणि कुलमतमित्युच्यन्ते सकलान्यपि तानि कुलमतमेव। तत्कुलमतं तामसत्वान्निन्दितमभूच्छिष्टैरिति शेषः। क्वचित्तन्त्रे सदर्थप्रतिपादनसत्त्वेऽप्याधिक्येनासदर्थप्रतिपादनात् कुलमतत्वमेवेत्येतदर्थद्योतनायापिशब्दः भिन्नक्रमः। चतुःषष्टिरपि तन्त्राणीति। तानि च चतुःशत्यां परिगणितानि—

चतुःषष्टिश्च तन्त्राणि मातॄणामुत्तमानि च ।
महामायाशम्बरं च योगिनीजालशम्बरम् ॥
तत्त्वशम्बरकं चैव भैरवाष्टकमेव च ।
बहुरूपाष्टकं चैव यमलाष्टकमेव च ॥
चन्द्रज्ञानं मालिनी च महासम्मोहनं तथा ।
वामजुष्टं महादेवं वातुलं वातुलोत्तरम् ॥
हृद्भेदं तन्त्रभेदं च गुह्यतन्त्रं च कामिकम् ।
कलावादं कलासारं तथान्यत् कुण्डिकामतम् ॥
मतोत्तरं च वीणाख्यं त्रोतलं त्रोतलोत्तरम् ।
पञ्चामृतं रूपभेदं भूतोड्डामरमेव च ॥
कुलसारं कुलोड्डीशं कुलचूडामणिस्तथा ।
सर्वज्ञानोत्तरं चैव महाकालीमतं तथा ॥
अरुणेशं मेदिनीशं विकुण्ठेश्वरमेव च ।
पूर्वपश्चिमदक्षं च उत्तरं च निरुत्तरम् ॥
विमलं विमलोत्थं च देवीमतमतः परम् ॥ इति ।

अत्र चत्वारिंशत्तन्त्राणि महामायाप्रभृतीनि नामत उक्तानि । अष्टकत्रयं चेति चतुःषष्टिस्तन्त्राणि शंकरेण पार्वतीं प्रत्युक्तानि । अत्राष्टकत्रये केचित्तु—

असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्त एव च ।
कपाली भीषणश्चेति संहारश्चाष्टभैरवाः ॥

इत्युक्तानामष्टानां भैरवाणामष्टौ तन्त्राणीत्याहुः । सौन्दर्यलहरीव्याख्यायां लक्ष्मीधराचार्यास्तु सिद्धभैरव-बटुकभैरव-कङ्कालभैरव-कालाग्निभैरव-योगिनीभैरव-महाभैरव-शक्तिभैरव-प्रधानान्यष्टौ तन्त्राणीत्याहुः । एवंनामानि तन्त्राणि नोपलभ्यन्त इति सेतुबन्धकाराः । किन्तु एतान्यष्टौ निध्याद्यैहिकफलसाधनानीति व्याचक्षाणैर्लक्ष्मीधराचार्यैरेतन्नामतन्त्रानुपलम्भेऽप्येतत्प्रधानतन्त्रसद्भावात्तत्परता स्वीकृता । सेतुबन्धकारेण भैरवाष्टकमेकमेव स्वीकृत्य पाठभेदेन चतुःषष्टिसंख्यापूर्तिस्तन्त्रान्तरैः संपादिता । तत्र महाकालीमतं तथेत्यनन्तरं—

महालक्ष्मीमतं चैव सिद्धयोगेश्वरीमतम् ।
कुरूपिकामतं देवरूपिकामतमेव च ॥

सर्ववीरमतं चैव विमलामतमुत्तमम् ।
पूर्वपश्चिमदक्षं च उत्तरं च निरुत्तरम् ॥
तन्त्रं वैशेषिकं ज्ञानं वीरावलि तथापरम् ।
अरुणेशं मोहिनीशं विशुद्धेश्वरमेव च ॥

इति पठितम् । पूर्वमपि मालिनीस्थाने वासुकिः । वामजुष्टास्थाने महोच्छुष्यामिति पाठो भिन्नः । तत्र महाकालीमतं तथेत्यन्तं सप्तचत्वारिंशत् । महालक्ष्मीमतमित्यादीनि सप्तदशेति चतुःषष्टिः । वाहुरूपाष्टकं तु ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डेति सप्त प्रसिद्धाः अष्टमा शिवदूतीत्येता अवलम्ब्य प्रवृत्तम् । यामलाष्टके मतभेदः । तत्र केचित्—आदियामलम्, ब्रह्मयामलम्, विष्णुयामलम्, रुद्रयामलम्, गणेशयालम्, आदित्ययामलम्, भैरवयामलम्, लक्ष्मीयामलमित्यष्टौ वदन्ति । सेतुबन्धे तु ब्रह्मयामलम्, विष्णुयामलम्, रुद्रयामलम्, लक्ष्मीयालम्, उमायामलम्, गणेशयामलम्, जयद्रथयामलमित्यष्टावर्थरत्नावल्युक्तान्युदाहृतानि । नन्वेमन्येषां यामलानां प्रसिद्धानां क्वान्तर्भाव इति चेद् ? अल्पमिदं पृष्टम् । तन्त्राण्यप्यन्यानि बहूनि सन्ति यान्यत्र न परिगणितानि । तेषां संग्रहस्त्वेवं पार्वत्या शंकरं प्रत्युक्तः—

एवमेतानि शास्त्राणि तथान्यान्यपि कोटिशः ।
भवतोक्तानि मे देव सर्वज्ञानमयानि च ॥ इति ।

तस्माद् भैरवाष्टकस्य तन्त्राष्टकरूपत्वे वामकेश्वरपाठभेदोदाहृताः शेषकोटयन्तर्भूताः । एवं वासुकिः मालिनीत्यादिपाठभेदेनाऽधिकानि प्राप्तान्यपि शेषकोटिष्वन्तर्भावनीयानीति न कश्चिद् विरोधः । एतानि मुख्यानि कानिचिदन्यानि च कुलमतत्वेनोच्यन्ते । तच्च कुलमतं निन्दितमभूत् । एतेषां तन्त्राणां हिंसापानमायादिप्रधानत्वात् ।

यत्त्वत एव हिंसादिप्रधानानीमानि तन्त्राण्यवैदिकानीति । तत्रेदं विचार्यते । विश्वामित्र-वसिष्ठ-भरद्वाजकण्वादिप्रोक्तानामृगादीनां वैदिकत्वे शिवप्रोक्तानां कथमवैदिकत्वम् । न च वैदिकमन्त्रा विश्वामित्रादिदृष्टा न तु विश्वामित्रादिविरचिताः । तन्त्राणि पुनः शिवरचितानीति वैषम्यमिति वाच्यम् । एवमपि तन्त्रोक्तमन्त्राणां शिवविरचितत्वविरहात् । तेषामनादिसिद्धानां सर्वज्ञेन शिवेन तन्त्रेपूद्धरणात् । तन्त्रोक्तविधयोऽप्यनादिसिद्धा इति तत्प्रतिपादनपरान् अनन्तान् मन्त्रान् शिवः संक्षेपेण संजग्राह स्वशब्दैस्तन्त्रेष्विति ततोऽपि मूलवेदानुमानोपपत्तेस्तेषामपि वैदिकत्वमेव ।

स्मृत्युक्तविधिवत् । न च हिंसादिप्रधानत्वादवैदिकत्वमेषामिति वाच्यम् । वैदिकयज्ञादिष्वपि हिंसासत्त्वात् । **"अग्निषोमीयं पशुमालभेते"**त्यादि-वैदिकवचनदर्शनात् । न च निन्दितत्वादेव प्रतिषिद्धत्वादवैदिकत्वम्, **"यः स्तूयते स विधीयत"** इति वद् **"यो निन्द्यते स प्रतिषिध्यत"** इति वक्तुं शक्यत्वादिति वाच्यम् । न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुमिति सिद्धान्तेन निन्दया प्रतिषेधानुमानानुपपत्तेः । न **"ह्यप-शवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गोअश्वा"** इति गवाश्वेतरनिन्दा अजालम्भादिप्रतिषेधपरा शक्यसम्भावना ।

नन्वेवमत्र चतुःषष्टितन्त्राणां निन्दितत्त्वकथनमनर्थकं स्यात् । निन्दि-तत्वकथनेन तत्प्रतिषेधासिद्धेः । न च समयिमतप्रशंसार्थमेवोक्तिरिति वाच्यम् । "अतोऽस्याः संसिद्धौ फलमपि च सर्वाधिकमभूदि"त्युक्त्यैव प्रशंशासिद्धेराचार्यस्य तन्निन्दितत्वकथनस्यासाधिष्ठत्वात् । "तदेतत्कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेयमुदितं भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्यमुभयमि"-त्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्वाचार्याणामेतत्परित्याग एव तात्पर्यावगमाच्चेति चेद् ? अत्रोच्यते । यथा "श्येनेनाभिचरन् यजेते"त्यादीनां श्येनादिवाक्यानां वैदिकत्वेऽपि मीमांसकैरधर्मत्वोपगमेन श्येनादयो निन्दितास्तथा चतुः-षष्टितन्त्रार्था निन्दिता इति तद्द्वारा तन्त्राणां तेषां निन्दितत्वोपपत्तेः । न च श्येनफलस्य शत्रुमारणात्मकस्य हिंसात्वान्निन्दितत्वं, न स्वरूपत इति वाच्यम् । इहापि मारणोच्चाटनादिफलाधिक्येन फलद्वारा निन्दितत्वो-पपत्तेः । न त्ववैदिकत्वात् । न च पुराणेष्ववैदिकत्वं तन्त्राणामभिहित-मिति वाच्यम् । तस्य शैववैष्णववादिपरस्परकलहप्रयुक्तप्रक्षेपवचनमात्र-त्वात् । अत एव सात्त्वतैस्तदीयतन्त्राणां वेदिकत्वमपरेषामवैदिकत्वं चाभिधीयते । शैवैस्तदीयतन्त्राणां वैदिकत्वमपरेषामवैदिकत्वं च व्यव-स्थाप्यते । प्रक्षेपानभ्युपगमेऽपि "अपशवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवा गोअश्वा" इत्यनुप्रदर्शितनिन्दावद् विधेयस्तुतिमात्रपरत्वेनोपपत्तेः ।

यदि पुनः सांख्यमतमवष्टभ्य वेदिकहिंसाया अपि हिंसात्वं **"मा हिंस्यात् सर्वाभूतानी"**ति निषेधविषयत्वं चाभ्युगम्यते, **"स्वल्पः संकरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्षः"** इति पञ्चशिखाचार्यवचनात्, तदा तान्त्रिकबाह्यतरपूजा-वद् वैदिकान्यपि हिंसादिमन्ति पश्वादियागादीनि निन्दितान्येव । अत एव

"दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः"

इत्येवं स्पष्टा निन्दा सांख्यैः कृता दृश्यते । हिंसादीनां न्यूनाधिकभावात्

क्वचिदधिकनिन्दा क्वचिदल्पेति व्यवस्थोपपत्तिः। तान्त्रिकबाह्यतर-पूजायां हिंसाद्याधिक्यान्निन्दाधिक्यम्। फलं तु श्येनकारीर्यादिवच्चोदितं भवत्येव। मानसपूजा पुनरत्राभिहिताऽभिधास्यमाना च हिंसादिसकल-दोषवर्जिता भवतीति सर्वथोपादेयैवेति सिद्धान्तरहस्यम्। इत्थं च हिंसा-पानादिरहिता यदि बाह्यपूजापि स्यात्तदा सापि नैव निन्द्या भवितु-मर्हति। शिष्टाचारदर्शनाच्च। शिष्टैश्चक्रादिपूजाऽद्यत्वेऽपि बाह्या सत्यपि हिंसादिवर्जिता क्रियमाणा बहुलमुपलभ्यते।

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।

इत्यादिवचनमप्यान्तरपूजाप्रशस्तिपरमेव। विहितस्य निषेधायोगात्। विहितनिषेधे हि षोडशिग्रहणवद्विकल्प एव भवितुमर्हति। न च "**यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेष्वि**"तिवद् विधेरबाह्यजातीतरविषयतया संकोचः क्रियतामिति वाच्यम्। यामलादिषु चातुर्वर्ण्यं प्रतिपाद्य सर्वेषां पूजाविधानेन संकोचानुपपत्तेः। ब्रह्मवादितुरीयाश्रमविषयतया वा निषेधो मन्तव्यः।

"अन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः"

इत्येवं तदनन्तरवचनदर्शनात्। यच्चात्र विशेषतो वक्तव्यं तदग्रे प्रवेद-यिष्यामः।

तदेतत्प्रसिद्धं मिश्राख्यं चन्द्रकलाविद्याष्टकं मतमपि इह देवीसपर्यायां निन्दितं शिष्टैः। चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधिः, कुलार्णवं, कुले-श्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्यं दौर्वाससमतं चेत्यष्टौ तन्त्राणि चन्द्रकला-विद्याष्टकम्। अत्र वामदक्षिणोभयमार्गनिरूपणान्मिश्रत्वम्।

"मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हि शंकरि"

इत्येवं भगवता शंकरेणैव मतद्वयमिदं निन्दितभूदिति वाऽर्थः।

शुभाख्या इति। शुभाख्याः शुभाह्वयाः श्रुतिसरणिसिद्धा एताः पञ्च प्रकृतयो मूलतन्त्राणि महाविद्या भवन्त्युपादेयाः। वसिष्ठसंहिता, सनक-संहिता, शुकसंहिता, सनन्दनसंहिता, सनत्कुमारसंहिता इत्येताः पञ्च शुभाख्याः प्रकृतयो भवन्ति। एतत्प्रतिपादिताः प्रस्तारभेदा अग्रे वक्ष्यन्ते।

एता महाविद्याः श्रुतिसरणिसिद्धाः। तैत्तिरीयब्राह्मणे आरुणोप-निषदादौ स्फुटं वर्णनदर्शनात्। प्रत्यक्षवेदोक्तत्वात्। यद्यपि तन्त्रान्त-राण्यपि शिवोक्तत्वेनानुमेयवेदोक्तानि भवन्ति। तथापि प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोः

प्रत्यक्षस्यैवोपादेयत्वं प्रथमप्राप्तत्वात्। यद्यपि च वसिष्ठसंहितादिषु पञ्चसु प्रोक्ता अर्था वेदेषु प्रत्यक्षं नोपलभ्यन्त इत्यनुमेयत्वमेव वेदानां तत्रापि। प्रत्यक्षवेदेष्वतिसंक्षेपेणैव वर्णनोपलम्भात्। तथापि "नैतमृषिमि"त्यादि वक्ष्यमाणश्रुतिप्रपादितार्थो वसिष्ठसंहितादावेव चरितार्थीभवति नेतरत्रेति तात्पर्यम्। किं चान्यत्र स्वल्पसंकरादिकं प्राग् अभिहितम्। अपि च तासामिति। तासां महाविद्यानां सप्तम्यर्थे षष्ठी। तासु महाविद्यासु भगवती परमार्था भवति परमोऽर्थः प्रतिपाद्यता यस्याः सा। परमार्थो भवतीति पाठान्तरम्। तदा षष्ठी यथाश्रुतार्था। तासां महाविद्यानां परमार्थो भगवती भगवतीशब्द इति यावत्, भवतीत्यर्थः। भगशब्द ऐश्वर्यवाची। तद्वत्त्वं महाविद्याभिरेव भगवत्याः प्रकटीभवतीति तत्रैव भगवतीशब्दचारितर्थ्यमित्युभयपाठेऽपि आचार्यस्य भावः।

अथवा तासां महाविद्यानां परमार्थः परमोऽर्थो भगवती भगवत्येव। अन्यासां विद्यानां लौकिका विषया एवार्थः प्रयोजम्। महाविद्यानामर्थः प्रयोजनं भगवतीप्राप्तिरेव। यद्यपि मध्येऽन्याः सिद्धयोऽपि भवन्तीति सोऽप्यर्थः। तथापि परमोऽर्थो भगवत्येवेति भावः॥ १८॥



स्मरो मारो मारः स्मर इति स्मरो मारमदन-
स्मरानङ्गश्चेति स्मरमदनमारा मनुरिति ।
त्रिखण्डः खण्डान्ते कलितभुवनेश्यक्षरयुत-
श्चतुःपञ्चार्णास्ते त्रय इति त्रिपञ्चाक्षरमनुः ॥१९॥

हसकल ऐसा प्रथम खण्ड है। हसकहल ऐसा द्वितीय खण्ड है। सकल ऐसा तृतीय खण्ड है। इस प्रकार तीन खण्ड वाला यह मन्त्र प्रत्येक खण्ड के अन्त में ह्रींकार से युक्त है। चार, पाँच और तीन अक्षर वाला तीन ह्रींकारयुक्त यह मन्त्र पञ्चदशाक्षरी है ॥१९॥

अन्वयार्थबोधिनी

स्मरः – हः। **मारः** – सः। **मारः** – कः। **स्मरः** – लः। इति प्रथमखण्डः। **स्मरः** – हः। **मारः** – सः। **मदनः** – कः। **स्मरः** – हः। **अनङ्गः** – लः। इति द्वितीयखण्डः। **स्मरः** – सः। **मदनः** – कः। **मारः** – लः। इति तृतीयखण्डः। **इति**=एवं **मनुः**=मन्त्रः **त्रिखण्डः**। **खण्डान्ते**=प्रत्येकखण्डस्यान्ते। **कलितेति**। कलितं भुवनेश्या अक्षरं=ह्रीं इति तेन युतः। खण्डान्ते कलितेत्यलुक्समासः। एवं ते **त्रयः** खण्डाः **चतुःपञ्चार्णाः**=चतुर्णपञ्चार्णान्यतररूपा **इति** **च** हेतोः **पञ्चाक्षरमनुः**। त्रिष्वपि खण्डेषु हसकलेत्यक्षराणि नातिवर्त्तन्ते। ह्रीमिति पृथक् इति पञ्चैवाक्षराणि। कादिविद्यायां तु ह्रींकारे हकारमन्तर्भाव्य पञ्चाक्षरत्वमुपपादनीयम् ॥१९॥

अमृतझरिका

कला-बिन्दु-नादानुवत्वा तामसादिमतपरिहारणीयतां सात्त्विकमतपरिग्रहणीयतां चाभिधायाधुना मन्त्रमुद्धरति—**स्मर** इति। तत्र कोशेषु स्मर इति इकार-विसर्ग-क-र-थ-ह-क्लींकाराणां नामेति वर्णितम्। स्मरस्य पुष्पधन्वत्वाद् लं पुष्पं समर्पयामीत्यादिदर्शनाच्च परम्परालक्षणया लकारबोधकत्वमपि। विसर्गेण सकारोऽप्युपलक्ष्यते। यद्यपि मारादिशब्दानाम् इकारककारक्लींकारादिमात्रवाचित्वं कोशेष्वभिहितम्। तथापि स्मरमारादीनां परस्परपर्यायत्वात्तैः पदैर्यथायोग्यसर्वसंग्रहसंभवः। एवं

च हादिविद्यायां सर्वे वर्णा अत्र संगृहीता भवन्ति। स्मरो हः। मारः सः। मारः कः। स्मरो ल इति। स्मरो हः। मारः सः। मदनः कः। स्मरः हः। अनङ्गो ल इति। स्मरः सः। मदनः कः। मारो ल इति। खण्डत्रयेऽप्यत्राक्प्रत्याहारस्याग्रे वक्ष्यमाणस्योपलम्भादत्र हादिविद्यैवाभिमतेति गम्यते। यथा कथाञ्चिदक् प्रत्याहारेण कादिविद्यापि यद्यत्र विवक्षिता तदा प्रथमखण्डे—स्मर इति ककारः। अमार इति च्छेदाद् अश्चमारश्चेति विग्रहे मारशब्दार्थेकारेणाकारसन्धौ एकारलाभः। द्वितीयमारपदं मारद्वयसमुदायपरमिति इश्च इश्च ई इति ईकारः। शेषं पूर्ववत्। इतिशब्दः खण्डसमाप्त्यर्थः। अत एव मनुरितीत्यत्रेतिशब्दो व्यत्ययेन स्मरमदनमारा इत्यनन्तरं योज्यः। स्मरमदनमारा इति मनुः इत्येवं पठनेऽपि छन्दोभङ्गाभावेऽपि स्वरद्वयप्रयोगे सौष्ठवाभावान्मनुरितीत्येवं पठितमिति द्रष्टव्यम्। इति मनुः त्रिखण्ड इति तृतीयपादस्थत्रिखण्डेनान्वयः।

पुनश्च खण्डान्ते खण्डानामन्तः खण्डान्तस्तस्मिन्। जात्येकवचनम्। खण्डान्तेषु इति द्रष्टव्यम्। त्रयाणां खण्डानां प्रत्येकस्यान्ते। कलितभुवनेश्यक्षरयुतः। इदमपि मनोर्विशेषणम्। कलितं यद् भुवनेश्या अक्षरं ह्रीमिति त्रिरावृत्तं तेन युतो मनुरिति। खण्डान्ते कलितेत्यत्र पाणौ महासायकचारुचापमितिवत् सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः। अथवा खण्डान्ते कलितेत्यत्र समासे कृतेऽपि सप्तम्या अलुगिति तच्छ्रवणम्। सरसिरुहमित्यादिवत्। खण्डान्तयोजितह्रींकारत्रययुत इति समुदितार्थः।

ते च खण्डगता अर्णा-वर्णाः चत्वारश्च पञ्च च चतुष्पञ्च त्रय इति च पञ्चाक्षरमनोः। ह स क ल ह्रीं इति पञ्चाक्षरमनोः। वस्तुतः पञ्चैवाक्षराणि। द्वितीयखण्डे हकारावृत्तिः। तृतीयखण्डे हकारनिवृत्तिः। त्रय इति चेति चकारेण त्रयो ह्रींकारा अपि ग्राह्याः। अथ वा ते इति भुवनेश्यर्णास्त्रयो ग्राह्याः। त्रय इति तृतीयखण्डे सकलाः इति बोध्यम्। यद्यपि चत्वारश्च पञ्च चेति विग्रहे नवेति वक्तव्यम्। तथापि नवसंख्या फलितार्थ एव। न चैवंविधसमासो नास्तीति वाच्यम्। द्वौ च दश च द्वादशेत्यादि दर्शनात्। न च नवसंख्यान्तर्भावेऽनभिधानान्न समासः। न हि अष्टाविति वक्तव्ये त्रिपञ्च द्विषडित्यादयः प्रयोगाः दृश्यन्त इति वाच्यम्। यत्र चतुष्ट्वेन पञ्चत्वेन च विभागो विशेष्ये विवक्षितस्तत्र चतुष्पञ्चेति प्रयोगस्यावश्यकत्वात्। "एकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणास्तु गगनादय" इत्येवं प्रयोगोपलम्भात्।

ननु कादिविद्यायां क ए ई ल ह सेति वर्णषट्कदर्शनात् पञ्चाक्षरमनुरिति न घटते ह्रींकारमेलने च सप्तवर्णाः स्युरिति चेत्? सत्यम्। अत

एव हादिविद्यामधिकृत्यैवायं श्लोक इति ब्रूमः। सौन्दर्यलहर्यामपि "**शिवः शक्तिः कामः क्षिति**रि"त्यनेन हसकलेति चत्वारः स्फुटं प्रतीयन्ते। स्मरं योनिं लक्ष्मीमित्यनन्तरश्लोके कादिविद्योद्धारः क ए ई इति वर्णत्रय-व्यत्ययनात्कृत इत्येव प्रतीयते। यदि च कादिविद्यायामप्याग्रहस्तदा त्रय इति च पञ्च इति पृथक्कृत्याष्टाविति वक्तव्यम्। अक्षरमनोरिति च अक्षरदृष्ट्या मनोरिति व्याख्येयम्। तथा च क ए ई ल ह स इति षट्। ह्रीमित्यत्र हकारः षट्सुगतः। ई च गतः। रश्चानुस्वारश्चेति द्वौ। षट्सु द्वयोर्मेलनादष्टौ। ककारादिष्वकार उच्चारणार्थ इति न नवत्वा-पत्तिः। एकारस्य अकारेकारसन्ध्यक्षरत्वेन तत्राकारान्तर्भावाद्वा। न चैवमत एव अकारमिकारं चादाय कृतसन्धेरेकारस्य द्व्यक्षरत्वापत्तिरिति वाच्यम्। क ए ई इति ईकारे इकारान्तर्भावात्। अत एव इश्च इश्च ई इति सन्ध्यक्षरस्वीकारेऽपि ईकार एक एव। इकारावृत्तिमात्रत्वात्। तथा च क् अ इ ल् ह् र् ँ स् इत्यष्टावेवाक्षराणि। न च त्रय इत्यस्यो-त्तरान्वयने चतुष्पञ्चार्णास्ते इत्यस्यासांगत्यं स्यादिति वाच्यम्। चत्वारो वा पञ्च वा चतुष्पञ्चा अर्णा येषां त्रयाणां खण्डानां ते चतुष्पञ्चार्णा इति व्याख्यानात्। तत्र प्रथमे खण्डे चत्वारः। क्, अ, ई, ल्, इति। द्वितीय-खण्डे पञ्च ह् अ स् क् ल् इति। अन्येषामावृत्तिरेव। तृतीये चत्वारः। स् अ क् ल् इति। तथा च चत्वारो वा पञ्च वेति युक्तमुक्तम्।

क्वचित्तु चतुपञ्चार्णास्ते त्रय इति त्रिपञ्चाक्षरमनुरिति पठितम्। तत्र त्रिपञ्चेति पञ्चदशाक्षराणि। किन्तु तत्र तिकारस्य गुरुत्वाच्छन्दो-भङ्गः प्राप्नोति। यद्यप्ययं दोषः प्रथमपादेऽप्यस्ति तत्रापि स्मरो मार-मदनेत्यतः प्राचीनस्य तिकारस्य गुरुत्वाच्छन्दोभङ्गः प्राप्नोत्येव। तथाप्येकः सोढव्यः। अन्ये तु परामारमदनेति पेठुः। परा-हकारः। "**अव्यक्ताहार्णसमरसाकार**" इत्यादौ अकारः शिवः हकारः पराशक्तिरिति स्वीकारात्। किन्तु सर्वेषां कामदेवनामत्वात्तन्मध्ये एकं नाम चेदन्यदीयं पठ्यते तदा वैरूप्यमापद्यते। परायाः कामकलारूपत्वात् परः काम एवेति व्याख्यानं संभवति। पर इति चान्ये पठन्ति। तथापि स्पष्टनाम-स्वस्पष्टनामप्रवेशो दुर्निवार एव। "**अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं कदापि ने**"ति रीत्या मार एव मर इत्येके पठन्ति। तदपि साधियस्तां नाधिरोहति।

अत्र प्रथमो **वाग्भवकूट** इत्युच्यते। द्वितीयः **कामराजकूट** इति। तृतीयः **शक्तिकूट** इति। प्रथमे पञ्चाक्षराणि द्वितीये षडक्षराणि।

तृतीये चत्वार्यक्षराणीति पञ्चदशाक्षरी विद्या । सा द्विधा । कादिविद्या हादिविद्या चेति । प्रथमकूटे एवोभयोर्विशेषः । कादिविद्यायां क ए ई ल ह्रीं इति प्रथमकूटम् । हादिविद्यायां ह स क ल ह्रीं इति प्रथमकूटम् । तत्र विश्लेषणे तु षट्त्रिंशदक्षराणि भवन्ति । यथा हेति ह् अ इत्यक्षरद्वयम् । एवं सेत्यादिकमपि । तथा च हसकलेत्यष्टौ । ह्रीमिति ह् र् ई म् इति चत्वारि । तथा च द्वादश । द्वितीये चतुर्दश । तृतीये दशेति षट्त्रिंशत् । एभ्य एवाक्षरेभ्यः षट्त्रिंशत्तत्त्वानीति मतं वक्ष्यामः । ननु एतत्कादिविद्यायां न घटते। तत्र प्रथमखण्डे दशानामेव वर्णानां विद्यामानत्वादिति चेत् ? अत्राहुः । ए इति ई इति च सन्ध्यक्षरत्वाद् द्वौ द्वौ वर्णौ । अ इ इति ए । इ इ इति ई इति । तत्रेदं चिन्त्यम् । एवं सति ह्रींकारघटकः ईकारोऽपि संध्यक्षरत्वाद् द्व्यक्षर इति कूटत्रये एकैकवर्णाधिक्यादेकोनचत्वारिंशद् वर्णाः स्युः । ह्रींकारघटकेकारस्य न सन्ध्यक्षरत्वमिति तु दुर्बोधसमाधिः । एकारो भिन्नस्थानीयाभ्यामकारेकाराभ्यां संयुक्तत्वाद् वर्णद्वयम् । ह्रींकारे स्थानैक्यादीकारस्यैकवर्णत्वम् । न चैवं क ए ई इतीकारस्यैकवर्णत्वात् पञ्चत्रिंशदेव वर्णाः स्युरिति वाच्यम् । ईश्च ईश्च ई इतीकारान्तरप्रश्लेषादित्यपि समाधानमीषद्बोधम् । पञ्चदशाक्षरत्वस्य तदा दुःसम्पादत्त्वात् । षोडशाक्षरत्वप्रसङ्गात् पञ्चदशाक्षरपरिगणनायां तदेकाक्षरं षट्त्रिंशत्परिगणनायां द्व्यक्षरमिति समाधानं तु पूर्वोक्तामीषद्बोधतां प्रकटयति । क ए ई इत्यादावसन्धिरिव ई ई इत्यनयोरप्यसंधित्वापत्तेश्च । परे तु ककारहकाराद्युपर्यकारवदेकारोपर्यप्यकारो विद्यते । तस्य पूर्वरूपत्वादश्रवणम् । तथा च सन्ध्यक्षरात्मकैकारस्त्रिवर्णरूपः । ईकारस्त्वेक एव । न च तदुपर्यप्यकारः कुतो नेति वाच्यम् । मन्त्रेष्वनुयोगानवकाशादित्याहुः । षट्त्रिंशत्त्वं तु संपाद्यमेव । तदेतदभिहितं कामकलाविलासे पुण्यानन्दैः

अज् व्यञ्जनबिन्दुत्रयसमष्टिभेदैर्विभाविताकारा ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा तत्त्वातीता च केवला विद्या ॥ इति ।

अत्र सेतुबन्धकाराः एवंप्रकारेण षट्त्रिंशत्तत्त्वसंपादनं प्रमाणानधिरूढमेव । न चात्र

व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा विद्या भूतगुणात्मिका ।
पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः ॥

स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी ।
सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ।
तत्त्वातीतस्वभावा च विद्यैषा भाव्यते सदा ॥

इति वामकेश्वरवचनमेव प्रमाणम् । सप्तत्रिंशं तु समष्टिरूपम् । तदर्थश्च तत्त्वातीतस्वभावा विद्यैवेति वाच्यम् । ह्रींकारघटकबिन्दुत्रयवन्नादत्रस्यापि परिगणनावश्यकत्वादेकोचत्वारिंशद्वर्णापत्तेः । समष्टिश्च चत्वारिंशं भवेत् । कादिविद्यायां चतुस्त्रिंशत् स्वरव्यञ्जनानुस्वाराः । त्रयो नादा इति सप्तत्रिंशत्संख्याकत्वोपपत्तिरित्यभिधाय महता संरम्भेण नादानामपि परिगणनावश्यकत्वं प्रासाधयन् । तदसत् । नादस्यैव तत्त्वातीतस्वभाव-विद्याप्रतिपादकत्वात् । न च नादत्रित्वादेकोनचत्वारिंशत्संख्या स्यादिति वाच्यम् । तत्त्वातीतस्य त्रित्वानुपपत्तेः । तथा सति तस्य तत्त्वातीतत्वानु-पपत्तेः । गुणक्रियादिरहितं वाच्यवाचकभावातीतं हि तत्त्वातीतमित्युच्यते । अन्यथा पारिभाषिकं तत्त्वातीतत्वं स्यात् । तत्त्वातीतस्यैव त्रित्वे तत्त्वानि तु चतुस्त्रिंशदेव पर्यवस्येयुरिति "भक्षितेऽपि लशुन" इति न्यायापातः । न चैको नादस्तत्त्वातीतस्वरूपः । द्वौ नादौ च तत्त्वद्वयस्वरूपाविति वाच्यम् । नादानां भेदाभावस्योक्तत्वात् । भेदेऽपि वा एकस्य तत्त्वातीता-त्मकत्वमपरयोस्तत्त्वद्वयस्वरूपत्वमिति दुर्भणमेव । न च शारदातिलकादौ

आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ।
पराशक्तिमयः साक्षात्त्रिधासौ भिद्यते पुनः ।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥ इति ।

भिद्यमानात्ततो बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।

इति च त्रयो भिन्ना नादा उक्ताः । रव इति नादः । इति वाच्यम् । तत् किं तत्रत्यनादा इह नादैरुच्यन्ते भवता ? तर्हि सर्वेऽपि नादास्तत्त्वरूपा इति कथं तत्त्वातीतत्त्वम् । न च "शान्तिः शक्तिश्च शम्भुश्च नादत्रितयबोधने" त्युक्तेर्नादत्रितयसिद्धिः । शान्तिरिति तत्त्वातीतं ब्रह्म । शम्भुशक्ती शिव-शक्ती । इति वाच्यम् । दत्तोत्तरत्वात् । न ह्येको नादस्तत्त्वातीतस्व-रूपोऽपरौ च तत्त्वस्वरूपावित्यत्र किंचिन्मानम् । विरुद्धस्वरूपानुप-लम्भात् । विनिगमनाविरहाच्च । न चैष दोषो हकारादावपि स्यात् । केन हकारेण किं तत्त्वमुच्यत इतीति वाच्यम् । तत्रोत्पत्तिक्रमेण क्रमोत्पन्न-तत्त्वबोधकत्वोपपत्तेः । न हि तत्त्वातीते प्रथमत्वद्वितीयत्वादिव्यवस्था । न च प्रथमत्वस्य द्वितीयसापेक्षत्वाद् द्वितीयानुत्पत्तिकाले प्रथमत्वविरहा-

त्कल्पितप्रथमत्ववान् नादस्तत्त्वातीतरूपः। अपरौ शिवशक्तिरूपाविति वाच्यम्। द्वितीयनादोत्पत्तौ प्रथमत्वागमनात्तथा तत्त्वातीतस्यापि प्रथमत्वापत्तेः। वस्तुतस्तु नाद एक एवाभिव्यञ्जकभेदेन भिन्नरूपेण त्रित्वादिना चाभिव्यज्यते। तथा च तत्र त्रित्वादिकं कल्पितमेव। एवमत्र तत्त्वातीतं हि नाम शिवशक्तिसामरस्यमेवोच्यते। तत्र शिवः शक्तिः सामरस्यमिति त्रयः कल्पितभेदाः। तथाविधं कल्पितं भेदमादाय शान्तिः शिवः शक्तिरित्युक्तिः। कल्पितभेदेन कल्पितभेदप्रतिपादनमुपपद्यत एव। न चैवं नादैस्तत्त्वातीतमात्राभिधाने सप्तत्रिंशत्त्वपूर्तिर्न स्यादिति वाच्यम्। बिन्दुत्रयेण भवतापि बहूनां ग्रहणाद् द्वित्राधिक्ये क्षत्यभावात्। न चैवमपि कादिविद्यायाः शास्त्रीयत्वात् सप्तत्रिंशाक्षरसंख्यापूर्तिरनुपपन्नेति वाच्यम्। एकारस्य वर्णत्रयात्मकत्वेनोपपत्तेः।

श्रीकण्ठदशकं तावदव्यक्तस्य हि वाचकम्।
प्राणभूतः स्थितो देवि तद्वदेकादशः परः॥

इत्यत्र श्रीकण्ठपदवाच्यस्यैकादशत्वमुपपद्यते। तृतीयकूटस्थः प्रथमोऽकारः प्रकाशवाचकत्वेन भावार्थप्रकरणोक्तेर्हादिविद्यायां तदुद्देशलाभः। प्रकारान्तरेणैकादशश्रीकण्ठव्याख्यानापेक्षया एवं व्याख्यायां लाघवादिति दिक्।

अधुना संक्षेपेण बीजाक्षरार्थं वामकेश्वरतन्त्रप्रदर्शितं प्रदर्शयामः—

व्योमबीजैस्तु विद्यास्थैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चकम्।
तेषां कारणरूपेण स्थितं ध्वनित्रयं परम्॥

अस्यार्थः—व्योमबीजैर्हकारैः पञ्चभिः ह्रींकारघटकैस्त्रिभिर्द्वितीयखण्डस्थाभ्यां द्वाभ्यां चाकाशादिषु पृथिव्यन्तेषु कार्यकारणभावेन स्थिताः पञ्चशब्दा उच्यन्ते। हादिविद्यायां प्रथमकूटस्थेन हकारेण कारणं ध्वनित्रयं परं पराशक्तिर्नादरूपोच्यते विमर्शात्मा। कादिपक्षे तु एकारघटकीभूत 'ई' कारणरूपा परा शक्तिः। इति व्योमाक्षरव्याख्या।

महामायात्रयेणापि कारणेन च बिन्दुना।
वाय्वग्निजलभूमीनां स्पर्शानां च चतुष्टयम्॥

महामायात्रयेण ह्रींकारगतेन ईकारत्रयेण कारणबिन्दुना तृतीयकूटस्थेन अकारेण च, कादिविद्यायां प्रथमकूटस्थेन निर्बिन्दुकेन ईकारेण वा वाय्वादिचतुष्टयगताः चत्वारः स्पर्शा उच्यन्ते। इति वाय्वक्षरव्याख्या।

रूपाणां त्रितयं तद्वत् त्रिभी रेफैर्विभावितम्।
प्रधानं तेजसो रूपं तद्बीजेन हि जन्यते॥

ह्रींकारत्रितयगतैस्त्रिभी रेफैस्तेजोजलपृथ्वीगतं रूपत्रयमुच्यते। रेफो हि अग्निबीजम्। इत्यग्न्यक्षराणां व्याख्या।

विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैस्तु स्थूलः सूक्ष्मो रसः स्मृतः।
सम्बन्धो विदितो लोके रसस्याप्यमृतस्य च॥

चन्द्रबीजैः सकारैर्जलपृथ्व्योर्द्वौ रसौ अमृतं च शिवशक्तिसंयोगजनितमुच्यते। चन्द्रेण तद्रसग्रहणात्। कादी द्वयोर्बहुवचनम्। इति जलाक्षराणां व्याख्या।

वसुन्धरागुणो गन्धस्तल्लिपिर्गन्धवाचिका।
भुवनत्रयसम्बन्धात्त्रिधात्वं तु महेश्वरि॥

गन्धवाचिका तल्लिपिर्लकारः। तेन भुवनत्रयगतत्रिविधगन्धोक्तिः। इति भूम्यक्षराणां व्याख्या।

अशुद्धशुद्धमिश्राणां प्रमातॄणां परं वपुः।
क्रोधीशत्रितयेनास्य विद्यास्थेन प्रकाश्यते॥

क्रोधीशत्रितयेन ककारत्रयेण अशुद्धाः शुद्धाः मिश्रा इति त्रिविधाः प्रमातारो जीवात्मान उच्यन्ते।

श्रीकण्ठदशकं तद्वदव्यक्तस्य हि वाचकम्।
प्राणभूतः स्थितो देवि तद्वदेकादशः परः॥

माया कला विद्या रागः कालः नियतिः प्रकृतिः बुद्धिः अहंकारः मन इत्यव्यक्तदशकस्य वाचकमकारदशकमित्यर्थः। एकादशोऽकारः कादिविद्यायामेकारः स्वरेष्वेकादशत्वात्। स प्राणभूतः प्रञ्चप्राणात्मकः स्थितः।

रुद्रेश्वरसदेशाख्या देवतामितविग्रहाः।
बिन्दुत्रयेण कथिता अमितामितविग्रहाः॥

ह्रींकारोपरिस्थेन बिन्दुत्रयेण रुद्रः इश्वरः सदाशिवश्चोक्ताः।

शान्तिः शक्तिश्च शम्भुश्च नादत्रितयगोचराः।

व्याख्यातम्।

अत्रेदं बोध्यम्। व्योमबीजानि षड् हकाराः। वायुबीजानि ईकाराः त्रयोऽकारश्चैकः। तेजोबीजानि त्रयो रेफाः। जलबीजानि त्रयः सकाराः। पृथिवीबीजानि त्रयो लकाराः। एतैरेकोनविंशत्याऽक्षरैरर्थादेव वागादयः

पञ्च श्रवणादयः पञ्च आकाशादयः पञ्च सूक्ष्मास्तन्मात्राः पञ्चस्थूलाश्चोक्त-प्रायाः। एकादशाकारस्य प्राणभूतत्वोक्त्या भूतपञ्चकान्तर्भावेन विंशति-संख्यापूर्तेः। अशुद्धेत्यादिना अशुद्धोऽविद्यावान् पुरुषः। मिश्रः माया-विशिष्टः ईश्वरः। शुद्धः शुद्धत्वप्रयोजिका विद्या चोक्ता भवति। इति त्रयोविंशतिः। श्रीकण्ठदशकं व्याख्यातमेविति त्रयस्त्रिंशत्। पारिशेष्यात् रुद्रेश्वरसदेशाख्या इति शिवः शक्तिः सदाशिवः इति। रुद्रपदस्य परमशिवे लक्षणोपगमात्। ईश्वरपदेनैश्वर्यप्रयोजकशक्तिग्रहणादिति षट्त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोहव्याख्या। नादेन तत्त्वातीता चित्कला द्योत्यत इत्युक्तमिति सर्वं चतुरस्रम्।

इयं च विद्या श्रुष्विपि गोप्यत्वेनाभिहिता। तथा हि—

कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।

पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्या॥

इत्याथर्वणे शौनकशाखायां श्रूयते। अत्र कामो योनिः कमलेतित्रयेण क ए ई इति त्रयाणामुद्धारः। हादिविद्यायामपि कामो हकारो व्याख्यातः। योनिः शक्तिः सकारः। कमलति प्राप्नोतीति क एव। शिष्टमुभयत्र समानम्। अथवा

षष्ठं सप्तममस्य वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।

इति शेषार्धेन हादिविद्योद्धारः। अस्या आदिविद्याया मूलत्रिकं क ए ई इत्येतत्स्थानीयमित्यर्थः। षष्ठं क ए ईइत्यादिगणनायां हकारं, सप्तमं सकारं, वह्निसारथिं वायुबीजं कमित्यादेशयन्तः। आदेशो नाम पूर्वमपास्य तत्स्थाने स्थापनम् यथा इकारस्य यकारादेशः। गुहा इति ह्रीं। हसा हसौ स्वरूपेण। मातरिश्वा कः। अभ्रमाकाशः हः। इन्द्र उक्तो वज्रपाणि-रिति। पुनर्गुहा ह्रीं। सकलाः स्वरूपतः। मायया ह्रींकारेणेति मन्त्र-पदार्थाः। वामकेश्वरमहातन्त्रे च मन्त्रोद्धारः—

मादनं तदधः शक्तिस्तदधो बिन्दुमालिनी।
ऐन्द्रमाकाशबीजस्थ—मधस्ताज्ज्वलनाक्षरम्॥
माया बिन्द्वीश्वरयुतं सर्वोपरिनियोजितम्।
अयं स वाग्भवो देवि वागीशत्वप्रवर्तकः॥
शिवबीजं त्रिधा कृत्वा सृष्टिस्थितिलयक्रमात्।
द्वयमाद्येन रहितमाद्याधो मदनाक्षरम्॥

पुनः स्थिति शिवाधस्तादिन्द्रबीजं नियोजयेत् ।
तथा लयशिवाधोऽपि ज्वलनाणं महेश्वरि ॥
चतुर्थस्वरसंयुक्तं बिन्दुखण्डेन्दुसंयुतम् ।
एवमेतन्महाबीजं कामराजं महोदयम् ॥
मायाबीजं महेशानि मादनं शक्रसंयुतम् ।
चन्द्रबीजं केवलं तु विनियोज्य वरानने ॥
त्यक्त्वा सृष्टिक्रमं देवि प्रागुद्धारक्रमेण तु ।
संहारक्रमयोगेन शक्तिबीजं समुद्धरेत् ॥ इति ।

मादनः मदनस्थायं ककारः । शक्तिः ए । बिन्दुमालिनी "चतुर्थी बिन्दुमालिनी"त्युक्तेः ई । इति कादिविद्यायाम् । हादिविद्यायां तु मादनो हकारः । शक्तिः सकारः । बिन्दुमालिनीति ककारः । नानातन्त्रेषु कोशेषु सर्वमिदं स्थितमिति सेतुबन्धकारस्य कादिविद्याभिनिवेशेन ऋजुविमर्शिन्यादिवचननिरसनमसाधीय एव ।

अत्र चाचार्यैर्गुरुमुखादेवावगन्तव्यत्वं द्योतयद्भिरेकस्मरपर्यायैः सर्वाक्षरोद्धारः कृतः । अत एव श्रुतौ "अग्निमीळे पुरोहितमि"त्यादिमन्त्राणां मुखत उच्चारणेऽपि पञ्चदशीमन्त्रस्तथा न पठित इत्यतिगोप्यत्वमेव ततः सूचितम् । नन्वेवमपि स्मरपर्यायैरेव कुतो मन्त्रोद्धारः कृतः । श्रुत्युदीरीतदिशापि गोप्यतायास्तुल्यत्वादिति चेन्न । सृष्टिक्रमेणात्र पूजनं न तु संहारक्रमेणेत्येतत्स्फोरणार्थत्वात् । स्मरो हि कामदेवः सृष्टिप्रयोजकत्वेन प्रसिद्धः । अष्टश्लोक्या च कामकलास्वरूपं पुण्यानन्दैर्निरूपितम् । सृष्ट्युन्मुखत्वं हि तत्राभिहितम् । नवमे श्लोके तु सृष्टिरिति । मन्त्रोऽयं कामकलारूप इति चाभिप्रेत्याचार्यः ॥ १९ ॥

त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे शशिसवितृवह्न्यात्मकतया
स्वराश्चन्द्रे लीनाः सवितरि कलाः कादय इह ।
यकाराद्या वह्नावथ कषयुगं बैन्दवगृहे
निलीनं सादाख्ये शिवयुवति नित्यैन्दवकले ॥२०॥

हे भवानी माता ! अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र रूप से तीन खण्ड वाले आपके इस मन्त्र में चन्द्र खण्ड में सभी स्वर आ जाते हैं । ककार से मकार तक सभी वर्ण सूर्य खण्ड में आते हैं । और यकारादि अग्नि खण्ड में आ जाते हैं । 'क्ष' यह अक्षर नित्य इन्दु कला वाले सादाख्य बैन्दव गृह में आ जाता है ॥२०॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे शिवयुवति = शिवे शशिसवितृवह्न्यात्मकतया = वह्निसूर्यचन्द्रात्मत्वेन हेतुना त्रिखण्डे = खण्डत्रयात्मके इह = अस्मिंस्त्वन्मन्त्रे पञ्चदशाक्षरविद्यायां चन्द्रे = चन्द्रखण्डे स्वराः = अकारादयः लीनाः = एकीभूताः । सवितरि = सूर्यखण्डे कादयः = ककारादिमकारान्ताः कलाः लीनाः = अन्तर्भूताः । वह्नौ = वह्निखण्डे यकाराद्याः = यकारादिहान्ताः लीनाः । अथ कषयुगं = क्षेत्यक्षरं नित्यैन्दवकले = नित्या ऐन्दवकला चान्द्रकला यस्मिंस्तथाविधे सादाख्ये = सादनाम्नि बैन्दवगृहे निलीनम् ॥२०॥

अमृतर्झरिका

एवं मन्त्रमुद्धृत्य चतुर्धैक्यप्रयोजकं तत्र सर्वमातृकावर्णसमावेशं दर्शयति त्रिखण्ड इति । यद्यपि प्राक् खण्डपदेन ह्लींकाराऽघटितमेव खण्डत्रयमभिहितं, खण्डान्ते कलितभुवनेश्यक्षरयुत इति वदता खण्डसमाप्तावेव भुवनेशीबीजोक्तेः । तथाप्यत्र खण्डपदेन ह्लींकारघटिता एव त्रयः खण्डा विवक्षिताः

इत्थं त्रीण्यपि मूलवाग्भवमहाश्रीकामराजस्फुर-
च्छक्त्याख्यानि चतुःश्रुतिप्रकटितान्युत्कृष्टकूटानि ते ।
भूतर्तुश्रुतिसंख्यवर्णविदितान्यारक्तकान्ते शिवे
यो जानाति स एव सर्वजगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकः ॥

इति क्रोधभट्टारकोक्तेः। भूतर्त्तुश्रुतिसंख्यवर्णेति। भूतानि पञ्च। ऋतवः षट्। श्रुतयश्चतस्र इति। वामकेश्वरेऽपि—

व्याप्ता पञ्चदशार्णैषा विद्याभूतगुणात्मिका।
पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः॥ इति।

शशिसवितृवह्न्यात्मकतयेति। शशी च सविता च वह्निश्चात्मनो यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया त्रिखण्डे इति योजना। तथा चोक्तं—

त्रिखण्डो मातृकामन्त्रः सोमसूर्यानलात्मकः॥ इति।

अत्र व्युत्क्रमेण सोमाद्यात्मकत्वं बोध्यम्। प्रथमो वह्निखण्डः। द्वितीयः सूर्यखण्डः। तृतीयश्चन्द्रखण्ड इति।

ननु शशिसवितृवह्न्यात्मके त्वन्मन्त्रे इत्येवावतैवोपपत्तौ त्रिखण्ड इतिपदप्रयोगः किमर्थः इति चेद्? अत्राहुः। ज्ञानशक्तीच्छाशक्तिक्रिया-शक्त्यात्मकं जाग्रदाद्यवस्थात्रयात्मकं विश्वतैजसादित्रयात्मकं, तमोरजः सत्त्वगुणात्मकमित्येतत्सर्वमपि सूचयितुं त्रिखण्डतोक्तिरिति। यद्यपि—

एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः।
यस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः॥
विमर्शाख्या च सा देवी पाञ्चविध्यं समागता।
आकाशावनिसप्तार्चिः—सलिलावनिभेदतः॥
एकैकगुणवृद्ध्या च तिथिसंख्यात्वमागता।
विमर्शरूपिणी नित्या षोडशी या प्रकीर्तिता॥

इत्येवमागमेषु पञ्चदशाक्षराणां तिथिसंख्यात्वमुक्तं पञ्चचतुस्त्रिद्व्येक-विधयेति त्रिखण्डत्वं न घटते। स्पष्टं च सुभगोदयवासनायां

खं वायुज्योतिरब्भूमिशब्दादिगुणभेदतः।
दशपञ्चतया व्याप्ता व्यापिकाः पूजयाम्यहम्॥ इति।

तथापीदं चन्द्रकलाविषयतया ज्ञेयं, न तु पञ्चदशीमन्त्राक्षरतया। तत्र प्रकारान्तरमस्माभिः प्रागुपपादितम्। यदि च कलाभिरक्षरैक्यमपि स्वीक्रियते तदा वचनात्तदवगन्तव्यमिति।

स्वराश्चन्द्रे लीना इति। स्वरा अकारादयश्चन्द्रे चन्द्रखण्डे चरमे लीना ऐक्यमापन्नाः। कलाः कादयो मावसानाः सवितरि सूर्यात्मके द्वितीये खण्डे लीनाः। इहेति पदं त्वन्मन्त्रे इत्यनेनान्वितम्। यद्यपि कला इति

प्रत्याहारग्रहणे सर्वव्यञ्जनानि तत्रान्तर्भवन्ति। तथापि यकाराद्या इति विशेषग्रहणात् कलपदं मपर्यन्त एव विश्राम्यति। यथा—"आद्गुणः" इति अच्सामान्ये परे गुणविधानोत्तरं "वृद्धिरेची"त्युक्तौ अच्सामान्यमक्कि पर्यवस्यति। यकाराद्याः य व र ल श ष स ह ळाः वह्नौ प्रथमे वह्निखण्डे लीनाः। अथ कषयुगं क्षेत्यक्षरं नित्यैन्दवकले नित्या ऐन्दवकला यत्र तस्मिन् सादाख्ये बैन्दवगृहे विलीनम्। हे शिवयुवतीति सम्बोधनम्। ननु—

षोडशेन्दोः कला भानोर्द्विर्द्वादश दशानले।
सा पञ्चाशत् कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी॥

इत्यत्र इन्दोः षोडशकला मातृकाषोडशाक्षराणीति समानम्। भानोः सूर्यस्य द्विर्द्वादशेत्युक्त्या चतुर्विंशतिरुच्यन्ते। इह कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिरिति वैषम्यम् तथा यादयो नवैवेति दशानल इत्यपि न घटत इति चेत्? तर्हि मकारो वह्निखण्डे योजनीयः। मकाराद्या इति पाठसत्त्वे स सुगमः। अन्यथा आद्यपदमावर्त्य व्याख्येयम्। यकारादादौ पूर्वं भवो मकारस्तदाद्या इति। अत एव—

प्रतिलोमे ळे 'क्ष'लयो ळकारश्च हकारके।
'ह'लयश्च सकारे च 'स'लयश्च षकारके॥
क्रमेणैव मपर्यन्तं लयमुत्पाद्य यत्नतः।

इत्यत्रैकविश्रामे मपर्यन्तत्वमुक्तम्। प्रपञ्चसारेऽपि—

स्वरैः सौम्याः स्पर्शयुग्मैः सौरा याद्याश्च वाह्निजाः।
षोडश द्वादश दश संख्याः स्युः क्रमशः कलाः॥

इत्युक्तम्। तत्रापि युग्मैर्द्वादश इति चतुर्विंशतिरेव प्रतीयन्ते। याद्या दशेति त्वत्र व्याख्यातरीत्यैव।

अत्रेदं बोध्यम्। शशिसवितृवह्न्यात्मकतयेति व्युत्क्रमेण व्याख्यातम्। त्रिखण्डो मातृकामन्त्रः सोमसूर्यानलात्मक" इत्यत्राभियुक्तैस्तथैव व्याख्यानात्। एवमेव षट्चक्रत्रिखण्डसाम्यमप्युपपद्यते। षट्चक्रे ह्याज्ञाविशुद्ध्योः सोमात्मकत्वं प्राग् व्याख्यातं, तत्रैव च स्वराः सर्वे वर्तन्ते। "कण्ठदेशे स्वराणामि"त्युक्तेः। हृत्कमलमणिपूरयोः सूर्यात्मकत्वं तत्रैव कादीनां लयः। हृदये कादिठान्ताः, नाभौ डादिफान्ता इति। स्वाधिष्ठानमूलाधारयोर्वह्न्यात्मकत्वं तत्रैवान्तस्थोष्मणां लयः। स्वाधिष्ठाने बादि-

लान्ता मूलाधारे वादिसान्ता इति। यद्यपि स्वाधिष्ठाने वह्न्यात्मके बभमानामपि वृत्तिः। हकारस्य चाज्ञाचक्रे। तथापि यत्किंचिदान्तर्यमकिञ्चित्करमेव। वैपरीत्ये बह्वान्तर्यप्रसङ्गात् संप्रदायविरोधाच्चेति। अग्रे च मन्त्रचक्रैक्यं वक्ष्यते।

ननु कषयुगं बैन्दवगृहे विलीनमित्युक्तम्। न पुनर्मन्त्रे बैन्दवगृहमुपलभ्यते। तद्धि श्रीचक्रे प्रसिद्धम्। सहस्रारकमले वक्ष्यमाणा सादाख्या कलेत्युच्यते तदपि सहस्रारं षट्चक्रोत्तरमेव। न हि तदपि मन्त्रे इति चेद्? अत्र केचिदाहुः। ह्रींकारोपरि यो बिन्दुस्तदेव बैन्दवं गृहं तत्र कषयोरन्तर्भाव इति। परे तु षोडश्याः षोडशमक्षरमेव बैन्दवगृहं सादाख्या कला तत्रैव। न च क्षकारस्याज्ञाचक्रस्थत्वान्न बैन्दहगृहस्थत्व संभव इति वाच्यम्। संयुक्तकषरूपेणाज्ञाचक्रस्थत्वेऽप्यखण्डाक्षरतनुत्वेन बैन्दवगृहवर्तित्वात्। स्वरूपद्वयं त्वग्रे सूचयिष्यते। यच्चात्र रहस्यतरं तत्संप्रदायतोऽवगन्तव्यमिति ॥२०॥

ककाराकाराभ्यां स्वरगणमवष्टभ्य निखिलं
कलाप्रत्याहारात् सकलमभवद् व्यञ्जनगणः ।
त्रिखण्डे स्यात्प्रत्याहरणमिदमन्वक्कषयुगं
क्षकारश्चाकारोऽक्षरतनुतया चाक्षरमिति ॥२१॥

पञ्चदशीमन्त्र अपने कूट में स्थित अकार और लकार से प्रत्याहारात्मक होकर सभी स्वरों को संग्रह कर वही क और ल को लेकर कलाप्रत्याहार से व्यञ्जनगण भी हो गया। तीनों खण्डों में यह प्रत्याहार की प्रक्रिया है। जो बचा क्षकार है वह भी अक् और कल् में अन्तर्गत है। 'क' और 'ष' के पीछे 'अ' आने पर वही 'क्ष' होता है। अविनाशी होने से वह अक्षर भी कहलाता है ॥२१॥

अन्वयार्थबोधिनी

सः = मनुः पञ्चदशीरूपः स्वकूटस्थाभ्यां **ककाराकाराभ्याम्** = 'अक' प्रत्याहारभावमापन्नाभ्यां **स्वरगणम्** = अकारमारभ्य ककारात् प्राक्तनं स्वरजातम् **अवष्टभ्य** = संगृह्य तथा स्वकूटस्थमेव **कलं** = लळयोरभेदात् कळम् **अवष्टभ्य** = आश्रित्य **कलाप्रत्याहारात्** = कळप्रत्याहाराद् **व्यञ्जनगणः** ककारादिळकारपर्यन्तव्यञ्जनसमुदायश्च अभवत्। स मन्त्रोऽभवदिति सम्बन्धः। स मन्त्रो व्यञ्जनरूपेणापि स्थित इत्यर्थः। **इदं प्रत्याहरणं** = प्रत्याहारग्रहणं **त्रिखण्डे** = खण्डत्रयेऽपि स्यात्। हादिविद्यायामकयोः कलयोश्च संनिधिपठितत्त्वात्। मध्यखण्डे हकारव्यवधानसत्त्वेऽपि व्यवधानस्य प्रत्याहाराविघटकत्वात्। कादिविद्यायां तु अकप्रत्याहारो वैपरीत्येन कथंचित्संपाद्यः। नन्वेवं क्षकाराऽसंग्रह इत्यत आह—**कषयुगं** = कलप्रत्याहारान्तर्गतौ ककारषकारौ **अन्वक्** अनु पश्चादञ्चति गच्छतीति पश्चाद्भावीत्यर्थः। योऽकारः स क्षकारश्च स्यात्। नन्वेवं वर्णत्रयस्याक्षरत्वं कथं? तत्राह—**अक्षरतनुतया** = अविनाशिरूपत्वात् क्षकारोऽक्षरं चेति ॥२१॥

अमृतझरिका

ध्यानविशेषविकल्पाद्यर्थं प्रकारान्तरेणापि मन्त्रे मातृकावर्णानां समावेशं सनकादिभिः प्रदर्शितं दर्शयति मन्त्रमातृकयोरैक्यसिद्धयर्थं च

ककारेति । त्रिखण्डे स्यात्प्रत्याहरणमिदमिति तृतीयपादोक्तेः खण्ड-त्रयेऽपि प्रत्याहरणमित्यवगम्यते । न त्र त्रिखण्डे त्रिखण्डात्मकेऽस्मिन्मन्त्रे इत्यर्थ इति वाच्यम् । तस्य पूर्वश्लोकादनुवर्तमानस्य पुनर्वचनानुपयोगात् । त्रिखण्डे इत्यस्य विशेषणतया विशेष्यपदाध्याहारप्रसङ्गाच्च । त्वन्मन्त्रे इति विशेष्यपदस्य पूर्वस्मादनुवर्तमानत्वे त्रिखण्ड इत्यप्यनुवर्तेत इति तदुक्तिवैयर्थ्यापरिहाराच्च । भवेन्मन्त्रे प्रत्याहरणमिदमित्युक्त्यैव पाद-पूर्तिसंभवात् । संभवति सप्रयोजनत्वे पादपूर्त्तिमात्रप्रयोजनतास्वीकारा-नौचित्याच्च । एवं सति हादिविद्यायामेवैतत् सम्यग् घटते । तथा हि हादिविद्यायां खण्डत्रयेऽपि सकारोत्तरमकारस्तदुत्तरं ककारश्च विद्यत इत्यक् प्रत्याहारः सुलभः । कादिविद्यायां तु प्रथमखण्डेऽक्प्रत्याहारो दुर्घटः ककारस्य प्रथमवर्णत्वात् तत्पूर्वमकारविरहात् । तस्मादत्र हादिविद्यैवाचार्येणोद्धृतेति प्रतीयते । यदि कादिविद्याप्यभिमतैवात्रेत्यु-च्यते तदा ककाराकारयोर्व्यत्ययेनाऽक् प्रत्याहारः सम्पाद्यः । तत्र अकारादिवर्णमालापाठे ककारो व्यञ्जनाद्यत्वेन पठ्यते । तथा च ककारात् प्राचीना अकारादयः सर्वे स्वराः संगृहीता भवन्ति । न च अक् इत्यत्र ककारस्यापि संग्रहप्रसंगान्न स्वरगणमात्रावष्टम्भनमिति वाच्यम् । 'हलन्त्यम्' इति सूत्रेणान्त्यहल इत्त्वात् प्रत्याहारेष्वितामग्रहणादकि ककारानन्प्रवेशात् । यद्यपि पाणिन्याद्युपदिष्टे धातुसूत्रगणोणादावेव "हलन्त्यमि"ति सूत्रस्य प्रवृत्तिस्तथापि प्रत्याहारसादृश्यात् पाणिनीय-प्रत्याहारेष्विवात्रापि प्रत्याहारे नान्त्यहल्ग्रहणमिति । तदिदमभिप्रेत्याह–

ककाराकाराभ्यां स्वरगणमवष्टभ्य निखिलमिति ।

कलाप्रत्याहारादिति । लळयोरभेदात् कळाप्रत्याहारो बोध्यः । व्यञ्जनेषु ककार आदिमवर्णः हकारानन्तरो ळकारश्चान्तिमवर्ण इति कळाप्रत्याहारेण सर्वव्यञ्जनसंग्रहः । न च ककारस्याक्प्रत्याहारे गततया कथं कलाप्रत्याहारस्तेन भवेदिति वाच्यम् । यतो नैकत्रगतोऽपरत्र नागच्छतीत्यस्ति कश्चन नियमः । ह स क लेत्यादावकारोत्तरं ककारं श्रुत्वैव स्वरा ग्रहीष्यन्ते कलेति श्रुत्वा व्यञ्जनानि चेति । यद्यपि द्वितीयखण्डे हसकहलेत्यत्र हकारव्यवधानात्कलाप्रत्याहारश्रवणं नास्ति । तथापि पाणिनीयेष्वपि अच्प्रत्याहारादिकं मध्याक्षरव्यवहितमेव । न च तत्र श्रूयमाणमध्याक्षराणामादिमस्य चैव संग्रह इत्यत्रापि हसकहलेत्यत्र कलप्रत्याहारेण हकारस्यैव मध्यभवस्य ग्रहणं स्यादिति वाच्यम् । श्रूयमाण-

त्वगम्यमानत्वयोरत्राविशेषात्। यथा च गम्यमाने सर्वव्यञ्जनगणे ह्रकारोऽप्यायातीति किमनुपपन्नम्। एतत्तु त्रिखण्डे हादिविद्यायां कादिविद्यायां च समानम्। प्रथमखण्डे कादिविद्यायामधिकव्यवधानं कलयोरित्येतावांस्तु विशेषः।

ननु सकलमदधाद् व्यञ्जनगणमिति वक्तव्ये व्यञ्जनगणस्य कर्तृत्वेन निर्देशोऽसंगत इव भाति, अभवदिति क्रियापदमकर्मकमनन्वितमेवेति चेन्न। यतः सकलमिति न द्वितीयान्तं सर्वार्थकं पदम्। किं तर्हि? हादिविद्यायां खण्डत्रयेऽपि सकारककारलकाराणां सत्त्वात् सश्च कश्च लश्चेति समाहारद्वन्द्वे नपुंसकशब्दः सकलमिति निष्पद्यते। तथा चैषा योजना—सकलं-सकारककारलकाराणां समाहारः कर्ता स्वघटकीभूताभ्यां ककाराकाराभ्यां निखिलं स्वरगणमवष्टभ्य संगृह्य पुनः स्वघटकीभूतादेव कलाप्रत्याहाराद् व्यञ्जनगणोऽभवदिति; व्यञ्जनगणमपि समगृह्णादिति फलितार्थः। घटो नीलोऽभवदित्यस्य घटो नीलवर्णमापद्यतेत्यर्थवत्। तथा च न किंचिदनुपपन्नम्।

ननु कादिविद्यायां खण्डत्रये सकारककारलकाराणामविद्यमानत्वात्तत्र तत्समाहाररूपं सकलपदकर्तृवाचकं न संभवतीति चेद्? सत्यम्। अत एव च हादिविद्यामधिकृत्य ग्रन्थोऽयं प्रवृत्त इति प्रत्ययात्। यदि च कादिविद्याप्यत्र विवक्षिता तदा स इति पृथक् पदं मन्तव्यम्। स इति मनुः। कश्च लश्च तयोः समाहारः कलम्। तथा च स मनुः पञ्चदशीविद्यालक्षणः ककाराकाराभ्यामखिलं स्वरगणमवष्टभ्य तथा कलं ककारलकाराववष्टभ्य कलाप्रत्याहारात् व्यञ्जनगणोऽभवदिति योजनीयम्। स मनुरेवं स्वरगणरूपो व्यञ्जनगणरूपश्चाभवदिति तात्पर्यम्। इदं च नैकस्मिन् खण्डे। किं तर्हि? खण्डत्रयेऽपीत्याह—त्रिखण्डे स्यात् प्रत्याहरणमिदमिति।

अथवा पूर्वश्लोकस्यैवायं प्रपञ्चोऽस्तु। स्वराश्चन्द्रे लीना इत्यादिकं यदुक्तं तत्कथमित्याकाङ्क्षायां ककाराकाराभ्यामित्यादिः श्लोकः। अन्तिमखण्डे ककाराकाराभ्यां स्वरगणावष्टम्भनम्। द्वितीये कलाप्रत्याहाराद् व्यञ्जनगणपरिग्रहः। तदपवादेन ईल इति प्रथमखण्डे। यकारसंप्रसारणाद् ई भवति। तेन यलो ग्रहणम्। हादिमतेऽपि उभयत्र कलाग्रहणेऽपि व्यवस्थया कम-यलोर्ग्रहणाददोषः इति। एतत्तु संभवाभिप्रायेण मया दर्शितम्। सनत्कुमारसंहितादौ तु अकः कलश्चैवं विभागं

विनैव प्रदर्शनात्। ननु ककाराद्युपरिस्थेन अकारेणान्तिमलकारेण च अल् प्रत्याहाराश्रयणेनैव सर्ववर्णग्रहणसंभवे किमिति प्रत्याहारद्वयाश्रयणं यत्नेन क्रियत इति चेद् ? उच्यते। व्यञ्जनानां स्वराणां च शिवशक्तिरूपत्वात् पृथङ् निर्देशः। तथा च शक्तेर्मुख्यत्वं स्वातन्त्र्यं च सूचितं भवति। स्वराणां मुख्यत्वस्वातन्त्र्ययोर्दर्शनात्। तथा चोक्तं—

ककारादिक्षकारान्तवर्णास्ते शिवरूपिणः।
समस्तव्यस्तरूपेण षट्त्रिंशत्तत्त्वविग्रहः॥
अकारादिविसर्गान्ताः स्वराः षोडशशक्तयः।
नित्याः षोडशकात्मानः परस्परसमायुताः॥
शिवशक्तिमया वर्णाः शब्दार्थप्रतिपादकाः॥
शिवः शक्तिपराधीनो न स्वतन्त्रः कथंचन।
स्वराः स्वतन्त्रा जायन्ते न शिवस्तु कदाचन॥ इति।

उक्तमेतन्महाभाष्ये 'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवती'ति। हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवतीति स्वरविधिस्थले हलोऽविद्यमानवद्भावश्चोच्यते। स्वरशब्दार्थश्च व्याख्यातो महाभाष्ये—"स्वयं राजन्त इति स्वराः" इति। तथा व्यञ्जनशब्दार्थश्च तत्रैव दर्शितः "अन्वग् भवति व्यञ्जनमि"ति। स्वरमनुगच्छति व्यञ्जनगणः इत्यतो व्यञ्जनस्य व्यञ्जनत्वम्। विविधमनक्तीत्येतदन्वग् भवतीत्यनेनोक्तम्। वीत्युपसर्गस्यान्वित्यनेन व्याख्या। अञ्चतेः क्विनपि "अनिदिताम्"ति नलेपे कुत्वे च सत्यन्वगिति रूपम्। तथा चान्वगित्याह। वीत्यस्य विशेषार्थकत्वेनान्वर्थसंकोचनात्। अन्वगित्यञ्चुधातुनिष्पन्नत्वेऽपि "अञ्चू-व्यक्तिम्रक्षे"त्याद्यर्थनिर्देशे व्यञ्जनार्थकव्यक्तिपदोपादानाद्भाष्यकारैस्तेन व्याख्यानमुपपद्यते। शारदातिलके चाह—

विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा।
शिवशक्तिमयानाहुरस्माद्वर्णान् मनीषिणः॥ इति।

तस्मादत्राक्प्रत्याहारस्य कलाप्रत्याहारस्य च पृथक् पृथग् ग्रहणमुपपन्नतरमेव।

नन्वेवं षट्त्रिंशद्वर्णा इति वा सप्तत्रिंशद्वर्णा इति वा विद्येति यद् व्याख्यातं तदसंगतं भवेत्। प्रतिखण्डं प्रत्याहारेण पञ्चाशद्वर्णानां विद्यमानत्वादिति चेन्न। प्रत्याहारेण गृह्यमाणानां वर्णानामव्यक्तत्वाद्। व्यक्तानामेव षट्त्रिंशदादिसंख्यायामन्तर्भावोपगमात्। तथा च मन्त्रे

सर्ववर्णानां लीनत्वान्मातृकात्मकत्वं युक्तमेव। मन्त्रैकदेशे लीनत्वेऽपि मन्त्रे लीनत्वोपपत्तेः। एवं प्रकटमातृकासु पञ्चाशद्वर्णरूपासु पञ्चदशवर्णानामन्तर्भावान्मातृकान्तर्भावो मन्त्रस्यापि सुघट इति ज्ञेयम्।

ननु चैवावता अकारादि ळकारपर्यन्ता एव वर्णा गृहीताः, न तु क्षकार इति कथं सर्वमातृकारूपत्वमित्याशङ्कायां क्षकारस्य वर्णान्तरत्वाभावान्नैवमिति परिहरति—अन्वगिति। कषयुगं ककारषकारात्मकवर्णद्वयमनु पश्चादञ्चति गच्छतीत्यन्वक्। अनोः कर्मप्रवचनीयत्वात् कषयुगमित्यत्र द्वितीया। ककारषकारावनुगच्छन् कः? अकारश्च। चो ह्यर्थे। ककारषकारानुगामी अकारस्तु क्षकारो न तु वर्णान्तरमित्यर्थः। ककारषकारौ कलप्रत्याहारसंगृहीतौ। अकारश्चाक्प्रत्याहारेण संगृहीत इति कथं क्षकाराऽसंग्रहदोष इति भावः।

नन्वेवं क्षकारस्य वर्णसमुदायात्मकत्वे ककारषकाराऽकारात्मकत्वे तस्याक्षरसंज्ञा न स्यात्। न हि घट इत्येकमक्षरम्। अक्षरो हि नामैकवर्णो न तु वर्णसमुदाय इत्यत आह—अक्षरतनुतया चाक्षरमिति। अयं भावः—न ह्येकवर्णत्वमक्षरत्वं योगरूढ्यभ्युपगमात्। न क्षरतीत्यक्षरमित्यर्थलाभात्। यस्य तनुर्नक्षरति तदक्षरमित्युच्यते। वर्णानां नित्यत्वेऽपि वर्णानुपूर्व्या अनित्यत्वाद् न वर्णसमुदायस्याक्षरत्वम्। अयं पुनः क्षकारो वर्णसमुदायस्वरूपोऽपि न क्षरतीत्यक्षरमेव। न च वर्णसमुदायरूपत्वे क्षरतीति नियमः। अन्यत्र तन्नियमसत्त्वेऽपि क्षकारे तद्विरहात्। अत एव महर्षिभिरक्षरेषु क्षकारपाठः कृतः। क्षकारोऽक्षरमिति च व्यवह्रीयते। न हि योगिप्रत्यक्षविषयक्षरत्वतदभावयोस्तर्कमत्रेणापलापसंभवः।

अपरे तु ककारषकाराकाराणां मिलितस्वरूपं मातृकासु पञ्चदशाक्षर्यां च। तदेव चाज्ञाचक्रस्थः क्षकारः। तस्यैवाखण्डरूपं क्षकारात्मकं बैन्दवगृहस्थम्। यथा ह्योंकारस्य समस्तं व्यस्तं च द्विस्वरूपत्वं तथा क्षकारस्यापीत्याहुः।

क्वचिद् अञ्चत्कषयुगमिति पाठः। तत्र पक्षे अञ्चदिति अक्षरमित्यस्य विशेषणम्। कषयुगमञ्चदक्षरं किं तदक्षरम्? अकारोऽक्षरतनुतया च क्षकारोऽभवत्। वर्णात्कारः इति कारप्रत्ययो हि प्रायोऽक्षरसमुदायान्न भवति तथापि क्षकार इति प्रयोगोऽक्षरतनुत्वादिति भाव इति व्याख्येयम्॥ २१॥

विदेहो नैर्ऋत्याः सुत इह ऋषिर्यस्य च मनो-
रयंचार्थः सम्यक् श्रुतिशिरसि तैत्तिर्यक ऋचि ।
ऋषिं हित्वा चास्या हृदयकमले नैतमृषिमि-
त्यृचाभ्युक्तः पूजाविधिरिह भवत्याः समयिनाम् ॥२२॥

स्मरोमार इत्यादि मन्त्र हैं, जिस मन्त्र का ऋषि लक्ष्मीपुत्र कामदेव बताया गया है। यह बात तैत्तिरीय श्रुति में भी सम्यक् श्रुत है और उसी तैत्तिरीय श्रुति में "नैतमृषिं" इत्यादि ऋचा से ऋषि को छोड़कर हृदयकमल में समयियों को अपनी पूजा करने की भी बात कही है ॥२२॥

अन्वयार्थबोधिनी

स्मरो मार इत्यादिमनुः। **यस्य च मनोः इह**=श्रीविद्योपासनायां **नैर्ऋत्याः**=लक्ष्म्याः **सुतः विदेहः**=अनङ्गः कामदेवः **ऋषिः। अयं चार्थः तैत्तिर्यके** = तैत्तिरीयके **श्रुतिशिरसि** = ब्राह्मणे या **ऋक्**—'पुत्रो नैर्ऋत्या वैदेहः' इति तस्यां **सम्यक्** प्रतिपादित इति शेषः। किं च **इह** = तैत्तिरीयके श्रुतिशिरसि **"नैतमृषिं विदित्वा"** इत्याद्यया **ऋचा समयिनाम् ऋषिं हित्वा** = बहिर्यागोपयोगि ऋषिस्मरणं कामोपलक्षितपञ्चमकारं वा त्यक्त्वा **हृदयकमले अस्याः भवत्याः** = श्रीदेव्याः **पूजाविधिः** = अन्तर्यागरूपपूजाया विधानं संपादनं विधिः **सोऽभ्युक्तः** = कथितः ॥२२॥

अमृतझरिका

एवं मन्त्रमुद्धृत्य तत्र मातृकासमावेशं च दर्शयित्वा तेन चतुर्धैक्यलक्षणा मानसपूजैव कर्तव्या समयिभिरिति वक्तुं मन्त्रसम्बद्धं विशेषमाह—**विदेह** इति। इह पञ्चदशीमन्त्रे नैर्ऋत्या लक्ष्म्याः। निर्ऋतिर्मायेति सायणाचार्याः। अथवा स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिरित्यमरवचनान्निर्ऋतिरलक्ष्मीरेव। अत्राकारप्रश्लेषादनैर्ऋत्या इति पदच्छेदादलक्ष्मीभिन्ना लक्ष्मीर्लभ्यते। निर्ऋतिरेव नैर्ऋती। निर्ऋत्या इति पाठान्तरम्। श्रुतावप्येवमेव पाठान्तरमुपलभ्यते। तस्या लक्ष्म्याः सुतो वैदेहो, विदेहो देहरहितोऽनङ्गः। विदेह एव वैदेहः काम ऋषिः मन्त्रद्रष्टा भवति। कामदेवो मन्त्रस्य ऋषिः। कामदेवश्च लक्ष्मीपुत्रः।

रुक्मिण्यां वासुदेवस्य लक्ष्म्यां कामो धृतव्रतः।

इति हरिवंशपुराणात्कामस्य लक्ष्मीसुतत्वं द्रष्टव्यम् । नन्वानन्दभैरव ऋषिरिति संप्रदायिनः पठन्ति । सत्यम् । मन्त्राणामनेकदृष्टत्वस्याविरुद्धत्वान्न दोषः । आनन्दभैरवः कामेश्वरः कामरूप इति वास्तु । मायासुत इति च शक्तिजन्यत्वात् स्यात् । अत एव कामदृष्टत्वात् स्मरो मारो मार इत्येवं मन्त्रोद्धारार्थं कामनामधेयान्येवाचार्यैः प्रयुक्तानि । सकलजगदुत्पत्तिश्च स्त्रीपुंसकामप्रयुक्त इति जगत्कर्तृता कामस्य । सा च भगवत्युपासनालब्धैश्वर्यवशादेव तस्य मन्त्रद्रष्टुः । एतच्चाभिहितं सौन्दर्यलहर्याम्—

स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा ।
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम् ॥ इति ।

महतां मुनीनामपि सर्गप्रवर्तकानां मरीचिप्रभृतीनामित्यर्थः । अपिरन्येषां कैमुतिकत्वलाभाय । वामकेश्वरतन्त्रेऽप्युक्तम्—

कामदेवोऽपि देवेशि महात्रिपुरसुन्दरीम् ।
समाराध्याभवल्लोके सर्वसौभाग्यसुन्दरः ॥ इति ।

सर्वसौभाग्यसुन्दर इति । सौभाग्यं सुभगत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततिमत्त्वम् । सर्वेषां सौभाग्यं कामदेवायत्तमिति तेन सुन्दर इत्यर्थः ।

यस्य च मनोरयं चार्थ इति चकारौ ह्यर्थकौ । इहेति सर्वनामोक्तमेव यत्पदेन परामृश्यते । तेन तत्पदं परामर्शकं न मृग्यम् । देवदत्तो गच्छति यस्येदं गृहमित्यादौ तत्पदं विनापि बोधदर्शनाद् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्यासार्वत्रिकत्वात् । अत एव "यं सर्वशैला" इत्यादौ पूर्वप्रयुक्तपदोपस्थापितेऽपि यच्छब्दस्य शक्त्यन्तरं स्वीकरणीयम् । अतिप्रसङ्गश्च स्वप्रयोजकबुद्धिस्थत्वमन्तर्भाव्यैव करणीय इत्युक्तं शक्तिवादे गदाधरभट्टाचार्यैः । यस्यैव प्रकृतस्य मनोः सम्बन्धी अयमेवार्थः श्रुतिशिरस्यभ्युक्त इत्यनुकर्षः । यस्यैवेत्यादि द्वितीयं वाक्यम् ।

केचित्तु विदेहो नैर्ऋत्याः श्रुत इह ऋषिर्यस्य च मनोरिति पठन्ति । तत्र नैर्ऋत्याः सम्बन्धी विदेहः । लक्ष्मीसम्बन्धित्वं मातृपुत्रभावेनैव । इह एतद्विद्याविषये श्रुतो यस्य च मनोरिति पूर्वप्रकृतमन्त्रपरामर्शी यच्छब्दः । "स्मरो मारो मार" इति मन्त्रः । यस्य मन्त्रस्य श्रीविद्याप्रकरणे विदेह ऋषिः श्रुतः इति योजना । अयं चार्थ इत्यादि द्वितीयं वाक्यम् । विदेहो नैर्ऋत्याः श्रुत इह ऋषिर्यः स च मनोरित्यपि पाठान्तरम् । इह श्रीविद्याप्रकरणे श्रुतो विदेह ऋषिर्यः श्रुतः स हि मनोः श्रीविद्यामन्त्रस्यैव नान्य-

स्येति तदा योजना द्रष्टव्या। श्रुतौ कस्य मन्त्रस्य ऋषिरित्यनुक्तत्वा-त्स्पष्टीकरणमिह।

श्रुतिशिरसि कुत्रेत्याह—तैत्तिर्यक ऋचीति। ननु "तित्तिरिवरतन्तु-खण्डिकोखाच्छण्" इत्यनुशासनात्तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयत इत्यर्थे प्रोक्तार्थेन छणा भाव्यम्। तथा च तैत्तरीयकेति प्रयोक्तुमुचितमिति चेन्न। तित्तिरेण प्रोक्तमधीयत इत्यर्थे तित्तिरशब्दादण्णन्ततैत्तिरशब्दनिष्पत्त्या ततस्तत्र साधुरित्याद्यर्थे यत्प्रत्ययेन कना च रूपस्य साधनीयत्वात्। तित्तिरिपदवत् तित्तिरपदमपि समानार्थे प्रयुक्तम्।

"यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः"।

इत्येवं पुराणेषु तित्तिरशब्दप्रयोगदर्शनात्। सूत्रे तित्तिरीतीकारान्त-निर्देशात्तित्तिरशब्दान्न छण्। "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणी"त्यनु-शासनात्प्रोक्तप्रत्ययान्तादध्येतृप्रत्ययस्यावश्यंभावात् "प्रोक्ताल्लुगि"ति तल्लोपाच्च तैत्तिरशब्दः पुरुषवाच्येव भवतीति तत्र साधुरित्यर्थे प्रत्यय उपपन्न एव। अन्यथा तैत्तिरीया शाखेत्यादौ लक्षणयैव शाखासामाना-धिकरण्यं स्यात्। न चैवमपि तैत्तिर्यके ऋचीति सामाधिकरण्यं नोप-पन्नम्। ऋक्शब्दस्य स्त्रीत्वात्तैत्तिर्यकायामृचीति वक्तुं युक्तत्वादिति वाच्यम्। समासेन पूर्वपदस्य पुंवद्भावात्। न चैवं गुणसंधिः स्यादिति वाच्यम्। "ऋत्यकः" इति ह्रस्वविधानेन सन्ध्यभावात्। समासेऽप्ययं ह्रस्वविधिः प्रवर्तते। न चैवमपि "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इति सूत्रेण समासान्तः अ प्रत्ययः स्यात्। ततश्च ऋचायामिति वाऽर्धर्चादिगणान्तर्ग-तत्वेन पुंस्त्वाभ्युपगमेऽपि ऋचे इति वा वक्तव्यं स्यादिति वाच्यम्। समासान्तविधेरनित्यत्वात्। अथवा तैत्तिर्यक इति पूर्वेण श्रुतिशिरसीत्य-नेनान्वितम्। तैत्तिर्यके श्रुतिशिरसि या ऋक् तस्यामिति व्यधिकरण-सप्तमीद्वयम्। न च तैत्तिर्यके यजुषीति वक्तव्यम्। तैत्तिरीयस्य यजुःशा-खात्वादिति वाच्यम्। "नियताक्षरपादा ऋक्" इति ऋग्लक्षणस्यानु-पदप्रदर्शयिष्यमाणश्रुतौ विद्यमानत्वेन ऋक्पदत्वोपपत्तेः। क्वचित् कोशे तैत्रीयक ऋचीति पाठो दृश्यते। तत्र तैत्तिरीयक इति प्रयोक्तव्ये इकार-लोपश्चिन्त्यसमाधिः। तैत्तिरीयारण्यकेऽरुणोपनिषदि पठ्यते—

पुत्रो नैर्ऋत्या वैदेहः, अचेता यश्च चेतनः।
स तं मणिमविन्दत्, सोऽनङ्गुलिरावयत्।
सोऽग्रीवः प्रत्यमुञ्चत, सोऽजिह्वो असश्चत॥ इति।

अस्यार्थः—लक्ष्मीपुत्रो वैदेहः कामः। स च वैदेहत्वादनङ्गत्वादेव अचेता अपि चेतोरहितोऽपि चेतनः। तदिदमाश्चर्यवत्। न हि चेतोरहितं काष्ठदृषदादिकं चेतनं लोके दृश्यते। ननु कथमयमचेता अप्येवंप्रभावः संवृत्त इत्यत आह—स तं मणिमविन्ददिति। स रुद्रमन्युकृतशरीरदाहात् प्राक् श्रीविद्यारूपं मणिं प्रकाशकत्वान्मणिमिव मणिमविन्ददलभत। अत एव दाहोत्तरं वैदेहोऽप्यचेता अपि चेतनोऽवर्ततेत्यर्थः। स कामोऽनङ्गुलिरेव सन्नावयत् मणिमसीव्यत्। विनैव जपमालां मन्त्रमावर्तयदित्यर्थः। अत एव मणेरेकत्वेऽपि मालास्यूत्युपपत्तिरिति द्रष्टव्यम्। स कामोऽग्रीवो ग्रीवा-रहितोऽपि मालां प्रत्यमुञ्चत् धारितवान्। कण्ठजपं संपादितवानित्यर्थः। स पुनरजिह्वोऽपि जिह्वारहितोऽप्यसश्चत वैखरीमुदचारयदित्यर्थः।

नन्वयं मन्त्र इष्टकोपधानादौ विनियुक्त इति शङ्कां व्यावर्तयितुमय-मेवार्थं ऋच्यभ्युक्त इत्यवधारणमिति द्रष्टव्यम्। ननु कथमयमेवार्थ इति निर्धार्यत इति चेन्न। कर्मप्रकरणस्याभावात्। नैतमृषिमित्युत्तरमन्त्रार्था-नुपपत्तेश्च। न च श्रीविद्यायास्तत्राऽप्रस्तुतत्वात् कथमेवंविधा व्याख्येति वाच्यम्। पुत्रो नैर्ऋत्या वैदेह इति वैदेहस्य नैतमृषिमित्यृषित्वेन परा-मृष्टस्य प्रस्तावादेव वैदेहर्षिकमन्त्रोऽयमिति सिद्धेः श्रीविद्यालाभात्। कामदेवर्षिकमन्त्रः श्रीविद्येवेति तत्र संशयानुपपत्तेः। न चानया ऋचा श्रीविद्यायाः कामदेवर्षिकत्वासिद्धिः, कामदेवर्षिकत्वसिद्ध्या च श्रीविद्या-त्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्। "जनको ह वैदेहोऽहोरात्रैः समाज-गाम" इत्येवं श्रीचक्रविद्यैव प्रस्तुतेति तत एव वैदेहस्य ऋषित्वं सिद्धम्। अथवा अस्य मन्त्रस्य कामदेवऋषिरित्येतच्छ्रुत्या किमर्थं सम्यग् वर्णनीयम्। अनादिपरम्परयैव गुरुपरम्परया तावत्तत्त्वज्ञानसंभवात्। न हि "इषे त्वोर्जेत्वे"त्यादीनां मन्त्राणामृषिवर्णनं मन्त्रेष्वेवोपलभ्यते। किं तु संप्रदायतः तथा च वैदेहर्षित्वकथनेनैव श्रीविद्यालाभ इति नान्यो-न्याश्रयः। तस्मात्प्रसिद्धं परम्पराप्राप्तमर्थमाह प्रथमपादेन। यस्य च मनोरिह गुरुपरम्परायां कामदेव ऋषिरनुश्रुत इति प्रथमपादार्थः। द्वितीयपादस्यार्थः—अयं च समनन्तरवक्ष्यमाणोऽर्थः सम्यक् तैत्तिरीयक-श्रुतिशिरसि श्रुतः इत्यनुवर्तते। श्रुत इति पाठाभावे स्थित इत्यध्याहृत्य व्याख्या। कोऽयमर्थः श्रुत इति जिज्ञासायामुत्तरार्धमिति द्रष्टव्यम्। अत्र पक्षे चकारौ पूर्वोत्तरसमुच्चायकौ।

च किं च इह तैत्तिरीयकश्रुतौ। अन्तिमव्याख्यापक्षे इह श्रीविद्या-याम्। विषये। चो ह्यर्थे इति द्रष्टव्यम्। अस्या एतद्विद्याप्रतिपाद्याया

भवत्याः समयिनां कर्तॄणां पूजाविधिः नैतमृषिमित्याद्यया ऋचा ऋषिं हित्वा हृदयकमले कर्तव्योऽभ्युक्तः । अयं भावः—

नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्
यदि प्रविशेद् मिथौ चरित्वा प्रविशेत्
तत्संभवस्य व्रतम्

इति तत्रैव श्रुतावुक्तम् । अस्यार्थः—एतमृषिं वैदेहं विदित्वा उपास्य उपासनाङ्गतया तदीयस्मरणं कृत्वेत्यर्थः । नगरं श्रीचक्रलक्षणं न प्रविशेत् । सकलदेवताधिवासस्थानत्वान्नगरत्वोक्तिः ।

तथा च श्रुत्यन्तरम्—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः ।
यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरीं
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च आयुः कीर्त्ति प्रजां ददुः ॥ इति ।

अष्टाचक्रा । बिन्दुत्रिकोणयोः "ब्रह्म च ब्रह्मा चेति" वक्ष्यमाणत्वादष्टकोणमारभ्याष्टाचक्रा श्रीचक्ररूपिणी पूः । त्रिकोणसहितनवयोनिपारगाम्येव बिन्दुस्थकामेश्वरकामेश्वरीसांनिध्यं प्राप्नोतीत्यतो नवद्वारेत्युक्तम् । नवद्वारेति शरीराभिन्नत्वं च द्योत्यते । देवानां पूर्नगरमयोध्या । अत्रैव सर्वेषां देवानामुपस्थितेः । तस्यां पुरि हिरण्ययः सुवर्णमयः कोशः पद्मकोशः सहस्रारात्मकः । स एव स्वर्गलोको मोक्षलोकः, ज्योतिषा ज्योत्स्नयाऽऽवृतम् । यो वैतामममृतेनावृताममृतपूर्णां ब्रह्मणः परमशिवस्य पूरीं वेदोपास्ते तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च परभट्टारकः परा भट्टारिका च आयुः कीर्त्तिं प्रजां तत्कामनावते इति यावत् । ददुः ददाते इत्यर्थः । वचनकालयोर्व्यत्ययः । "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुरि"तिवत् ।

ऋष्यादिज्ञानं बाह्यपूजायामुपयुक्तं, न त्वान्तरपूजायामिति फलतो बाह्यपूजाप्रतिषेधे तात्पर्यम् । तदिदमुक्तं हृदयकमले पूजाविधिरभ्युक्त इति । अर्थत इति भावः । यदि प्रविशेद्, मिथोऽन्योन्यं चरित्वा तादात्म्यं कृत्वा षोढैक्यं चतुर्धैक्यं वा कृत्वा प्रविशेत् । अत्र यदीत्यस्य यदापीत्यर्थः । सर्वेषां प्रवेशानधिकाराद् गुरोः प्राप्तविद्यः सन् यदापि प्रविशेदित्यर्थस्यैव लाभात् ।

अथवा नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेदिति सामान्यनिषेधः। तत्र विशेषप्रत्युद्धारः यदीति। ऋषिं विदित्वा यदि प्रविशेत्तर्हि मिथौ चरित्वा षोढैक्यादि हृदयकमलपूजां विधाय तदनन्तरमेव प्रविशेत्। मानसपूजाया दृढत्वे बाह्यपूजाया अनुपयोगाद् यदीति। मानसपूजाया अदृढत्वेन बाह्यपूजा चेदपेक्षिता तदा षोढैक्यादिपूर्वकमेव प्रविशेदित्यर्थः। ननु प्रतिप्रसवः प्रथमविधाने पुनर्निषेधे च सत्येव संभवति। अत्र प्रथमं प्रवेशसामान्यविध्यभावाद् यदीत्यादिना प्रतिप्रसवो न भवितुमर्हतीति चेन्न। ऋष्यादिज्ञानपूर्वकबाह्यपूजनस्य प्रसिद्धत्वादेव सामान्यतस्तत्प्राप्तिसंभवात्। अन्यथा नैतमृषिमित्येषोऽप्राप्तनिषेधः स्यात्। बाह्यपूजायाः सर्वथानिषेधस्तु नास्तीत्युपपादयिष्यामः। कामोपलक्षितपञ्चमकारत्यागतात्पर्याद्वा।

ननु नगरमित्यस्य जनाकीर्णस्थानार्थकत्वं शरीरार्थकत्वं च सायणाचार्यैरुक्तमिति चेत्। सत्यम्। जनाकीर्णस्थानप्रवेशप्रतिषेधस्यायोगाद् व्यर्थत्वाच्च द्वितीयोऽर्थः सायणाचार्यैः स्वीकृतः। तदस्मन्मतेऽप्यविरुद्धम्। शरीरस्य श्रीचक्ररूपतायाः प्रागस्माभिरुपपादितत्वात्। **"नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भव"** इति वचनात्। नन्वेमपि **बोधायनेनैता** ऋचोऽबीष्टकोपधाने विनियोजिताः। तथा च कल्पसूत्रम्—**"एतेनारुणकेतुको व्याख्यातो यावन्मन्त्रमबीष्टकाः। लोकंपृणाश्च स्वयमातृण्णाश्चाप एव"** एतेन पूर्वोक्तेन सावित्रादीष्टकाचयनव्याख्यानेन आरुणकेतुकोऽरुणकेतुप्रोक्तो व्याख्यातः। अत्र च यावन्मन्त्रमबीष्टकाः आप एवेष्टका अबिष्टकाः, न तु मृदादिनिष्पादिताः। आप एवेष्टकाबुद्ध्योपधेया इत्यर्थः। लोकंपृणा आतृण्णाश्चेष्टकाः स्वयमाप एवेत्यर्थ इति चेत्। सत्यम्। एता ऋचः अबीष्टकोपधानार्थमत्रोद्धृता आरण्यकेन। न पुनस्तासामबीष्टकार्थकत्वमेव। अत एव सायणाचार्यैः **"नीलपीतादिष्वन्धः सन् मणिमिव स्वयं प्रकाशमात्मानं समाधिना पश्यती"**त्येवमबीष्टकोपधानासम्बद्ध एवात्मदर्शनादिरर्थो व्याख्यातः। न चाबीष्टकोपधानार्थताविरहे तदङ्गत्वमृचां न स्यादिति वाच्यम्। श्रुत्यैवाङ्गत्वसिद्धेः। "तमभित एवाबीष्टका उपदधाती" त्यादिविधिदर्शनात्। यथा **"ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत"** इत्येवं गार्हपत्यार्थरहितयापि **"नेन्द्र सश्चसि दाशुष"** इत्यृचा गार्हपत्योपस्थानम्। न च तत्रानन्वयपरिहारायेन्द्रपदस्य गार्हपत्यलक्षणा वक्तव्येति वाच्यम्। गार्हपत्योपस्थानकाले इन्द्रपदस्य गार्हपत्यार्थानुसंधानमात्रस्य तावता सिद्धत्वेऽपि वस्तुतो गार्हपत्यार्थत्वविरहात्। अन्यथा ऐन्द्र्येति निर्देशानुपपत्तिः। इन्द्रपदस्य गार्हपत्यार्थत्वात्। न च 'ऐन्द्र्या' इत्यस्यापि गार्ह-

पत्ययेत्यर्थं इति वाच्यम् । इन्द्रो देवता अस्या इत्यैन्द्रीति विग्रहे शब्दस्य देवतात्वविरहादर्थस्येन्द्रस्य देवतात्वे चैन्द्रीपदस्य गार्हपत्याग्न्यर्थत्वासंभवात् । "न विधौ परः शब्दार्थः" इति सिद्धान्तात् । किं चैवं सर्वत्र लक्षणाकरणेन बहुविप्लव आपद्येतेति वरं गार्हपत्योपस्थानकाले इन्द्रपदस्य गार्हपत्यार्थानुसंधानमात्रम् । एवं च प्रकृते भिन्नार्थानामेवर्चामबीष्टकोपधाने विनियुक्तत्वात् "जनको ह वैदेहः अहोरात्रैः समाजगामे" त्यादिवचनान्तरैकवाक्यत्वाद् यथाप्रदर्शित एवार्थः । तैत्तिरीयब्राह्मणे हि तद्वाक्यं पठितं श्रीचक्रनिरूपणानन्तरम् । जनक उत्पादकः, कामस्यैव जगज्जनकत्वात्कामदेवो वैदेहोऽनङ्गः अहोरात्रैरहोरात्रात्मकैर्दर्शादिपूर्णिमान्तकलात्मकैः समाजगाम मन्त्रमाहृतवानित्यर्थ इति । अत एव पूर्वोत्तरयोरन्यार्थवतीनामृचां सत्त्वेऽपि न क्षतिः ॥२२॥

त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरघायां निविशते
श्रियो देव्याः शेषा यत इह समस्ताः शशिकलाः ।
त्रिखण्डे त्रैखण्ड्यं निवसति समन्त्रे च सुभगे
षडब्जारण्यानी त्रितययुतखण्डे निवसति ॥२३॥

हे सुभगे अम्बे ! आपका त्रिखण्ड मन्त्र चक्र में तादात्म्य को प्राप्त है। क्योंकि श्रीदेवी की पन्द्रह कलायें चक्र में हैं। त्रिखण्ड में त्रिखण्ड तादात्म्य से रहता है। ऐसी व्याप्ति होने से मन्त्र में चक्र भी तादात्म्य से रहता है। तथा त्रिखण्ड मन्त्र एवं चक्र में षट्चक्रकमल भी तादात्म्य से रहता है॥ २३ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे सुभगे = श्रीमातः ! त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रः = तव पञ्चदशीमन्त्रः तव सरघायां = श्रीचक्रे तादात्म्येन वर्त्तते । यतः—कारणात् श्रियो देव्याः = श्रीदेव्याः षोडश्याः शेषाः = अन्याः समस्ताः = पञ्चदशसंख्याकाः शशिकलाः = चन्द्रकला इह = श्रीचक्रे वर्त्तन्ते । त्रिखण्डे त्रैखण्ड्यं निवसति = तादात्म्येन वर्त्तत इति व्याप्तेः स=सरघापदवाच्यो मध्वपूपः श्रीचक्रात्मकः मन्त्रे च = पञ्चदशीमन्त्रे च तादात्म्येन निवसति । त्रिखण्डमेव त्रैखण्ड्यं स्वार्थे ष्यञ् । तथा त्रितययुतखण्डे = त्रिखण्डे मन्त्रे चक्रे च षडब्जारण्यानी = षट्चक्रकमलवनं निवसति = तादात्म्येन वर्त्तते ॥ २३ ॥

अमृतझरिका

षोढैक्यं प्राक् प्रपञ्चितम् । अधुना मन्त्रोद्धारानन्तरं चतुर्धैक्यं मुख्यं प्रपञ्चनीयमित्यत इदमारभ्यते—त्रिखण्ड इति । किं च हे सुभगे ! त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव सरघायां श्रीचक्रे निविशते तादात्म्येनावतिष्ठते । सरघेति श्रीचक्रनाम । तैत्तिरीये काठके "इयं वाव सरघे"त्येवं सरघापदेन श्रीचक्रनिर्देशात् ।

इयं वाव सरघा । तस्या अग्निरेव सारघं मधु ।
या एताः पूर्वपक्षापरपक्षरात्रयः । ता मधुकृतः ।

इत्यादिरनुवाकः । अस्यार्थः—इयं सादाख्या चन्द्रकला सरघा नाम । सरघा नाम लोके मधुमक्षिका उपचारात्तदीयापूपोऽपि । इह तु श्रीचक्रा-

त्मकं सहस्रारगतं नित्यकलात्मकं चन्द्रबिम्बम्। तच्चामृतपूर्णत्वान्मध्व-पूपवदेव मधुमयमुच्यते। श्रीचक्रमेव हि सकलजगत्कारणमिति वक्ष्यते। उत्पन्नं जगदपि श्रीचक्ररूपमेव स्थूलतरम्। अत एव जगतोऽपि मधु-मयत्वम्। एतच्च बृहदारण्यके मधुब्राह्मणे—

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु
अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु

इत्यादिना बहु प्रपञ्चितम्। कथं चन्द्रबिम्बस्य सरघाया मधुमयत्वम्? तदभिन्नया तत्स्थयाऽमृतरूपया कलयेति ब्रूमः। एतदेव

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
अयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्

इत्यादिना तत्तन्मधूत्तरवर्णनेन प्रदर्शितम्। न ह्यन्यथा पृथिव्यादेर्जगतो मधुरूपत्वसंभवः।

यद्यपि सर्वस्य जगतो मधुमयत्वं तथापि विशिष्याह—तस्याः सर-घाया अग्निरेव कार्यभूतत्रिकोणवसुकोणात्मकः सारघं सरघोत्पन्नं मधु। या एताः पूर्वपक्षापरपक्षरात्रय इत्यनेन पञ्चदश चन्द्रकला उच्यन्ते। तत्र पूर्वपक्षे एकैककलावृद्धिरपरपक्षे एकैककलाक्षय इति तु विशेषः। ता मधुकृतः। तथा च सहस्रारगतचन्द्रबिम्बनिष्पन्नाभिः कलाभिरेवाज्ञा-चक्रस्थचन्द्रस्य चन्द्रत्वमिति चन्द्रस्यापि मधुत्वमुक्तं भवति। छान्दोग्ये च

असौ वा आदित्यो देवमधु
तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशः
अन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः

इत्युक्त्वाऽऽदित्यस्यापि मधुत्वं द्रष्टव्यम्। तदेवं सोमसूर्यानलानां मधु-रूपत्वे सिद्धे तदात्मकं स्थूलं श्रीचक्रमपि सरघात्मकं मधुमयं च भवतीति सिद्धम्। इदमेव परमं मधु शिवशक्तिसामरस्यमिति अमृतमिति परमानन्द इति ब्रह्मानन्द इति चाख्यायते।

लाक्षाभं परमामृतं परशिवाद् पीत्वा पुनः कुण्डली
नित्यानन्दमहोदयात् कुलपथान्मूले विशेत् सुन्दरी।
तद्दिव्यामृतधारया स्थिरमतिः संतर्पयेद् दैवतं
योगी योगपरम्पराविदितया ब्रह्माण्डभाण्डस्थितम्॥

इत्यादावपीममेव मूलममृतं मधु वर्णितं भवति। तथा च सरघायामिति परबिन्दुरूपश्रीचक्रस्य नाम युक्तमुक्तं भवति।

ननु किं त्रिखण्डसाम्यमात्रेण मन्त्रचक्रयोरैक्यमुच्यते ? नेत्याह—**श्रियो देव्या** इति। यतः श्रियो देव्याः श्रीदेव्याः षोडश्याः शेषा याः पञ्चदशकलास्ताः समस्ता इह श्रीचक्रे निविशन्ते। षोडशसु कलासु एका षोडशी श्रीदेवी। शेषाः पञ्चदशकलाः श्रीचक्र एव वर्तन्ते। क्वचित् शेष इत्येकवचनान्त पाठः। तदा शेषत्वं गुणत्वम्। वेदाः प्रमाणमितिवत्प्रयोगः। गुणभूताः षोडश्या पञ्चदशकलाः श्रीचक्रे वर्तन्त इत्यर्थः। तथा च श्रीचक्रस्य पञ्चदशकलत्वं पञ्चदश्या अपि पञ्चदशाक्षरत्वेन पञ्चदशकलत्वमित्युभयोरैक्यं सिध्यतीति भावः। विवरीष्यते च विशेषरूपेणेदमनन्तरतृतीयश्लोके "निशाद्या दर्शाद्या" इत्यर्धेन। एता एव कलाः षोडशीसहिता षोडशसंख्याकाः षोडश नित्याः। यद्यपि प्रस्तारत्रयभेदनिरूपणावसरे विशेषतो निरूपणीयः श्रीचक्रे शशिकलानिवेशप्रकारस्तथाप्यत्रापि चतुर्धैक्यनिरूपणायापेक्षितं तन्निरूपणमिति तदुच्यते संक्षेपतः।

तथाहीमाः शशिकलाः षोडश नित्या उच्यन्ते। तत्र शक्तिरेव परमशिवाऽभिन्ना वस्तुतो नित्येत्युच्यते। तस्याः षोडशकलास्तद्रूपा एव। तथापि तासु पञ्चदशकला कामेश्वराङ्कयन्त्रणविधुरा इतरधर्मसादृश्यमापद्यमाना अनित्यवदवभासन्त इति केवला नित्या उच्यन्ते। कामेश्वराङ्कयन्त्रिता त्वेका इतरधर्मानध्यासाद् महानित्येत्युच्यते। सैव महात्रिपुरसुन्दरी। तथा चोक्तं संकेतपद्धत्याम्—

एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः।
तस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः॥
विमर्शाख्या महानित्या पाञ्चविध्यं समागता।
आकाशानिलसर्पार्चिःसलिलावनिभेदतः॥
ऐकैकगुणवृद्धया तु तिथिसंख्यात्वमागता॥ इत्यादि।

स्वजन्याकाशादिगतशब्दपञ्चकस्पर्शचतुष्टयरूपत्रयरसद्वयैकगन्धात्मकपञ्चदशोपाधिवशादनित्यवदवभासन्त इत्यर्थः।

विमर्शरूपिणी नित्या षोडशी या प्रकीर्तिता।
गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी॥
सुन्दर्यादि महापूर्वं चित्रान्तं च समन्ततः।
आगमादेव बोद्धव्यमिति संकेतमात्रतः॥

प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णमास्यन्तिकं प्रिये ।
एकैकं पूजयेद्यस्तु स सौभाग्यमवाप्नुयात् ॥ इति च ।

सुभगोदयवासनायामप्यभिहितम्—

खं वायुर्ज्योतिरम्भूमिशब्दादिगुणभेदतः ।
दशपञ्चतया व्याप्ता व्यापिकाः पूजयाम्यहम् ॥ इति।

व्यापिका इत्युक्त्या पञ्चदश शब्दादय उपाधय इति गम्यते । तद्व्यापिकाश्च नित्याः । अन्यथा शब्दादिरूपासु तासु नित्यात्वव्यवहारानुपपत्तेः । चन्द्रकलात्वानुपपत्तेश्च । सुभगोदये च नित्याः प्रक्रम्य तासां चन्द्रकलात्वमभिहितम्—

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥ इति ।

दर्शादिनामान्यग्रे व्याख्यास्यामः । इहाप्यग्रे मूले कलानां नित्याशब्दत्वं त्रिंशे श्लोके "तदेतन्निराख्यमि"ति । तथा चेह शशिकला इत्यनेन षोडश नित्यारूपाः कला एव विवक्षिताः । तासां नामानि वसिष्ठसंहितायां देवीं प्रतीश्वरेणोक्तानि—

श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशकं तव ।
न कस्यचिन्मयाख्यातं सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ॥
तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी ।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी ॥
नित्यक्लिन्ना तथा चैव भेरुण्डा वह्निवासिनी ।
महाविद्येश्वरी रौद्री त्वरिता कुलसुन्दरी ॥
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ।
ज्वालामालिनि चिद्रूपा एता नित्यास्तु षोडश ॥
प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णमास्यन्तमर्चयेत् ।
एकादिवृद्धया हान्या च दर्शान्तं देवि विग्रहम् ॥ इति ।

अत्रान्तिमा चिद्रूपा षोडशीरूपिणी महात्रिपुरसुन्दरी । प्रथमापि महात्रिपुरसुन्दर्येव । तथापि नामसाम्यमात्रमेवेति लक्ष्मीधराचार्यादयः ।

वस्तुतस्तु वामकेश्वरे नित्याषोडशिकार्णवे ज्वालामालिनीत्याद्यर्धं

ज्वाला मालिनिका चित्रेत्येवं नित्यास्तु षोडश ।

इत्येवं पठितम् । संकेतपद्धत्यामप्यनुपदप्रदर्शितवाक्ये—

गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी ।
सुन्दर्यादि महापूर्वं चित्रान्तं च समन्ततः ॥

इत्युक्तेरन्तिमा चित्रेत्येव गम्यते। तथा च चिद्रूपेति वासिष्ठपाठेऽपि सा चिद्रूपा चित्रापरपर्यायैव भवितुमर्हति। तस्मात्

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी

इति या प्रथमा उक्ता सैव षोडशीरूपिणी न तु चरमेत्येव प्रतीमः। एवं सति कामेश्वरीमारभ्यैव प्रतिपत्प्रभृतौ पूजा स्यात्। महात्रिपुरसुन्दरी तु सर्वासु तिथिषु पूज्या। वस्तुतस्तु इयमपि महात्रिपुरसुन्दरी मूलदेव्याः प्रतिबिम्बात्मिकैव। अन्यथा कण्ठदेशे षोडशदले तदुपस्थितिर्दुर्घटा स्याद्। विशेषमग्रे (श्लो० २५) वक्ष्यामः।

अथैतासां चक्रनिवेश उच्यते। षोडश नित्या अकचटतपयशात्मकाष्ट-वर्गभावं प्रतिपद्य अष्टदलपद्मेऽष्टकोणे च प्रतिपद्मं प्रतिकोणं च द्वे द्वे निवि-शेते। एता एव षोडश नित्याः षोडश स्वरभावमापद्य षोडशदलपद्मे निवि-शन्ते। द्विदशारे विंशतौ क्रमेण षोडशानां प्रथमानां चतसृणामावृत्या च निवेशः। एतासां नित्यानां प्रथमं नित्याद्वयं त्रिकोणबिन्दुरूपाभ्यां स्थितम-वशिष्टाश्चतुर्दश नित्या मन्वश्रे निविशन्ते। मेखलात्रयभूपुरत्रये बैन्दव-त्रिकोणयोरन्तर्भूतं। अयमेवान्तर्भावो मेरुप्रस्तार इत्युच्यते। विशेषस्तु प्रस्तारत्रयभेदव्याख्यायां निरूपयिष्यामः।

ननु पञ्चदशीविद्यायां पञ्चदशैव कलाः। इमाः पुनः षोडशकलाश्चक्रे निविशन्त इति कथं चक्रमन्त्रयोरैक्यम्। न च षोडश्याः पृथक्करणाददोष इति वाच्यम्। उपदर्शिते नित्यानां चक्रनिवेशे षोडश्याः पृथगकरणादिति चेन्न। प्रतिबिम्बरूपाया एव षोडश्याश्चक्रे निवेशात्। न हि परमा षोडशी कला चक्रेऽन्तर्भावमर्हति। तत्र चक्रे सर्वत्रैव तत्प्रतिबिम्ब-सत्त्वेऽपि इतरनित्यानाक्रान्ते स्पष्टावभासः। एवमेव विशुद्धिचक्रेऽप्ये-कस्मिन् दले स्पष्टावभासः सत्यप्यन्येषु तत्प्रतिबिम्बसद्भावे। इहापि पञ्चदशीविद्यायां प्रतिबिम्बात्मा षोडशी नित्या विद्यत एव। स्थानविशेषविरहान्न स्पष्टप्रतिभास इति परं विशेषः। परमा षोडशी चक्रमतिरिच्यैव कामेश्वराङ्कनिलया भवति। सा पञ्चदशाक्षरादप्यतिरि-क्तैव षोडशाक्षररूपा मन्त्रे। अतिगोप्यत्वात्तु नाचार्यैस्तदुद्धारोऽत्र कृत इत्यन्यत्।

एवं मन्त्रचक्रयोरैक्यमभिधाय षडङ्गैक्यं वक्तुमाह—त्रिखण्डे त्रैख-ण्ड्यं निवसतीति। एतत्सामान्यकथनम्। त्रिखण्डमेव त्रैखण्ड्यं स्वार्थे ष्यञ्। त्रिखण्डे त्रिखण्डं तादात्म्येन निवसतीत्येतदौत्सर्गिकमिति भावः।

किमतो यद्येवम् ? एतदत्र भवति—समन्त्र इत्यादि। मन्त्रस्य त्रिखण्डात्मकत्वात्ततादात्म्यापन्नस्य चक्रस्यापि त्रिखण्डत्वमनवद्यम्। तदिदमाह—समन्त्रे त्रितययुतखण्डे इति। त्रिखण्डमन्त्रविशिष्टत्वात् त्रिखण्डात्मकतामापन्ने श्रीचक्रे इत्यर्थः। षडब्जारण्यानी महदरण्यमरण्यानी। "अरण्यान्महत्त्वे" इति महत्त्वार्थे आनुग्विधानात्। षण्णामब्जानामरण्यानी षडब्जारण्यानी। मूलाधारादिषट्चक्रसमुदाय इत्यर्थः। तस्य त्रिखण्डत्वं शुचिरविशशाङ्कात्मकत्वेन प्रागेव विशदं निरूपितम्, निरूपयिष्यते च। तथा च समन्त्रे अत एव त्रिखण्डे त्रिखण्डात्मिका षडब्जारण्यानी तादात्म्येन निवसति, त्रिखण्डे त्रैखण्ड्यं निवसतीति व्याप्तेरित्यर्थः।

ननु त्रिखण्डं ते चक्रमित्येवं प्रागेव चक्रस्य त्रिखण्डत्वं व्यवस्थापितमिति समन्त्रत्वेन त्रिखण्डत्वसंपादनं विफलम्। त्रिकोणं चाधारमित्यादिना षट्चक्रश्रीचक्रयोरैक्यमप्युक्तमिति तदपि पुनर्नं कथनीयमस्तीति चेन्न। यथोक्तषोडशनित्यासमावेशे चक्रस्य त्रिखण्डत्वं न स्पष्टमवभासते इति नित्याविशिष्टत्वेन चक्रस्य त्रिखण्डत्वं मन्त्रतादात्म्यापन्नतयैव वक्तव्यम्। तत्रैवमौपाधिकत्वे कथं षट्चक्राभेद इत्यतो व्याप्त्यभिधानं "त्रिखण्डे त्रैखण्ड्यं निवसती"ति। तथा च भावनाभेदार्थमेतदुक्तिरिति। किं चात्र विशिष्टवृत्तिधर्मस्य विशेषणवृत्तित्वनियमात्तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमाच्च मन्त्रैक्यमापन्नस्य त्रिखण्डचक्रस्य षडब्जैक्यसिद्धौ मन्त्रस्यापि षडब्जैक्यं चतुर्थैक्यंप्रयोजकं सिद्धं भवतीत्यप्यत्र बोध्यम्। अपि च पूर्वं नादे बिन्दुकलयोर्द्वित्वावच्छिन्नयोरैक्यमितिवदत्रापि मन्त्रचक्रयोर्द्वित्वावच्छिन्नयोर्मन्त्रवैशिष्ट्यावच्छिन्न चक्रस्य वा षडब्जैक्यं वक्तव्यमित्येतदर्थमिदमुक्तम्। उपलक्षणं चेदमन्येषामपि द्वित्वत्रित्वाद्यवच्छिन्नैक्यानाम्। अपि च मन्त्रः सरघायां निविशत इत्युक्तम्। सरघा मन्त्रे च निविशत इत्याह स मन्त्रे चेति। स इति पृथक् पदम्। सरघापदपर्यायो मध्वपूपोऽत्र स इत्यनेन बुद्धिस्थः परामृश्यः। ननु सरघायां मन्त्रनिवेशे मन्त्रे कथं सरघानिवेशः ? घृताधारं हि न पात्रमित्याशङ्काव्यावर्तनायाह—त्रिखण्डे त्रैखण्ड्यं निवसतीति। तादात्म्येन परस्परनिवेशे क्षत्यभावादिति भावः। अत एव षडब्जारण्यानी त्रितययुतखण्डे त्रिखण्डे मन्त्रे निविशत इत्यर्थः। सुभगे इति संबोधनं कुण्डलिनीस्मारणार्थम् ॥२३॥

त्रयं चैतत्स्वान्ते परमशिवपर्यङ्कनिलये
परे सादाख्येऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्यकलनात् ।
स्वरास्ते लीनास्ते भगवति कलाश्रे च सकलाः
ककाराद्या वृत्ते तदनु चतुरश्रे च यमुखाः ॥२४॥

शिवाङ्कवासिनी हे भगवति ! मन्त्र, श्रीचक्र, तथा षट्चक्र मातृका-सहित इन सबका चार प्रकार का ऐक्यचिन्तन करने से हृदय में सादाख्य परमकला के साथ एकीभाव हो जाता है। मातृका के स्वरचक्र के षोडशदलपद्म से तादात्म्य प्राप्त हुआ है। ककारादि मकारान्त वृत्तत्रय में और यकारादि भू पुरत्रय में एकता को प्राप्त हुआ है ॥२४॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे **परमशिवपर्यङ्कनिलये** = शिवाङ्कस्थे भगवति ! **त्रयं चैतत्** = मन्त्रः श्रीचक्रं षडब्जारण्यानीत्येतत्त्रयमपि मातृकाभिः सह **चतुर्धैक्य-कलनात्** = पूर्वोक्तचतुर्विधैक्यचिन्तनात् **स्वान्ते** = हृदये, किमनाहते ? न, किन्तु **परेऽस्मिन् सादाख्ये निवसति** = तादात्म्यं प्राप्य वर्त्तन्ते। चतुर्धैक्ये त्रयाणामेवात्रोक्तत्वाच्चतुर्थो मातृकागणो वक्तव्य इति तादात्म्यार्थं चक्रे तन्निवेशं दर्शयन्नेवाह—**स्वरास्त** इत्यादिना। मन्त्रे मातृकानिवेशः प्रागुक्तः। षट्चक्रे तत्तद्दले मातृकानिवेशः प्रसिद्धः। हे **भगवति** ! **ते** = तव **कलाश्रे** = षोडशदलपद्मे **ते** = प्रागुक्ताः **सकलाः स्वराः लीनाः** = तादा-त्म्यमापन्नाः। **ककाराद्याः** = कादि-मान्ता वर्णा **वृत्ते** = वृत्तत्रये लीनाः। **तदनु च** = तथैव च **यमुखाः** = यकारप्रभृतयः **चतुरश्रे** = भूपुरत्रये लीनाः ॥२४॥

अमृतझरिका

पूर्वस्मिन् श्लोके मन्त्रस्य श्रीचक्रस्य षट्चक्रस्य च परस्परतादात्म्यम-भिहितमित्येवमैक्यत्रयमुक्तम्। अधुना मातृकैक्यं चतुर्थं वदन्नेव चतुर्धैक्य-भावनायाः परिणतभावनास्वरूपमाह--त्रयं चेति। मन्त्रः श्रीचक्रं षट्चक्रं चेति त्रयमित्यर्थः। त्रयं चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तथा चोत्तरार्ध-

वक्ष्यमाणमातृकागणस्यापि ग्रहणम्। हे परमशिवपर्यङ्कनिलये! शिवाङ्कस्थे! सादाख्यायाः षोडशीकलात्वात्तद्विशेषणं वेदम्।

बैन्दवानलसंरूढं संवर्त्तानलचिद्घनम्।
कामेश्वराङ्कपर्यङ्कनिविष्टमतिसुन्दरम्॥ इति।
विश्वाधारप्रथाधारनिजरूपशिवात्मकम्।
कामेश्वराङ्कपर्यङ्कनिविष्टमतिसुन्दरम्॥

इत्यादि वचनं कामेश्वरशिवाङ्कस्थां बोधयति। अङ्कस्थत्वं नित्यसंसृष्टत्वमेव। तथा च भैरवयामलादावुक्तं—

कला विद्या परा शक्तिः श्रीचक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बैन्दवं स्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी॥
सदाशिवेन संपृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती॥ इति।

श्रीनाथानन्दास्तु—

आदिश्रीगुरुनाथस्य वामाङ्कोपरिसंस्थिताम्।

इत्येवं वामाङ्कस्थत्वेन विशेषमाहुः स्म।

अयं चैतत् मातृकागणसहितं चतुष्टयमेतत् सादाख्येऽस्मिन् परे तत्त्वे निवसति चतुर्धैक्यकलनेन तादात्म्यं प्रतिपद्यते। सादाख्यस्य शिवशक्तिसामरस्यात्मकस्य व्यापकत्वात्तस्यैव जगदुत्पत्तिलयकरत्वेन वक्ष्यमाणत्वाच्च तत्र तादात्म्येन चतुष्टयमिदं प्रतिभासत इत्यर्थः।

ननु सादाख्यं सहस्रारे वर्तत इति कथं स्वान्ते निवसतीत्युच्यते। न च "स्वान्तं हृन्मानसं मन" इति कोशात्स्वान्तं मन एव, तच्चाज्ञोपरिवर्तते न तु हृदये। पञ्चानां तत्त्वानां मूलाधारादिचक्रोपरिस्थत्वात्तदुपरिमनस्तत्त्वोपगमादिति वाच्यम्। एवमप्याज्ञाचक्रे एव मनसः स्थितिर्न तु सहस्रार इतीति चेन्न। सादाख्यस्य व्यापकत्वेन सहस्रारमात्रस्थितत्वविरहात्। किं च स्वान्ते निवसतीत्यस्य मनसि वर्तत इतिवत्प्रतिभासत इत्यर्थकत्वम्। मनसि प्रतिभासत इति संवित्कमले प्रतिभासत इत्येतत्। तथा च हृदये यथोक्तचतुष्टयस्य सादाख्ये तादात्म्यमुपासकानां प्रतिभासत इत्यर्थः।

अयं भावः—घटशरावाद्यनेकभेदभिन्नत्वेन दृश्यमानापि मृत्तिका प्रथमं भावनया मृदेवेति चिन्तयतो यथा भावनाप्रकर्षेण मृद्रूपेणैव प्रतिभासते

तत्र घटशरावादीनां तादात्म्यापत्तेस्तथा सूक्ष्मा भगवती अनन्तभेदभिन्न, जगद्रूपमागता चतुर्धैक्यकलने सति सर्वतादात्म्यापन्ना एकैवोपसकानां प्रतिभासते। "एकमेवाद्वितीयं" "नेह नानास्ति किंचन" "एका स आसीत् प्रथमा" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते।
आभ्यो युक्त्यविविक्ताभ्यः संजातो नववर्गकः॥
नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता।

इत्येवं तन्त्रसद्भावादिवचनेभ्यश्च पश्यन्त्यादीनां चक्रप्रभृतेश्च पराशक्तिकार्यत्वेन कार्यकारणैक्यादैक्यमेव—

"विद्यावेद्यात्मकयोरत्यन्ताभेदमामनन्त्यार्याः"

इति वचनेन विद्यायाः पञ्चदश्या षोडश्या अपि वेद्यपरमेश्वरीस्वरूपेण वस्तुत ऐक्यमेव। माया निमीलतदृशामेतदप्रत्ययमैक्यं चतुर्धैक्यकलनात्प्रतिभासत इति भावः।

त्रयाणामैक्यं पूर्वश्लोके प्रदर्शितम्। मातृकागणैक्यं प्रागेव प्रदर्शितमिति तदप्रदर्श्यैव चतुर्धैक्यकलनप्रयुक्तं सर्वैक्यप्रतिभानं पूर्वार्धेनाभिहितम्। एवमपि मातृकागणैक्यं किंचिदवशिष्टं वक्तव्यमेव। षट्चक्रे प्रागुक्तत्वेऽपि मन्त्रे प्रत्याहारादिना प्रदर्शितत्वेऽपि चक्रे तस्य स्पष्टमप्रदर्शनादित्यत उत्तरार्धे तदैक्यं संपादयन्नाह—स्वरास्त इति। अत्र ते इति पदद्वये एकं तच्छब्दस्य द्वितीयं युष्मच्छब्दस्य। हे भगवति! ते मातृकागणान्तःपातित्वेन प्रागुक्ताः सकलाश्च स्वरास्ते तव श्रीचक्रगते कलाश्रे षोडशदले लीनास्तादात्म्यमापन्ना इत्यर्थः। ककाराद्या मकारान्ता वृत्ते वृत्तत्रये लीनास्तादात्म्यमापन्नाः। तदनुचेति समुच्चयार्थकम्। किं च यमुखा यकारप्रभृतयः शेषवर्णाश्चतुरश्रे भुवनत्रयात्मके लीनास्तादात्म्यमापन्नाः। अत्रापि स्वरा स्पर्शवर्णा अन्तःस्थोष्माण इति।

नन्वेवमपि बिन्दुप्रभृत्यष्टदलपर्यन्तं मातृकावर्णानामनभिधानात्तत्र मातृकैक्यं न सिध्यतीति चेन्न। षोडशदलवृत्तत्रयभूपुरत्रयेषु मातृकैक्यसिद्ध्यैव नवयोन्यात्मकश्रीचक्रे मातृकैक्यसिद्धिसंभवात्। द्वयं नैकं घटपटौ न घट इत्यादिप्रत्ययानुदयेन व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छेदेनैकदेशभेदानभ्युपगमस्य गदाधरभट्टाचार्यप्रभृतिभिः प्रतिपादितत्वात्। श्रीचक्रं हि नवयोनिसमष्टिरूपमेवेति तदेकदेशैक्यमात्रेण श्रीचक्रैक्योपपत्तेः। न चैवमपि

मातृकासु श्रोचक्रैक्यं न सिध्येदेव, व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यैकदेशे स्वीकारात्। एकं न द्वावित्यादिप्रत्ययादिति वाच्यम्। त्रिखण्डत्वसाम्येन प्राक्प्रतिपादितरीत्या वा मातृकासु चक्रैक्यस्य सम्पादनीयत्वात्। तत्र बिन्दुर्बिन्दुरूप एव। त्रिकोणमुच्छूनबिन्दुत्रयरूपमेव। अष्टकोणं पश्यन्तीभावापन्ना परामातृका। दशकोणद्वयं मध्यमाभावापन्ना। चतुर्दशकोणं वैखरीरूपापन्नाश्चतुर्दशस्वराः। अष्टदलमष्टवर्गो वैखरीरूपापन्नः। शेषा व्याख्याताः। त्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वश्राणां मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहताज्ञारूपत्वात्परापश्यन्तीमध्यमावैखरीस्थानत्वाच्च तथोपपत्तेः। अयमपि भावनीयः प्रकारभेद एव।

अथवा एवं कल्पना नाम कर्तव्या। अस्मिन् श्लोके अर्धेन चक्रत्रयं विवृतम्। शेषमुत्तरश्लोकार्धेन प्रवक्ष्यमाणमेवात्रैक्यसम्पादनायानुसन्धातव्यम्॥ २४॥

हलो बिन्दुर्वर्गाष्टकमिभदलं शाम्भववपु-
श्चतुश्चक्रं शक्तौ स्थितमनुभयं शक्तिशिवयोः ।
निशाद्या दर्शाद्याः श्रुतिनिगदिताः पञ्चदशधा
भवेयुर्नित्यास्तास्तव जननि मन्त्राक्षरगणाः ॥ २५॥

बिन्दु हल् वर्णरूप है। अष्टदल आठवर्ग (अवर्ग-कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्ग) स्वरूप है। शैवचक्र चार (अष्टदल-षोडशदल-वृत्तत्रय-भूपुरत्रय) शक्तिचक्र त्रिकोणादि पाँच में स्थित हैं, अतः शिवचक्र के अक्षरगण ही शक्तिचक्र में भी हैं। जो शिवचक्र भी नहीं, शक्तिचक्र भी नहीं ऐसा विन्दु शिवशक्ति उभयरूप समझना चाहिये। कृष्णपक्षीय एवं शुक्लपक्षीय पन्द्रह कलायें ही श्रुतिप्रोक्त नित्यायें हैं। हे जननि ! वे ही आपके पञ्चदशाक्षरी के अक्षरगण हैं ॥ २५ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हलो बिन्दुः = बिन्दुतादात्म्यापन्ना हल्वर्णाः। हलिति व्यञ्जन-संज्ञा पाणिनीया। अथ वा रलयोरभेदाद् हर इति पाठान्तरसत्त्वाच्च ह इत्येकबिन्दुः पुरुषरूपः रो विसर्गस्थानी द्विबिन्दुः प्रकृतिः। बिन्दावेव बिन्दुत्रयमुपगतम्। इभदलम् = अष्टदलपद्मं वर्गाष्टकम् = अ-क-च-ट-त-प-य-श वर्गाष्टकतादात्म्यापन्नम्। चतुश्चक्रम् = अष्टदल-षोडशदल-वृत्तत्रय-भूपुरत्रयात्मकं शक्तौ = त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म-मन्वश्रलक्षणशक्ति-चक्रपञ्चके स्थितं = तदात्म्यापत्त्या स्थितमिति हेतोः पूर्वकृतचतुश्चक्र-व्याख्यानेन गतार्थम्। अनुभयं = शिवचक्रत्वशक्तिचक्रत्वोभयरहितो बिन्दुः शक्तिशिवयोः स्थितम्। प्रत्येकाधिष्ठातृकत्वविरहस्योभयाधिष्ठातृ-कत्वमित्यर्थः। निशाद्याः—कृष्णपक्षीयाः दर्शाद्याः—शुक्लपक्षीयाश्च श्रुतिनिगदिताः पञ्चदशधा = पञ्चदशसंख्याका नित्याश्चन्द्रकला हे जननि तव पञ्चदशमन्त्राक्षरणा भवेयुः ॥ २५ ॥

अमृतझरिका

पूर्वश्लोकोत्तरार्धे चक्रत्रयस्यैव मातृकाभिरैक्यसंपादनाच्छेषाणामपि तत् सम्पादनीयमित्यतोऽयमर्धश्लोकः। पूर्वत्रैव पूरणेऽत्र पूरणार्थं यत्ना-

न्तरमास्थेयम् । हलो बिन्दुः । हल् प्रत्याहारः पाणिनीयो ग्राह्यः । हलिति व्यञ्जनानि बिन्दौ लीनानि तादात्म्यमापन्नानीत्यर्थः । सहस्रारं बिन्दुरिति वक्ष्यमाणत्वात्तत्र सर्वेषां हलां विद्यमानत्वात् । वस्तुतस्तु—

सहस्रारं महापद्मं शुक्लवर्णमधोमुखम् ।
अकारादिक्षकारान्तैः स्फुरद्वर्णैर्विराजितम् ॥

इति कङ्कालमालिनीतन्त्रवचनात्—

सूक्ष्मरूपं समस्तार्णावृतं परमलिङ्गकम् ।
बिन्दुरूपं परानन्दकन्दं नित्यपदोदितम् ॥

इति योगिनीहृदयवचनाच्च सहस्राराभिन्ने बिन्दौ सर्वे वर्णाः स्थिताः । तथा च हल् इत्युपलक्षणं सर्वेषां वर्णानाम् । न चैवम् अलो बिन्दुरिति वक्तव्ये हल इति कुतः पठितमिति वाच्यम् । रलयोरभेदेन बिन्दुर्हंररूप इत्यर्थस्यापि विवक्षितत्वात् । बिन्दोश्च शिवरूपत्वं प्राङ्निरूपितम् । क्वचित्तु हरो बिन्दुरित्येव पाठः । न च तत्पक्षे सर्वेषां हलामग्रहणमिति वाच्यम् । हर् प्रत्याहारेऽपि सर्वव्यञ्जनसमावेशात् । "शषसर्" इति माहेश्वरसूत्रस्थरेफेन हर् प्रत्याहारे सर्वव्यञ्जनानि तत्रान्तर्भवन्ति । "शषसर्" इत्यनन्तरं "हलि"ति माहेश्वरसूत्रं शल्झलादौ हकारग्रहणार्थम् । "हयवरट्" इत्यत्रैव हकारस्य पठितत्वात् । यद्यपि पाणिनीयव्याकरणे हर् प्रत्याहारो नास्ति । प्रयोजनाभावात् । हल् प्रत्याहारेणैव सर्वार्थसिद्धेस्तथापि प्रकृते प्रयोजनसत्त्वाद् हर् प्रत्याहारः शक्यस्वीकारः । हरो बैन्दवगृहमित्युत्तरत्रापि पाठभेद एवमेव ।

अथवा 'हल' इति ह्-अल्-विसर्गाणां समाहारेणोच्यते । तत्र हकारः शिवोऽधोबिन्दुरूपः । सकारो विसर्गो बिन्दुद्वयरूपः शक्तिरूर्ध्वस्थिता । एतदुक्तं भवति बिन्दुरूपे सहस्रारे सूक्ष्मं बिन्दुत्रयम् । अत एवोच्छूनो बिन्दुस्त्रिकोणरूपतामापद्यते । तत्र सूक्ष्मबिन्दुत्रये ऊर्ध्वं द्वावध एकः । तत्र द्विबिन्दुरेव विसर्गः सकारात्मकः । एकबिन्दुर्हकारात्मकः । स्पष्टं चेदमागमकल्पद्रुमादौ—

अथ शुभसहस्रारे पूर्णेन्दुमध्यविस्फुरत् ।
त्रिकोणं तडिदाभासमकथादि हलक्षयुक् ॥

तदन्तरे परं शून्यं विसर्गाधोव्यवस्थितम् ।
बालादित्यप्रभा तत्र कला षोडश्यधोमुखी ॥

स्रवन्ती सौधधारां वै चन्द्रार्धाङ्गविभङ्गुरा।
तदन्तरे पराशक्तिः कोटयादित्यप्रभामयी॥
बिसतन्तुसहस्रांशभागरूपा चिदात्मिका।
तदन्तः सच्चिदानन्दो वेदातीतो निरञ्जनः॥
बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मता।
पुंस्प्रकृत्यात्मको हंसः स्वप्रकाशेन भासत॥ इति।
हकारो बिन्दुरित्युक्तो विसर्गः स इति स्मृतः।
बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिस्तथा॥
पुंस्प्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्॥ इति च।

त्रिकोणं बिन्दुत्रयात्मकं प्राग् व्याख्यातम्। परं शून्यं परबिन्दुः। कला चन्द्रकला। इत्थं चात्र हकारेण शिवग्रहणाद् विसर्गेण शक्तेश्च ग्रहणान्मध्ये अलिति सर्ववर्णसंग्रहः सुगमः। पाणिनीयानाश्रयणेऽपि अकारलकाराभ्यामाद्यन्ताभ्यां सर्ववर्णग्रहणोपपत्तेः। न च क्षकारासंग्रह इति वाच्यम्। ककारषकाराकाराणामेव क्षकाररूपताया उक्तत्वात्। "हो ढ" इति ढत्वाभावे सत्यपि सस्य रुत्वोत्वे वर्णविषयत्वात्।

वर्गाष्टकमिभदलमिति। अ क च ट त प य शाख्या अष्टौ वर्गाः। ते इभदलेऽष्टदलपद्मे तादात्म्यमापन्ना इत्यर्थः। सर्ववर्णानां बिन्दुलीनत्वेऽपि तेषामेव षोडशदलादौ लीनत्वमावृत्त्योपपद्यते। आवृत्त्यैव चाष्टवर्गाणामष्टदले समावेशश्च। वचनप्रामाण्यादेवावृत्त्या लीनत्वमविरुद्धम्।

ननु पूर्वश्लोकोत्तरार्धमेलनेऽपि भूपुरत्रय, मेखलात्रय, षोडशदलैः सहाष्टदलपद्मे एव मातृकाणां समावेशः सिद्धो बिन्दौ चैव। त्रिकोणाष्टकोणदशारयुग्मचतुर्दशकोणानि परिशिष्टानि, नहि तत्र मातृकासमावेश एतावतापि सिद्ध इत्यत आह—**शांभववपुश्चतुश्चक्रं शक्तौ स्थितमिति**। शांभववपुःस्वरूपमष्टदलषोडशदलवृत्तत्रयभुवनत्रयेतिचतुष्टयं शक्तौ शक्तिचक्रपञ्चकमध्ये त्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वश्रलक्षणे स्थितमैक्येन वर्तत इत्यर्थः। तथा च शिवचक्रचतुष्टये यथा मातृकासंनिवेशस्तथैव शक्तिचक्रपञ्चकेऽपि स सिद्ध इति भावः। तत्र त्रिकोणं ते वृत्तत्रितयमित्युक्तत्वाद् वृत्तत्रयोक्ताः कादिमान्तास्त्रिकोणे लीनाः। इभकोणं वसुदलमित्युक्तेर्वसुदलोक्तवर्गाष्टकमिभकोणे लीनमिति सिद्धं भवति। कलाश्रं मिश्रारे इत्युक्तत्वात् षोडशदलगतषोडशस्वरा दशारद्वये लीनाः सिध्यन्ति। भुवनाश्रे च भुवनमित्युक्तत्वात् भूपुरत्रये यकारादीनां स्थितेस्ते चतुर्दशारे च लीनाः

सिध्यन्तीति। प्रागादिप्रादक्षिण्येन वर्णनिवेशे यत्र चक्रे वर्णाल्पत्वं तत्राऽऽवृत्या प्रथमादिक्रमेण वर्णा लीना विभाव्याः। यथा ऌकारपर्यन्तमन्तर्दशारे विलाप्य बहिर्दशारे प्रागादिक्रमेण षट् स्वरान् निवेश्य पुनरकारादिचतुष्टयं क्रमेण योज्यमिति।

ननु बिन्दुर्न शक्तिचक्रं नापि शिवचक्रमिति परस्परतादात्म्यरहितं पृथगेव बिन्दुः स्यात्। न चेष्टापत्तिः स्वस्मिन्नैक्यविरहे परैक्यप्रत्याशाया दूरनिरस्तत्वादित्यत आह–अनुभयं शक्तिशिवयोरिति। अनुभयं शक्तिचक्रशिवचक्रोभयभिन्नं बिन्दुरिति यावत्। शक्तिशिवयोरुभयोरधिष्ठानमित्युभयतादात्म्यापन्नमित्यर्थः। न च बिन्दुर्हरस्वरूप इति प्राक् प्रदर्शितत्वात्कथमनुभयत्वं बिन्दोरिति वाच्यम्। यतो बिन्दोर्हरस्वरूपत्वेऽपि हरचक्रत्वं नास्त्येव। हराङ्के शक्तेरपि सत्त्वाच्च परस्परं शक्तिशिवयोश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव तादात्म्यापन्नत्वादर्धनारीश्वररूपेणैकत्वाद्वा एकाकारेण बिन्दौ स्थितत्वात्केवलहरचक्रत्वस्य संभावयितुमशक्यत्वाच्च।

यदि पुनर्बिन्दोरपि चक्रत्वमस्त्यमेव बैन्दवं चक्रमिति दर्शनात्। न चैवं नवयोन्यात्मकं चक्रमिति सांप्रदायिकवचनविरोधः, दशयोनित्वस्य वक्तुमुचितत्वादिति वाच्यम्। दशारयुग्मस्यैकीकरणेन कथंचित्तस्य नेयत्वाद्, यदि च हि हरस्यैव तद्बैन्दवं चक्रं न तु शक्तेरष्टदलादिवदिति विभाव्यते। तदा "त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे चतुष्कोणं प्राहुः" इति प्राग् यत् चतुष्कोणमुक्तं त्रिकोणस्याधस्तात्तद्विषयकमेवानुभयपदं नेयम्। न च "त्रिकोणं ते" इत्यतस्ते इति पदानुवृत्तेश्चतुष्कोणं देव्या एव स्थानमित्यतः अनुभयमिति न संगच्छते शक्तिशिवयोरित्यपि न संगच्छते पूर्वापरविरोधादिति वाच्यम्। तस्य चक्रत्वविरहात्तदा नवयोनित्वव्याघातापरिहाराद् भगवत्याः कुलगृहे भगवतो हरस्यापि स्वामित्वे क्षतिविरहाच्च पूर्वापरविरोधाभावात्। प्रस्तारभेदव्याख्यायां बैन्दवस्थाने केवलस्वरसंनिवेशस्तु भावनाविशेषविषयत्वान्न परस्परविरोधापादक इति तु न विस्मर्तव्यम्।

"श्रियो देव्याः शेषा यत इह समस्ताः शशिकलाः" इत्युक्तं प्राक्। तत्र शेषभूता महात्रिपुरसुन्दर्या षोडशकलास्तत्रैव व्याख्याताः। चक्रे च तासां निवेशक्रमो व्याख्यातः। मन्त्रे तु तासां निवेशो न प्रदर्शितः। यत इहेत्यत्रेहपदेन श्रीचक्रस्यैव ग्रहणादिति तासां शशिकलानां स्वरूपं प्रदर्शयन्नेव मन्त्रे तन्निवेशमपि प्रदर्शयति—निशाद्या इति। निशाद्याः

कृष्णपक्षीयाः। कृष्णपक्षे रात्रौ प्रथममन्धकारलक्षणा निशा पश्चाच्चन्द्रकलोदय इति दर्शनात्। दर्शाद्या इति शुक्लपक्षीयाः। दर्श इत्यमावास्यानाम "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते" त्यादिषु श्रुतिषु प्रसिद्धम्। आदौ भवः आद्यः। दर्श आद्यो यासां ता इत्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। चित्रगुमानयेत्यादौ अतद्गुणसंविज्ञाने न चित्रा गाव आनीयन्ते। किन्तु ता वर्जयित्वा तत्स्वामी पुरुष आनीयते। एवमात्राप्यतद्गुणसंविज्ञानाद् दर्शं परित्यज्य प्रतिपदादय एव दर्शाद्या भवन्ति। यद्वा प्रथमचन्द्रदर्शनाद् दर्शः शुक्लप्रतिपदेव तदाद्याः शुक्लपक्षीयाः प्रतिपत्प्रभृतयः पञ्चदशधा।

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी॥

इति प्राग्प्रदर्शितसुभगोदयवासनावचनात्। अमावास्याया अपि दर्शाद्या इत्यत्र ग्रहणे पूर्णिमापर्यन्तं षोडशत्वापातात्। एतेनामावास्यायामपि काचन कला वर्तते। अदर्शनं तु सूर्येणापिधानादिति परास्तम्। पञ्चदशैवेति निर्धारणानुपपत्तेः।

श्रुतिनिगदिता इति। तत्र दर्शाद्याः—दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना, आप्यायमाना, आप्यायमाना, आप्याया, सूनृता, इरा, आपूर्यमाणा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा, पौर्णमासीति। प्रथमपञ्चके दर्शनोत्कर्षः क्रमशः। द्वितीयपञ्चके वृद्धयुत्कर्षः क्रमशः। तृतीयपञ्चके पूर्णत्वोत्कर्षः क्रमश इति तदनुकूलानि नामानि। प्रागभिहिता महात्रिपुरसुन्दर्यादयो ज्वालामालिनिकान्ताः, कामेश्वर्यादयश्चित्रान्ता आसां देवता इति ता अपि शशिकला उच्यन्ते। अत्रापि प्रथमपञ्चकमाग्नेयखण्डः। द्वितीयपञ्चकं सौरखण्डः। तृतीयपञ्चकं सोमखण्ड इति त्रिखण्डत्वमवसेयम्।

निशाद्यास्तु—सुता, सुन्वती, प्रसुता, सूयमाना, अभिषूयमाणा, पीती, प्रपा, संपा, तृप्ति, स्तर्पयन्ती, कान्ता, काम्या, कामजाता, ऽऽयुष्मती, कामदुघा इति श्रुत्युक्तनामसु रात्रिषु प्रतीयमानास्ता एव दर्शवर्जं दृष्टाद्याः प्रतिपदादौ प्रतीयन्ते। तथा हि दर्शकला शुक्लप्रतिपदि सूर्यान्निष्पद्यते। कृष्णायां तु प्रतिपदि सूर्ये निलीयत इति सा न तदा दृश्यते। द्वितीया दृष्टा कला शुक्लद्वितीयायां सूर्यान्निष्पद्यते कृष्णायां तु द्वितीयायां निलीयते। एवं च दर्शतादयोऽपि। इदं तु बोध्यं—द्वितीयादावपि दर्शादिकला वर्तन्ते। एकैका कला केवलं वर्धते। तथा च शुक्लपक्षे प्रतिपदि एका

कला द्वितीयायां द्वे कले इति रीत्या पूर्णिमायां पञ्चदशकलाः। कृष्णे पक्षे प्रतिपदि चतुर्दशकलाः। द्वितीयायां त्रयोदशकला इति रीतिः। तत्रैकैककलया घटिकाद्वयव्यवधानं सूर्यस्येति पौर्णमास्यां त्रिंशद्घटिकाव्यवधानम्। पुनः कृष्णपक्षे एकद्वयादिकलया सामीप्यम्। अमावस्यायां तु सूर्यचन्द्रयोरत्यन्तसंयोगः। अत्र च कौलमते प्रतिपदादावेकैकस्या वर्धमानायाः कलायाः पूजा। समयिमते सर्वासामेवामावास्यावर्जम्। अमावास्यायां तु कलापूजा नास्तीत्यग्रे वक्ष्यते।

एता दर्शाद्याः पञ्चदश नित्या महात्रिपुरसुन्दर्यादिनामधेयाः कामेश्वर्यादिनामधेया वा। नन्वनयोः पक्षयोः कतरः श्रेयानिति। उच्यते। वामकेश्वरतन्त्रे—

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी॥ इत्यारभ्य।
ज्वालामालिनिका चित्रेत्येवं नित्यास्तु षोडश॥ इति समाप्य।
शृणु देवि महानित्यामादौ त्रिपुरसुन्दरीम्।
यया विज्ञातया गौरि जगत्क्षोभः प्रजायते॥

इत्युपसंजहार। तत्र महानित्यापदेन षोडश्येव निर्दिष्टा भवति। तत्रैव तन्नामप्रसिद्धेः। तथा च यदि चरमा चिद्रूपैव सा तदान्यनाम्नां तन्त्रान्तरेण सादृश्याद्भेदानुपपत्तेश्चित्रानामिकैव चिद्रूपा भवितुमर्हति। तदा च स्वसंकेतितनामानुसारेण—'शृणु देवि महानित्यामादौ चित्राभिधायिनीम्" इत्येव वक्तव्यमासीत्। इह च प्रथमोक्तत्रिपुरसुन्दर्येव आदौ त्रिपुरसुन्दरीमित्यनेन प्रत्यभिज्ञायते। तस्मात्प्रथमा त्रिपुरसुन्दर्येव षोडशी। संकेतपद्धतिवचने प्राक् प्रदर्शिते—

विमर्शरूपिणी नित्या षोडशी या प्रकीर्तिता।
गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी॥ इत्यभिधाय।
सुन्दर्यादिमहापूर्वं चित्रान्तं च समान्ततः।

इत्युक्तेः षोडश्या विमर्शात्मिकाया यः प्रथमभेदः स एव षोडशीरूपो भवितुमर्हति। न तु पञ्चदशरूपपरिणामानन्तरविभेदः। न हि षोडशीत्यस्य षोडशः परिणाम इत्यर्थः। किन्तु नित्यारूपत्वमेव। तद्यथा बिन्दुपरिणामस्त्रिकोणं बिन्दुरेव वसुकोणादयस्तु न बिन्दुरूपास्तथा षोडशीपरिणामः प्रथमा महात्रिपुरसुन्दर्येव षोडशीरूपा स्यान्न तु पञ्चदशपरिणामोत्तरपरिणामः। न चैवं पूजासंप्रदायविरोधः स्यादिति वाच्यम्।

उदयातिथिरूपायाममावास्यायां प्रायो रात्रौ चरमयामे च प्रतिपदागमनात्तदानीं महात्रिपुरसुन्दरीपूजोपपत्तेः। उदयतिथिप्रतिपदि च रात्रौ द्वितीयैवेति कामेश्वर्या एवंक्रमेणान्यासां च पूजोपपद्यते।

वस्तुतस्तु ज्ञानार्णवतन्त्रे

एतस्मिन्समये देवि तिथिनित्यां प्रपूजयेत्।
कामेश्वर्यादिका नित्या विचित्रान्ता महेश्वरि॥
प्रतिपत्पौर्णमास्यन्तास्तिथिरूपाः प्रपूजयेत्।
विभाव्य च महात्र्यश्रमप्रदक्षोत्तरक्रमात्॥

इत्यादिना प्रतिपदादिकमारभ्य कामेश्वर्यादीनामेव पूजनमुक्तम्। अग्रे च—

प्रतिपत्तिथिमारभ्य पौर्णमास्यन्तमद्रिजे।
एकैकां पूजयेन्नित्यां महासौभाग्यमाप्नुयात्॥
कृष्णपक्षे महेशानि पूजयेत्तिथिमण्डलम्।
विचित्राद्या वरारोहे यावत्कामेश्वरी भवेत्॥
पूजनीया विलोमेन अन्यत्र परमेश्वरि।
कलाः षोडश देवेशि यस्तु चन्द्रकलाः क्रमात्॥
स सौभाग्यं महादेवि प्राप्नोति गुरुशासनात्।
कामेश्वर्यादिका नित्याः पूजयित्वा क्रमात्ततः॥
तिथिनित्यां त्रिधा देवि पूजयेद्भाग्यहेतवे।
पुनः श्रीत्रिपुरां नित्यां यजेत्सौभाग्यहेतवे॥

इति स्पष्टमेव चिद्रूपास्थानापन्नां चित्रिणीमादायैव पञ्चदशसंख्यापूर्तिः कृता गम्यते। त्रिपुरसुन्दरीनित्यायाश्च पृथगेव पूजनमन्ते स्पष्टोक्तम्। एतच्च कौलमते। समयिनां तु सर्वासामेव पूजा सर्वासु तिथिषु भवतीति न काप्यनुपपत्तिः।

ता एता दर्शाद्या हे जननि! तव मन्त्राक्षरगणा कएईलह्रीमित्याद्या वा हसकलह्रीं इत्याद्या वा। मन्त्राक्षरगणा इति बहुवचनं तु एकैकखण्डगतवर्णगणांश्चीनादाय बोद्धव्यम्। इत्थं च दर्शादिकलातादात्म्यापन्नत्वाच्छ्रीविद्याक्षराणां तत्तादात्म्यापन्नश्रीचक्रेणैक्यं सिद्धम्। मन्त्रकलयोस्त्रिखण्डत्वादिनैक्यं चक्रकलयोरपि त्रिखण्डत्वादिनैक्यं नित्याचक्रैक्यं नित्यामन्त्रैक्यमित्येतत्सर्वं मन्त्रचक्रैक्ये एव अन्तर्भवतीति न चतुर्थैक्यात्पृथग्भूनमित्यवधेयम्॥२५॥

इमास्ताः षोडश्यास्तव च सरघायां शशिकला-
स्वरूपायां लीना निवसति तव श्रीशशिकला।
अयं प्रत्याहारः श्रुत इह कला व्यञ्जनगणः
ककारेणाकारः स्वरगणमशेषं कथयति ॥२६॥

पूर्वोक्त पंद्रह नित्यायें आपके शशिकलारूप श्रीचक्र में तादात्म्य से लीन हैं। और नित्याओं में शशिकला तादात्म्य से रहती हैं। क्योंकि शशिकला में भी सभी मातृकायें हैं, इसलिये कला कहते हैं। कल प्रत्याहार में सभी व्यञ्जन आते हैं अक् में सभी स्वर ॥२६॥

अन्वयार्थबोधिनी

इमाः = पूर्वोक्ताः ताः नित्याः = महात्रिपुरसुन्दर्यादयः पञ्चदशधा भिन्नाः हे भगवति ! तव षोडश्याः शशिकलास्वरूपायां सहस्रारस्थायां सरघायां श्रीचक्ररूपिण्यामपि लीनाः = तादात्म्यापन्ना भवन्ति। नित्यासु च तासु पञ्चदशभेदभिन्नासु तव श्रीशशिकला तादात्म्येन निवसति। यतो हि इह = शशिकलेत्यत्र श्रुतः = पठितः यः शब्दः कलेति सोऽयं प्रत्याहारो व्यञ्जनगण एव। व्यञ्जनगणसंज्ञात्वात्। तत्रैव व्यत्ययेन ककारेणाकारः = ककारसहितोऽकारः अक् प्रत्याहाररूपः स्वरगणमशेषं कथयति। नेयं डित्थडवित्थादिवत्संज्ञैव किन्त्वर्थवती शशिकलेति भावः ॥२६॥

अमृत झरिका

एवं श्रीचक्रमन्त्रयोरैक्यं सम्यगुपपादितम्। तदेतत् स्थूलयोः श्रीचक्रमन्त्रयोरुक्तम्। अधुना सूक्ष्मयोरपि तदुपपादयति—इमास्ता इति। इमा इत्यनेन निशाद्या दर्शाद्या भवेयुर्नित्या इति पूर्वश्लोकोक्तानां नित्यानां परामर्शः। इमाः पूर्वोक्तास्ता नित्याः। तव शशिकलास्वरूपायां सरघायां च लीना इत्यन्वयः। शशिकलास्वरूपायामित्यनेन बाह्यसरघायाः व्यावृत्तिः। बाह्यसरघायाः श्रीचक्रात्मिकायाः सरघानामत्वं सूक्ष्मसरघाकार्यत्वादेव। सूक्ष्मसरघायामेव मधुप्रस्रवणस्य संभवाद् दर्शितत्वाच्च। कस्यास्तव ? षोडश्याः। स्थूला तु सरघा पञ्चदश्याः। न चैवं स्थूलसरघायां षोडशीपूजनं

न स्यादिति वाच्यम् । स्थूलसरघायां बिन्दावेव सूक्ष्मसरघायाः स्थितत्वेन तस्या अपि पूजासंप्रदायोपपत्तेः । अस्मिन् सरघाश्रीचक्रे न षट्चक्रैक्यं प्रागुक्तरीत्या । सहस्रारस्थितत्वात् । अत एव सहस्रारस्थसरघायां स्थूलश्रीचक्रैक्यमपि प्रागुक्तरीत्या नास्ति । श्रीचक्रबिन्दुस्थत्वात् । तथापि स्थूलसूक्ष्मभावात्मकत्वेनैक्यमस्त्येव । एतदेवाग्रे स्पष्टीकरिष्यति—

सहस्रारे चक्रे शिशिरमहसो बिम्बमपरं ।
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्बैन्दवमिति ॥ इति ।

बैन्दवमित्यनेन बिन्दौ वर्तमानत्वोक्त्या बिन्दावपि सूक्ष्मश्रीचक्रसत्त्वं गम्यते । तथा चात्र चत्वारि श्रीचक्राणि । ब्रह्माण्डाकारश्रीचक्रम् । पिण्डाण्डाकारश्रीचक्रम् । षट्चक्राकारश्रीचक्रम् । सहस्रारगतचन्द्रबिम्बाकारश्रीचक्रमिति । तत्र कामिकायां —

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिधातवः शक्तिमूलकाः ।
मज्जाशुक्लप्राणजीवधातवः शिवमूलकाः ॥
नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भवः ।
दशमी योनिरेकैव परा शक्तिस्तदीश्वरी ॥

इति वचनेन पिण्डाण्डस्य श्रीचक्ररूपत्वमुक्तम् । तत्रैव—

एवं पिण्डाण्डमुत्पन्नं तद्वद् ब्रह्माण्डमुद्बभौ ।
पञ्चभूतानि शाक्तानि मायादीनि शिवस्य तु ॥
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ ।
पञ्चविंशतितत्त्वानि तत्रैवान्तर्भवन्ति हि ॥
शिवशक्त्यात्मकं विद्धि जगदेतच्चराचरम् ।

इत्यनेन ब्रह्माण्डस्यापि श्रीचक्रात्मकत्वमुक्तम् । पञ्चभूतानि चत्वारि मायादीनीति नवयोनिसमुद्भवं ब्रह्माण्डमित्युक्ते नवतत्त्वात्मकं तत्स्यात् । कथं तदा पञ्चविंशतितत्त्वात्मकत्वप्रसिद्धिरिति समाधातुं पञ्चविंशतीत्याद्युक्तम् । त्रिकोणं चाधारमित्यादिना मूले एव षट्चक्रस्य श्रीचक्ररूपत्वमभिहितम् । त्वगसृगादिकं स्थूलं मूलाधारादिकं तदपेक्षया सूक्ष्ममिति पिण्डाण्डषट्चक्रयोर्भेदः । न च षट्चक्रे नवयोनयो न विद्यन्त इति वाच्यम् । मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धिलम्बिकाज्ञाविसर्गबिन्दूनां नवानामुपगमात् । एतदादायैवाज्ञायाश्चतुश्चक्ररूपत्वमिति । मतान्तराण्यपीषद्भेदभिन्नानि । विसर्गबिन्दोर्मध्ये परं बिन्दुरिति प्राग् व्याख्यातम् । तत्रैव

चतुर्थं श्रीचक्रम्। तत्र नवयोनयः सुधासिन्ध्वादिरूपेण प्राग् वर्णिताः। सर्वाणि च श्रीचक्राणि नानासहस्रारकमलस्थानि। तथा हि ब्रह्माण्डं तावद्विष्णुनाभिपङ्कजमध्यस्थमिति प्रसिद्धं पुराणेषु।

तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्।
अनेन लोकान् प्राग् लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्॥
पद्मकोशं तदाविश्य भगवत्कर्मचोदितः।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा॥

इत्यादिभागवतवचनात्। पिण्डाण्डमपि पद्मदलवत्प्रसृतनाडीसहस्राधारत्वात्सहस्रारस्थमेव। मूलाधारादिकमपि सहस्रारे वर्तते। मूलाधारादधोऽकुलसहस्रारसत्त्वात्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

अधश्चोर्ध्वं सुषुम्नायाः सहस्रदलसंयुतम्।
रक्तं श्वेतं च साहस्रदलस्थं शक्तिसंयुतम्॥
ऊर्ध्वाधोमुखमूलं तु कर्णिकाकेशरान्वितम्।
शक्तिरूपं महादेवि कुलाकुलमयं शुभम्॥
पङ्कजद्वयमीशानि स्थितं शाश्वतमव्ययम्॥ इति।

अकुलं च कुलं च कुलाकुले तन्मयम्। अल्पाच्त्वात्कुलस्य पूर्वनिपातः। मूलेऽकुलमयं सहस्रारम्। द्वितीयं सुषुम्नोर्ध्वसहस्रारं तु सूक्ष्मतमबैन्दवश्रीचक्राधारभूतमिति।

एतच्च नटनानन्दादिमतेनोक्तम्। वस्तुतः—

देवीस्थानं सहस्रारं प्रविशेदकुलं प्रिये

इत्येवं श्रीक्रमे आज्ञानन्तरसहस्रारस्याकुलत्वकथनात् कुलं चाकुलं च कुलाकुले तन्मयमित्येवात्र व्युत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम्। अत्र च सूक्ष्मतमायाः बैन्दवकलारूपायाः सरघाया ग्रहणं न त्वितरेषां स्थूलादीनां चक्राणामित्येतदर्थं विशेषणं—शशिकलास्वरूपायामिति। अन्येषां चक्राणां शशिकलास्वरूपत्वं नास्तीति तद्व्यावृत्तिः। लीना इति। एतच्च "त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरघायां निविशत" इत्यत्र व्याख्यायामुक्तप्रायम्। प्रकाशाख्यमहेश्वरस्य या शक्तिर्विमर्शाख्या सैव षोडशी सैव षोडशनित्यारूपा संवृत्तेत्यादिकमुक्तं संकेतपद्धत्यां—

विमर्शरूपिणी नित्या षोडशी या प्रकीर्तिता।
गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी॥
सुन्दर्यादि महापूर्वं चित्रान्तं च समन्ततः॥ इत्यादि।

तिले लीनमेव तैलं पेषणे सत्यभिव्यज्यते। एवं षोडश्यां लीना एव षोडश नित्यास्तदिच्छयाऽभिव्यज्यन्ते। जातायामप्यभिव्यक्तौ न षोडशीतादात्म्यं जहति। न हि मृदि पूर्वं लीनो घटः पश्चात् व्यक्तिं गतोऽपि मृत्तादात्म्यं जहाति। तथा च लीना इत्यनेन मुख्यतया तादात्म्यापत्तिरेव विवक्षितेति सरघायां लीना इत्युपपन्नम्। न च शशिकलास्वरूपायामित्यत्र शशिकला यदि षोडश्येव तर्हि तवेति भेदेन निर्देशो नोपपन्न इति वाच्यम्। शशिबिम्बं हि श्रीचक्रं, तच्च शशिकलातादात्म्यापन्नमिति शशिकलास्वरूपायामित्यस्य, तवेति भेदनिर्देशस्य चोपपत्तेः।

निवसति तव श्रीशशिकलेति। परस्परतादात्म्यप्रकरणत्वादर्थादिमास्ता इति परामृष्टनित्यासु निवसति इति लभ्यते। षोडशसु नित्यासु षोडशीकला भगवती तादात्म्येनावतिष्ठत इत्यर्थः। षोडशनित्या मन्त्राक्षरगणा इति पूर्वश्लोके प्रोक्तम्। तथा च मन्त्रे षोडशी शशिकला वर्तत इत्यर्थः। तत्र विशुद्धिचक्रे षोडशदलसत्त्वात् पञ्चदशानां नित्यानां षोडशीप्रतिबिम्बषोडशकलायाश्च स्पष्टमवभासः। तथापि षोडशीकलायाः प्रतिबिम्बं पञ्चदशस्वपि दलेषु वर्तत इति सर्वत्र त्रिपुरसुन्दर्या अपि पूजा भवत्येवेत्युक्तं प्राक्। इत्थं मन्त्रेऽपि पञ्चदश्यात्मके पञ्चदशभिरक्षरैः सहैव षोडशीप्रतिबिम्बमपि विद्यत एवेति षोडशनित्यारूपो मन्त्रः। अत्र पृथगक्षराभावात्षोडश्याः स्पष्टप्रतिभासो नास्तीत्यन्यदेतत्। षोडशाक्षरात्मकश्रीविद्यायां तु षोडशीप्रतिबिम्बस्य षोडशेऽक्षरे स्पष्टप्रतिभास इति तत्र षोडशनित्यानां प्रव्यक्ततेति विशेषः। सर्वथापि षोडशनित्यारूपैव पञ्चदशाक्षरविद्या षोडशाक्षरविद्या चेति "भवेयुर्नित्यास्तास्तव जननि मन्त्राक्षरगण" इत्युपपन्नमेव। तथा च सति तत्र कारणस्वरूपायाः विमर्शात्मिकायाः षोडश्यास्तादात्म्यमपि सूपपन्नमेव।

इदं पुनरिहावधेयम्। एतदैक्यं फलभूतमेव चतुर्धैक्यकलनालक्षणसपर्यायाः। न तु चतुर्धैक्यान्तर्भूतम्। तदुक्तं प्राक्

त्रयं चैतत्स्वान्ते परमशिवपर्यङ्कनिलये।
परे सादाख्येऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्यकलनाद्॥ इति।

तस्यापि फलं जीवपरैक्यम्। न च जीवपरैक्यभावना साधनान्तर्भूतेति वाच्यम्। वेदान्तिनां तस्या साधनत्वेऽपि पूज्यपूजकभावात्मकसपर्याकालेऽत्यन्तैक्यभावनायाः दुःसंपादत्वादिति दिक्।

ननु मन्त्रे मातृकैक्यं प्राग्दर्शितं नित्यासु च। षोडश्याः पुनर्मातृकैक्यविरहात्कथं तत्तादात्म्यं मन्त्रे इत्याशङ्क्याह—**अयं प्रत्याहार इति।**

अस्ति षोडश्यामपि सकलमातृकातादात्म्यम्। अत एव षोडशी चन्द्रकलेति तदीयं नाम। कथम्? अयं खलु कलेति शब्दः प्रत्याहारात्मकः इह शशिकलेत्यादौ श्रुतोऽयं कलाशब्दः प्रत्याहारः सन् व्यञ्जनगण एव। कलाशब्दं व्यञ्जनगणं बोधयतीति यावत्। कलेत्यत्राकारककारयोर्व्यत्ययेनाक्प्रत्याहारात् स एव कलाशब्दः स्वरगणं चाशेष कथयति। क्षळहसेत्यादिविपरीतक्रमेणापि तन्त्रेषु पाठपत्त्वात्ककारादकारपर्यन्तं स्वरः। न च ककारस्यापि संग्रहापत्तिः। अकि ककारपरित्यागाद्वैपरीत्येऽपि तत्परित्यागात्। तथा च कलापदं सकलमातृकावबोधकमिति भावः। एवंविधव्यत्ययेनाक्प्रत्याहारानुपगमेऽप्यकारमात्रेण सकलस्वरसंग्रहमग्रिमश्लोकव्याख्यायां प्रदर्शयिष्यामः। न च—

"कला स्यात्षोडशो भागः।"
"कला स्यादंश शिल्पिनोः।"
"कलने मूलरैवृद्धौ षोडशांशे विधोरपि।"

इत्यादिकोशवचनात्कलाशब्दस्याज्झल्वर्णपरत्वं नास्तीति वाच्यम्। विमर्शाख्यायाः शक्तेः षोडशांशत्वविरहात् परिपूर्णत्वाभ्युपगमात्तत्र कलाशब्दप्रयोगस्य सर्वमातृकात्मत्वार्थोपपत्तेः। कोशेषु प्रसिद्धानां केषांचिदर्थानामेव प्रदर्शनेन तस्यैतदर्थाऽत्राधकत्वात्। विमर्शशक्त्यां कलापदस्य पारिभाषिकत्वावश्यंभावाच्च।

किं च सहस्रारे सकलवर्णनिवेशः प्रागस्माभिरुपपादितः।

सहस्रारं महापद्मं शुक्लवर्णमधोमुखम्।
अकारादिक्षकारान्तैः स्फुरद्वर्णैर्विराजितम्॥

इत्याद्यागमवचनैः। क्षकारोऽन्ते यस्य ळकारस्य। तथा च अकारादिळकारपर्यन्तवर्णा एव पञ्चाशत्संख्याका इति पक्षेऽपि कषसंयोगात्मकक्षकाराऽव्यावृत्तिरेव। प्रकारान्तरं चानुपदं वक्तव्यमेव। न च सहस्रारे बिन्दुस्तत्र चन्द्रकलेति कलायां सर्वमातृकातादात्म्यं दुर्लभमिति वाच्यम्। तेषामपि परस्परं तादात्म्यसत्त्वात्।

अत्र च सहस्रारगतचन्द्रकलायामेव कलाशब्दमहिम्ना सर्ववर्णसमावेशलाभ इत्यर्थत्वात् प्रागुक्तमन्त्रगतकलाकोः प्रत्याहारयोः किमिति पुनरिह साधनायास इति शङ्काया नावसर इति ध्येयम्॥ २६॥

क्षकारः पञ्चाशत्कल इति हरो बैन्दवगृहं
क्षकारादूर्ध्वं स्याज्जननि तव नामाक्षरमिति ।
भवेत् पूजाकाले मणिखचितभूषाभिरभितः
प्रभाभिर्व्यालीढं भवति मणिपूरं सरसिजम् ॥२७॥

बैन्दव गृह में क्षकार रहता है। वह पचास कलाओं से युक्त है, अत एव वह सर्ववर्णमय है। क्षकार के बाद हे माता ! आपका नामाक्षर है, षोडशी बीज है। हे भगवती ! पूजा समय में रत्नजटित भूषणों की चारों ओर फैली प्रभा से मणिपूर पद्म व्याप्त होता है ॥ २७ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

कषयुगं बैन्दवगृहे इति प्रागुक्तेः **पञ्चाशत्कलात्मकश्च क्षकार इति** तादृशकलावत्त्वाद् **बैन्दवगृहं हलः** = सर्ववर्णात्मकम् । **क्षकाराद् ऊर्ध्वं** = मातृकास्वरूपात् परत इत्यर्थः, हे **जननि तव नामाक्षरमिति ।** हे **भवति ! पूजाकाले मणिखचितभूषणै**र्निष्पन्नाभि**रभितः** = सर्वतः **प्रभाभिर्मणिपूरं सरसिजं व्यालीढं** = व्याप्तं **भवेत्** ॥ २७ ॥

अमृतर्झरिका

ननु शशिकलेति नाममात्रं तस्याः । न हि षोडशीकला विमर्शात्मिका कलेति शब्दस्वरूपा येन तत्र प्रत्याहारेण वर्णाः समाविशेयुः । न हि मन्त्रे यथा कलेति वर्णश्रवणं तथा शशिबिम्बे तदस्तीत्याशङ्कायां न वयं कलानाम्नः तत्र सर्ववर्णसमावेशं ब्रूमः, किन्तु सर्ववर्णसमावेशात्कलेति नाम्नः सार्थक्यं ब्रूमः । वर्णसमावेशस्तु प्रकारान्तरेण सिद्ध इत्याशयेन समाधत्ते—**क्षकार** इति । त्रिखण्डे त्वन्मत्रे इति श्लोके "अथ कषयुगं बैन्दवगृहे" इत्युक्तत्वाद् बैन्दवगृहवर्ती क्षकारः । स पञ्चाशत्कलः । क्षकारोपर्यकारसत्त्वाद् व्यत्ययेन अक्षेति प्रत्याहाराश्रयणादक्षमालिकारूपाः सर्वमातृकास्तत्रान्तर्भवन्तीति ।

अथवा यो यस्मादुत्पद्यते स तद्गुणस्तस्मिल्लीयत इति नियमाद्, मृदुत्पन्नस्य घटस्य मृद्गुणत्वे सति मृल्लयत्वदर्शनात्, पञ्चभूतेषु गगन-समीरानलजलभूमिषूत्तरोत्पद्यमानेषु पूर्वपूर्वगुणदर्शनात्पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् लयदर्शनाच्च क्षकारस्य पञ्चाशत्कलत्वम् ।

प्रतिलोमे ळें क्षलयो लकारस्य हकारके
हलयश्च सकारे स्यात्सलयश्च षकारके

इतिरीत्याऽऽगमेषु क्षकारादीनामकारपर्यन्ते लयप्रदर्शनाद्। तत्र ळळयो-रैक्याद्वा स्वस्यान्यपदार्थत्वेनाऽपरिगणनाद्वा पञ्चाशत्कल इत्युक्तम्। अन्यथा त्वेकपञ्चाशत्कल इति स्यात्। पञ्चाशल्लिपिमते ककारक्षकारयोरन्यतर-स्याऽपृथग्लिपित्वेनैव गतिः।

अथवा प्रागभिहितरीत्या द्विविधः क्षकारः। एकस्तावत् ककारषकारा-काराणां संयोगमात्रमिति संयुक्ताक्षरम्। अन्यस्तु तादृशसंयोगोत्पन्नः पृथगेव वर्णः क्षकारः। अत एव तन्त्रेषु तस्य वर्णत्वकथनम्। तथा च गौतमीयतन्त्रे—

पञ्चाशल्लिपिभिर्माला विहिता सर्वकर्मसु।
अकारादिक्षकारान्ता वर्णमाला प्रकीर्तिता॥
क्षार्णं मेरुमुखं तत्र कल्पयेन्मुनिसत्तम।
अनया सर्वमन्त्राणां जपः सर्वसमृद्धिदः॥ इति।

न च संयुक्तवर्णोऽपि वर्णपदेन व्यवह्रियत इति वाच्यम्। तथा सति वर्णानां सहस्रलक्षादिप्रसङ्गेन पञ्चाशत्संख्याकत्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्। किं चास्य कण्ठस्थानत्वं वरदराजतन्त्रे प्रोक्तम्।

विशेषं कथयाम्यद्य प्रोच्चार्याः कण्ठतः स्वराः।
ऋद्वयं जिह्वया मूर्ध्ना ऌद्वयं जिह्वदन्तजम्॥
मुखस्थानाद्धलो वाच्याः क्षकारः कण्ठघातजः॥ इत्यादि।

यत्तु प्रथमरुकाराभिप्रायेण कण्ठघातज इत्युक्तिरिति। तदसत्। विशेषं कथयामीति प्रतिज्ञाभङ्गप्रसङ्गात्। विद्यमानमपि मूर्धस्थानमकथयतः कथं विशेषकथनम्? यदपि च—

अकारादिलकारान्ता वर्णाः पञ्चाशदीरिताः।
संयोगात् कषयोरेष क्षकारो मेरुरीरितः॥

इति वचनं तन्नातिरिक्तानतिरिक्तत्वयोरन्यतरसाधकं भवितुमर्हति। न च संयोगजत्वादनतिरिक्त इति वाच्यम्। सन्ध्यक्षराणामेकारादीनामनति-रिक्तत्वापत्तेः। सन्धिना जन्यत्वात् जनकात् पृथगुच्यते तदा कषजन्यत्वा-दयमपि पृथक् कुतो न स्यात्। क्तक्तादीनां संयुक्तत्वमेव न तु संयोगजन्य-त्वमिति न वर्णान्तरत्वप्रसक्तिः। अत एव विश्वप्रकाशकोशकारेण विकल्प एवाभिहितः

षान्ताः स्युर्यद्यपि क्षान्ता वर्णानामनुरोधतः ।
पृथक् क्रमेण कथ्यन्ते तथाप्येते समन्वयात् ॥ इति ।

समन्वयात् संयोगजन्यपृथग्रूपत्वात् । न चैवं पृथग्वर्णत्वे भिक्षतीत्यादौ संयोगपरत्वविरहेण "पुगन्तलघूपधस्य च" इति गुणापत्तिरिति वाच्यम् । संयुक्तक्षकारस्याप्युपगमात् । अयं संयोगजन्यः पृथग्वर्णो व्याकरणानुक्तः । व्याकरणानुक्ता अपि दीर्घलृकारादयस्तन्त्रेऽभ्युपगम्यन्ते प्रह्लादीनां व्याकरणानुक्ताऽसंयुक्तानामपि काव्यादावुपगमात्तेन वैकल्पिकलघुत्वं पूर्वस्य । तथा च अजिह्रियत इत्यादौ "दीर्घो लघोः" इति अभ्यासस्य दीर्घत्वं स्यात् यदि काव्यस्वीकृतं लघुत्वं व्याकरणेऽप्युपगम्येत ।

नन्वेतावता क्षकारस्य किमायातमिति चेद् ? उच्यते । ककारषकाराकारजन्यत्वात् तत्राकारेण सर्वेषामचां ग्रहणम् । प्रागुपदर्शितराघवभट्टोद्धृतमतानुसारात् । ककारसकारयोः संयोगेन क्षेति भवति । अत एव सकलेत्यत्र कससंयोगेन क्षकार उपपादितो लक्ष्मीधराचार्यादिभिः । तौ च कसौ प्रत्याहारात्मकौ । कादिसान्तपर्यन्तग्राहकौ । लकारे ळकारान्तर्भावः । बिन्दौ विसर्गे वा हकारान्तर्भावः इति ककारसकाराकारैर्जन्यस्य क्षकारस्य पञ्चाशत्कलत्वमविरुद्धम् । एतदपि प्रत्याहारगृहीतस्य तदवयवत्वं नास्तीत्यभिप्रायेण । प्रत्याहारो हि संकेतमात्रमन्तर्वर्तिवर्णानाम् । अन्यथा किं हश् हल् इत्यादौ हकारानन्तरं वस्तुतोऽकारविरहाद् यकारसत्त्वात् "यवलपरे यवला वेति वक्तव्यमि"ति शासनात् कियू हश् इत्याद्याः प्रयोगाः स्युः । विसर्गो वा स्याच्छरीत्यत्र छत्वं न स्यादट्परत्वाभावात् । यदि तु प्रत्याहारगृहीतस्यापि तदवयवत्वमेव तन्त्रप्रक्रियायाम् । अत एव कलाप्रत्याहारगृहीतसर्वव्यञ्जनसमावेश इत्युच्यते तदा कसप्रत्याहारेणाकारेण च पञ्चाशत्कलत्वं क्षकारस्य वर्णान्तरत्वविरहेऽपि सूपपादमेव । तथापि वस्तुगत्या तन्त्रे क्षकारस्य वर्णान्तरत्वसत्त्वेनास्माभिस्तदुपपत्तिः प्रदर्शितेति ध्येयम् । ये पुनः कसप्रत्याहारे स्वरे वा हळयोरनन्तर्भावमिच्छन्ति तेषां सहस्रारे त्रिकोणे हळक्षाणां त्रयाणां वर्णानां विद्यमानत्वेन सर्ववर्णसंग्रहो मन्तव्यः । तत्प्रदर्शितं प्रागेव । बालाविलासेऽप्युक्तम्—

अकथादित्रिरेखाढ्ये हळक्षत्रयभूषिते ॥ इत्यादि ।

त्रिकोणीया रेखा अकारादिभिः षोडशभिः कादिभिः षोडशभिः थादिभिः षोडशभिश्च सम्पन्नाः । हकार ळकार क्षकारभूषितं च त्रिकोणमिति ।

अथवा—

यान्यकर्णादिकं क्रोधी वायुर्वह्निर्गदी रुजा।
यादवेशो मुरारिश्च कामाङ्गः कार्णकः स्मृतः॥

इत्येवं तन्त्राभिधानोक्तेः क इति वह्निः।

षः श्वेत उष्मा सूर्याग्निरजेशकालधूमकः।

इत्युक्तेः ष इति सूर्यः।

श्रीकण्ठ आद्यजो ह्रस्वो ब्रह्म चैवादिमातृका।
सुरेशश्चैव वागीशः सारस्वतो ललाटजः॥

इति मातृकानिघण्टूक्तेर्वागीशो ब्रह्मा चन्द्र एव ब्रह्मग्रन्थिरिति वक्ष्यते। वह्निसूर्यचन्द्रेषु च सर्ववर्णान्तर्भावः। सोमे स्वराः, सूर्ये कादिमान्ताः, यकाराद्या वह्नावित्युक्तं प्राक्। एतदर्थकः क्षकारो बैन्दवगृह इति पञ्चाशत्कलत्वमुपपन्नम्।

इदं तु बोध्यम्। ये नाम क्षकारस्य सर्वस्वरव्यञ्जनसंग्राहकत्वमपि नेच्छन्ति न वा क्षकारे पञ्चाशत्कलादत्त्वं मन्यन्ते तेषामपि सहस्रारे बिम्ब एकपञ्चाशत्कलत्वमस्त्येव। त्रिकोणीयासु तिसृषु रेखासु अष्टाचत्वारिंशतो वर्णानां पृथक् च हळक्षाणां विद्यमानत्वात्। आचार्यास्तु सहस्रारे विशिष्य त्रिकोणादिभावनां विनैव क्षकारं पञ्चाशत्कलं बैन्दवेभ्युपगम्य सपर्यां प्रत्यपादयन्। भावनानां संप्रदायभेदेन भिन्नत्वात् सर्वा अविरुद्धा एव। न चात्र भावनान्यूनत्वेन फलविशेषे न्यूनता स्यादिति वाच्यम्। सहस्रारगतचन्द्रबिम्बस्य श्रीचक्ररूपत्वाभ्युपगमेन तत्र बिन्दुत्रिकोणादीनां सर्वेषामपि विद्यमानत्वेन स्वमते प्रत्युत भावनाप्रकर्षस्यैव सत्त्वात्।

यथोक्तरीत्या क्षकारः पञ्चाशत्कल इति हेतोर्हरो बैन्दवगृहं हलो बिन्दुरिति प्रागुक्तमुपपन्नमित्यर्थः। अत्रापि हलो बैन्दवगृहमिति पाठान्तरं कोशान्तरे। हर इति पाठेऽपि रलयोरभेदो वा शषसर् सूत्रस्थरेफेण हर् प्रत्याहारो वा पूर्ववद् बोध्यः। तत्रापि अल्मध्ये हकाररूपो बिन्दुरुपरि सकाररूपविसर्गीयबिन्दुद्वयमध इति ह् अल् विसर्ग इत्येतेषां हल् शब्दबोध्यानां वर्णानां संनिवेशः। क्षकार एव पञ्चाशत्कल इति मतेऽपि तद्गतानां कलानामेवमेव निवेशः। बिन्दुविसर्गयोः पुंस्प्रकृतिरूपत्वं प्रागुक्तम्। भावनान्तरं तु "मुखं बिन्दुं कृत्वा" इत्यादि सौन्दर्यलहरीप्रोक्तम्।

नन्वेवं सहस्रारगतचन्द्रबिम्बस्य पञ्चाशत्कलत्वमस्तु क्षकाराश्रयत्वात्। श्रीचक्रस्वरूपताया वक्ष्यमाणत्वेन त्रिखण्डत्वात्तत्र पञ्चदशीत्रिखण्डान्तर्भावोऽपि भवतु। तथापि षोडश्याः कुत्र स्थितिरित्यत आह— **क्षकारादूर्ध्वमिति**। स्थूलदृष्ट्या क्षकारस्याज्ञाचक्रस्थत्वात्तदूर्ध्वं सहस्रारे एव श्रीदेव्या नामाक्षरम्। यन्त्रखण्डेष्वपि पञ्चाशत्कलात्मकमन्त्रगतखण्डत्रयोत्तरं तत्। सूक्ष्मदृष्ट्या तु सहस्रारबिम्बस्यापि श्रीचक्ररूपत्वात्तत्र पञ्चाशत्कलात्मकक्षकारसत्त्वात्ततोऽप्यूर्ध्वं परबिन्दौ श्रीदेव्या नामाक्षरम्। यथा श्रीचक्रात्मकषट्चक्रोर्ध्वं सहस्रारबिम्बं बिन्दुस्तथा सहस्रारबिम्बात्मकश्रीचक्रोर्ध्वं तदीयबिन्दुर्भवेत्। न च सोऽपि बिन्दुश्चन्द्रबिम्बात्मक इति तस्यापि श्रीचक्रत्वात्तत्रापि बिन्द्वन्तरान्वेषणा स्यादिति वाच्यम्। तथा सत्यनवस्थापातात्तदनभ्युपगमात्सहस्रारबिम्बात्मकश्रीचक्रबिन्दोरेव परबिन्दुरूपत्वात्। सहस्रारगतबिन्दुबिम्बं तूपगम्यते श्रीचक्ररूपेण। तत्र सुधासिन्धुमणिद्वीपादेः प्रागुपपादितत्वात्। प्रसिद्धमपीदं नामाक्षरं गुरुमुखादेवावगन्तव्यमिति कृत्वाऽऽचार्यैस्तदुद्धारो न कृत इति ध्येयम्।

अपरा व्याख्या।

संवर्त्तको नृसिंहश्च हृदयान्मुखसंस्थितः।
अनन्तः परमात्मा च वज्रकायोऽन्तिमः क्षकः॥

इति मातृकानिघण्टूक्तेः क्ष इति संवर्त्तकरुद्रस्य सर्वोपसंहारिणोऽनन्तस्य परमात्मनो वा तद्रूपस्य वाचकः। स एव बिन्दौ वर्तते इति प्रसिद्धम्। तदङ्के च कामेश्वरी वर्तते। तौ च प्रकाशविमर्शरूपौ।

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः॥
उभयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्नहमि स्फुटम्।

तस्मिन्नहमि अकारहकाराभ्यां सामरस्यमापन्नाभ्यां सर्वाः कलाः पञ्चाशद् अन्तर्गृहीता इति क्षकारः पञ्चाशत्कल इत्युक्तम्। तत एव बिन्दोस्ततश्च सर्वकलानां चोत्पत्तेस्तन्त्रेषु प्रसिद्धेश्च। कलानां सूक्ष्मरूपेणावस्थानात् सकलत्वं कामेश्वरयोरभिन्नविग्रहयोः। अत एव तमिमं सकलः शिव इत्याहुः। इतः परं यत्स्वरूपं तन्निर्गुणं निष्कलम्। एतच्चाभिहितं शारदातिलके—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ इति ।

सकलः कलासहितः । कला च पञ्चाशतः कलानामतिसूक्ष्मावस्थैव । अपि च

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्ततो बिन्दुसमुद्भवः ॥

शिवशक्तिसमरसभावात्मकाहमर्थात्सच्चिदानन्दविभवात् कलासहितात् प्रकाशविमर्शभावेन पृथग्भावमिवापद्य शक्तिरासीत् कामेश्वरः कामेश्वरी चेति । नादः समवायात्मकस्ततश्च बिन्द्वादिसमुद्भवः ।

अत्र च क्षकारः पञ्चाशत्कल इत्यनेन कामेश्वरभावमापन्नस्तत्पूर्वाहंलक्षणश्चेत्युभयमुक्तं भवति ।

क्षकारादूर्ध्वं स्यादिति । कामेश्वरभावापत्तितः अहमर्थतापत्तितश्च पूर्वं यत्सर्वोर्ध्वरूपं तदिह विवक्षितम् । तच्च निष्कलस्वरूपमेव । तदेव निर्गुणः प्रकृतेरन्य इत्युक्तम् । प्रकृतिपदेन कार्यकारणभावापत्तिरहितं स्वरूपमुच्यते । न तु सांख्याभिप्रेतप्रकृतेर्मायाया वा अन्य इति । सगुणस्यापि शिवस्य प्रकृतिभिन्नत्वात्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । तत्स्वरूपमभिहितं प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः ।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥ इति ।

विकाररहितः—कार्यकारणभाववर्जित इत्यर्थः । "न तस्य कार्यं करणं च विद्यत" इत्यादिश्रुतिवचनाच्च । यद्यपि स एव शिवः सगुणभावमापद्यते । तथापि औपाधिकमेव सगुणत्वं न तु वास्तविकमिति न सविकारत्वापत्तिः । अन्यत्रापि—

निष्क्रियं निर्गुणं शान्तमानन्दमजमव्ययम् ।
अजरामरमव्यक्तमज्ञेयमचलं ध्रुवम् ॥
ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म स्वसंवेद्यं हृदि स्थितम् ।
सत्यं बुद्धैः परं नित्यं निर्मलं निष्कलं स्मृतम् ॥ इति ।

एतदेवात्र क्षकारादूर्ध्वमित्यनेनाभिहितम् । क्षकारादूर्ध्वं हे जननि ! तव अक्षरमिति नामेति योजना । शैवाः शिव इति यत्प्राहुः तद्वस्तुतो हे देवि ! तवैव स्वरूपं तवैव तदवस्थायामक्षरमिति नाम ।

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति,
नभिहृदयं कण्ठं मूर्धा च तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति,
जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति
जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम् ।

इत्येवं ब्रह्मोपनिषदि प्रतिपादितमिदमेवाक्षरम् । चतुःशत्यां चिद्वल्ल्युद्धृतायां—

यदक्षरमहासूत्रप्रोतमेतज्जगत्रयम् । इत्युपक्रम्य
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते ॥
यदक्षरशशिज्योत्स्नामण्डितं भुवनत्रयम् ।
रविताक्ष्येन्दुकन्दर्पशंकरानलविष्णुभिः ॥
यदक्षरैकमात्रेण संसिद्धचै स्पर्धते नरः ।
वन्दे तामहमक्षय्यां मातृकाक्षररूपिणीम् ॥

इति तदेतदक्षरमेव प्रतिपादितम् । न च मातृकाक्षररूपिणीमित्यनेन सकलत्वमुच्यत इति वाच्यम् । परमाक्षरस्वरूपैव मातृका मातृकाक्षररूपमापद्यत इति तदर्थत्वात् । मातृकाक्षराणां भगवतीस्वरूपत्वात्परमाक्षरमपि भगवत्येवेति विशेषणतात्पर्यम् । कामकेश्वरतन्त्रीयचतुःशत्यामेते श्लोकाः किंचित्पाठभेदेन

यदक्षरैकमात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्धते नरः ।
रविताक्ष्येन्दुकन्दर्पशंकरानलविष्णुभिः ॥

इत्यादिकं पठितम् । तत्रापि यथोक्तमेवाक्षरम् ।

यत्तु कश्चिदेतत्तुरीयमक्षरमादाय तस्य विमर्शाख्यकामेश्वरीयुक्तपरमशिवस्वरूपत्वमभिहितं तत् तुरीयस्यैव सर्वजगदाकारेणावस्थितत्वमादायाभिहितम् । न तु तुरीयस्य तत्परमं स्वरूपम् । तथा सति तस्य सकलत्वापत्तेः ।

ननु निष्कलसकलयोर्भिन्नत्वे द्वैतापत्तिः । एकत्वे च निष्कलात्सकलमुत्पन्नमिति वक्तव्यम् । तथा च निष्कलेऽपि कला सूक्ष्मरूपेण वर्तते बीज इवाङ्कुरः इति निष्कलत्वव्याघात इति चेन्न । वेदान्तनये जीवेश्वराविद्याप्रभृतीनां षण्णामनादित्वेनाकार्यत्वेऽपि परब्रह्मणोऽनतिरिक्तत्वेनाद्वैतोपपत्तिवदस्मन्मतेऽपि सकलस्यानादिसिद्धत्वादकार्यत्वं निष्कलाभिन्नत्वादद्वैतत्वं चोपपद्यते । अत एव शारदायां

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।

इत्युभयोः सनातनत्वमभिहितम्। बहु च वक्तव्यमिहास्ति। तथापि अतिविस्तरभयाद्विरम्यते।

प्रतिपादितं चतुर्धैक्यम्। फलं च परबिन्द्वैक्यम्। सर्वोर्ध्वाक्षरस्वरूपं च। एवं विधचतुर्धैक्यादिना सपर्यां विदधतः प्रागभिहितं मणिपूरे भगवती प्रत्यक्षं तत्पूजादिकं च स्फोरयितुमारभते—**भवेत् पूजे**त्यादि। अत्र भवेदिति क्रियापदस्य स्पष्टत्वाच्चतुर्थपादे भवतीति सम्बोधनम्। हे भवति! हे भगवति! पूजाकाले चतुर्धैक्यभावनादिलक्षणसपर्यायाः समये मणिपूरं सरसिजं मणिखचितभूषाभिर्मणिखचितालङ्कारैर्निष्पन्नाः या अभितः प्रभास्ताभिर्व्यालीढं व्याप्तं भवेत्। यद्यपि मणिपूरमपि तामिस्रलोक एव। तथापि तत्र समयिनामपि भवति पूजा। कथं? वक्ष्यमाणरीत्या तत्र मणिप्रभाणां सद्भावात्। तथा च स प्रकाशलोकतुल्यत्वादुपासनाश्रयो भवेदेवेति भावः।

अथवा वाक्यद्वयमत्र। भवेदिति भवतीति च क्रियापदद्वयमेव। समयिनामपि मणिपूरे काले यथासमयं षोढैक्यभावनासमनन्तरमिति यावत् मणिखचितभूषाभिर्वक्ष्यमाणाभिः पूजा भवेत्। पत्रपुष्पादिना यद्यपि पूजा न भवति तथापि मणिखचितभूषाभिर्भवेदेवेत्यर्थः। ननु मणिपूरस्य प्रकाशलोकत्वविरहात्कथं समयिनां तत्र पूजेत्यत आह—**अभितः प्रभाभि**रिति। यद्यपि स्वयं न प्रकाशरूपं मणिपूरं, तथापि अभितः उभयतः प्रभाभिर्व्यालीढं व्याप्तं मणिपूरं सरसिजं भवतीति मिश्रलोकत्वमेव न तु तामिस्रलोकत्वमित्यर्थः। मणिप्रभयाऽनाहतोपरिस्थसूर्यप्रभया चेत्यभितः। यद्वा स्वाधिष्ठानोपरिस्थवह्निप्रभयाऽनाहतोपरिस्थसूर्यप्रभया चेत्यभितः प्रभाभिर्व्यालीढमित्यर्थः। न चैवं स्वाधिष्ठानेऽपि वह्निकिरणसंपर्कादस्ति प्रकाश इति कथं तामिस्रत्वमिति वाच्यम्। **"प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः"** इति विशेषप्रकाशस्य मणिपूरे एव संभवात्। यत्किंचित्प्रकाशस्य स्वाधिष्ठाने संभवोऽस्ति। अत एव तस्यापि मिश्रलोकत्वमेवाङ्गीकुर्वन्ति सूरयः। तथाप्यल्पप्रकाशत्वान्न प्रभाभिर्व्यालीढं भवतीति न तत्र पूजा ॥२७॥

वदन्त्येके वृद्धा मणिरिति जलं तेन निबिडं
परे तु त्वद्रूपं मणिधनुरितीदं समयिनः।
अनाहत्यानादः प्रभवति सुषुम्नाध्वजनित-
स्तदा वायोस्तत्र प्रभव इदमाहुः समयिनः ॥२८॥

कुछ आचार्य मणि का अर्थ जल बताते हैं। उससे पूर्ण होने से मणिपूर कहलाया। दूसरे आचार्य भवगती के रूप को ही मणि मानते हैं। समयमार्गी इन्द्रधनुषाकार देवी तेज को मणि मानते हैं। जब सुषुम्नामार्ग में उत्पन्न अनाहत नाद सुनने में आने लगता है तब मणिपूर में वायु का उद्भव होता है—ऐसा भी समयमार्गी कहते हैं ॥२८॥

अन्वयार्थबोधिनी

एके वृद्धा मणिरिति जलं, तेन = जलेन **निबिडं** = पूर्णं मणिपूरमिति **वदन्ति। परे तु** हे भगवति ! **त्वद्रूपमेव** मणिरिति वदन्ति। **समयिनस्तु मणिधनुः** = इन्द्रधनुराकारं त्वत्तेजो मणिरिति वदन्ति। यदा **सुषुम्नाऽध्वजनितः** = सुषुम्नामार्गोत्पन्नः **अनाहत्यानादः** = अनाहतनादः **प्रभवति** = प्रव्यक्तीभवति **तदा तत्र** = नाभौ वायोः **प्रभवः** = उत्पत्तिरिति च **समयिन आहुः** ॥२८॥

अमृतझरिका

मणिपूरे पूजा प्रस्तुता। मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः पूजाविरहस्य वक्ष्यमाणत्वान्मणिपूरमारभ्यैव पूजावर्णनमुपक्रान्तम्। तत्र ध्यानाद्युपयोगितया किंचिद्विशेषमाह—**वदन्तीति**। एके वृद्धा मणिपूरघटकस्य मणिरिति शब्दस्य वाच्यं जलं वदन्ति।

मणिस्स्वजागलस्तने मेढ्राग्रेऽलिञ्जरे रत्ने।

इति कोशवचनाद् मणिपदमलिञ्जरे प्रसिद्धम्। अलिञ्जरो नाम जलपात्रम्।

स तमादाय मणिके प्राक्षिपज्जलचारिणम्।

इति मात्स्यवचनाज्जलपूर्णमेव पात्रं मणिर्मणिकं वा। स सत्यव्रतः। तं मत्स्यम्। एवं सति मणिपदस्य लक्षणया जलार्थत्वं सुगममेव। तेन

मणिना जलेन निबिडं पूर्णं मणिपूरमिति च वदन्ति। अथवा जलं यत् तेन जलेन निबिडं पूर्णं मणिरिति वदन्ति। तदा तु जलपूर्णस्थानमेव मणिपदार्थ इति समीपतरोऽर्थः। अत्र पक्षे पूरमिति पूर्णत्वान्मणेरेव विशेषणम्। मणिपूरे जलतत्त्वमिति प्रागेव बहुधोपवर्णितम्। कथं मणिपूरे निबिडजलसमागम इति चेद्? उच्यते। अनाहतोपरिस्थितस्य सूर्यस्य किरणा अधोमुखा मणिपूरमुपगच्छन्ति। सूर्यकिरणानामधः प्रसारित्व-प्रसिद्धेः। तथा स्वाधिष्ठानगताग्निजनितधूमोऽपि मणिपूरमायाति। धूमस्योर्ध्वक्रमणप्रसिद्धेः चतुर्थचरणे दर्शयिष्यमाणवायुसंवलितौ धूम-सौरकिरणौ मणिपूरे स्वयं विद्यमानेन जलतत्त्वेन मिलितौ भवतः। तथा चेमे चत्वारो मिलित्वा मेघभावमापद्यन्ते। ततो निबिडजलरूपेण त आविर्भवन्तीति। तथा चोक्तं महाकविना कालिदासेन

"धूमज्योतिःसलिलमरुतां संन्निपातः क्व मेघः" ॥ इति।

स च मेघः स्वयं शिवरूप एव। तद्वैशिष्ट्येन तद्वदवभासमानो वा तदव-च्छिन्नस्वरूपो वा शिवो ज्ञेयः। तथा चोक्तं सिद्धघुटिकायां

मणिपूरैकवसतिः प्रावृषेण्यः सदा शिवः।
अम्बुदात्मतया भाति स्थिरसौदामिनी शिवा ॥ इति।

प्रावृषेण्य इत्यनेनाम्बुदत्वोक्तिः। न तु प्रावृषि भव इति व्युत्पत्त्या केवलं वर्षासु जायमान इति। अम्बुदात्मतया भातीत्यनेन मेघसादृश्यमात्रं प्रतीयते। सर्वथापि मेघयुक्त एव शिवः। सदेत्यस्य भातीत्यनेन सम्बन्धः। सदा भातीति। न तु प्रावृष्येव। सदाशिवशब्दाभिधेयस्तु शिवो न मणिपूरेऽङ्गीकृतः। अत्रैव मणिपूरगते मेघनाम्नि शिवे तदङ्के सौदामिनीवद् भगवती स्फुरति। परं न क्षणप्रभा किं तर्हि? शाश्वतीत्याह—स्थिर-सौदामिनीति। अत एव च मणिशब्दितजले सौदामिनीलक्षणभगवती-प्रकाशप्रतिबिम्बनाद् मणिखचितभूषाभिरभितः प्रभाभिर्व्यालीढमित्युक्तं पूर्वश्लोके। तदुक्तं सौन्दर्यलहर्याम्—

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तव श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥ इति।

कमपि मेघमिति सामान्यमेघव्युदासः। अनिर्वचनीयं कमपि मेघं शिवा-त्मकमिति। वर्षन्तमित्यनेन वर्षधारोक्तेस्तत्र निरन्तरनिपतज्जलबिन्दू-

नामवगमात्तत्प्रतिबिम्बितकिरणसमूहैस्ता धारा मणिरचितहारवत्प्रतीयन्त इति मणिखचितभूषाभिरिति पूर्वश्लोकोक्तं सूपपन्नं भवति ।

परे त्विति । परे तु वृद्धास्त्वद्रूपमेव मणिरिति वदन्ति । मणिशब्दस्य प्रभायुक्तवस्तुविशेषार्थकत्वात्तल्लक्षणेन लक्षणया भगवतीवाचकत्वोपपत्तेः । **"स्थिरसौदामिनी शिवा"** इति प्राक्प्रदर्शितप्रामाण्यानुरोधात् । विद्युद्रूपत्वे क्षणप्रभत्वं स्यात् । स्थिरत्वं तु प्रभाया मणिरूपत्वे एव घटत इति स्थिरसौदामिनीत्यत्रापि मणिरूपत्वमेव विवक्षितमिति भावः । तेन त्वद्रूपेण स्थिरप्रकाशलक्षणेन मणिना पूर्यमाणत्वान्मणिपूरशब्दप्रवृत्तिर्नाभिकमलस्येति तेषां वृद्धानामाशयः ।

मणिधनुरितीदं समयिन इति । समयिन इदं मणिपदवाच्यं मणिधनुरिति वदन्ति । मणिधनुर्मण्याकारो धनुरिन्द्रधनुः । एतदेवाभिप्रेत्य **"स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषमि"**ति सौन्दर्यलहर्यामुक्तम् । मण्याकारो धनुरित्यस्याप्यत एव मणिमालाकारे धनुषि तात्पर्यम् । इन्द्रधनुर्हि मणिमालाकारो भवति अर्धगोलत्वात् । भगवतीप्रभाया धनुराकारत्वमूर्ध्वाधोनिवेशितार्धगोलाकारकरनिवेशनेनेति प्राक् प्रतिपादितम् । किं च भगवत्याः पृष्ठप्रभा इन्द्रधनुराकारा भवति । यद्यपि प्रभापटलस्यैकरूपत्वमेवावलोक्यते । तथापि मणिप्रभासंवलनान्नानावर्णत्वं भवतीतीन्द्रधनुराकारत्वं सुघटम् । इन्द्रधनुराकारप्रभापटलमध्यवर्तित्वेन चित्रादिलेखनसंप्रदायदर्शनात् । तेन मणिधनुषा पूर्णत्वान्मणिपूरमित्यर्थः ।

अत्र परे समयिनस्त्वद्रूपमिदं नाभिकमले प्रत्यक्षीक्रियमाणं मणिधनुर्मणिधनुराकारमिति तेन मणिना निबिडं मणिपूरमिति वदन्तीत्येवमवयुत्याप्यन्वयः सुगमः । पूर्वव्याख्यायां मतत्रयम् । अस्मिन्पक्षे तु मतद्वयमेवेति विशेषः । किन्तु समयिन इत्युक्त्यैव पूर्वमताद्भिन्नत्वसिद्धौ परे त्विति व्यर्थमापद्येतेत्यतो मतत्रयतया व्याख्यानं समीचीनतरं भाति ।

ननु स्वाधिष्ठानोपरि वह्निसत्त्वादस्तु मणिपूरे तदीयधूमः । भवतु चानाहतस्थसूर्यकिरणानामपि तत्रोपस्थितिः आस्तां च मणिपूरे स्वतः सिद्धं जलतत्त्वं तथापि वायुविरहान्न मेघसंभव इत्यत आह—**अनाहत्येति ।** प्राणसंयमनध्यानयोगाभ्यासवशेन सुषुम्नाध्वजनितः सुषुम्नाया अध्वा तत्र प्राणसंचरणात्मकस्तेन जनितोऽनाहत्यानादः, अनाहतनादोऽनाहतचक्रे यदा प्रभवति प्रकर्षेणाभिव्यक्तो भवति तदा तत्र मणिपूरे वायोः

प्रभवः प्रकर्षेणोत्पत्तिः प्राकट्यमितीदमप्याहुः समयिनः। न च सुषुम्नायां प्राणसंचारः प्राणायमनापानाकुञ्चनाभ्यामेव भवतीति तदैव नाभौ समानवायूद्भवो भवतीति वाच्यम्। प्रकर्षेण तदुद्भवस्यानाहतनादोद्भवोत्तरत्वात्।

इदं तु बोध्यम्। संवित्कमलमनाहतचक्रात्मकं स्वतो वायुतत्त्वरूपम्। मूलाधारादीनां पञ्चानां चक्राणां पञ्चभूतात्मकत्वादाज्ञायाश्च मनस्तत्त्वात्मकत्वात्। एवमप्यनाहते वायुर्न निबिडरूपेण वर्तते किन्तु तत्त्वरूपेणैव। तस्य प्रकर्षेण भवनमभिव्यक्तिरनाहतनादोद्भवप्रयुक्तम्। शब्दतत्त्वोद्भवस्य स्पर्शतत्त्वोद्भावकत्वात्। एतदर्थं च योगिभिः प्राणायामादिना सह नादानुसंधानमास्थीयते तदुक्तमात्मारामयोगीन्द्रेण—

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः॥

शुद्धेति। शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिस्तस्यामित्यर्थः। श्रवणपुटादिनिरोधनमन्यत्र विशेषतोऽभिहितम् —

अङ्गुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी।
नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च॥

अन्याभ्यां मध्यमाभ्याम्। चकारेणानामिकाभ्यां मुखं प्रच्छाद्य। श्रूयते नाद इति। तदुक्तम्—

आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी
नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः।
घण्टानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो
गर्जन् पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्याः॥ इति।

ब्रह्मनाड्याः सुषुम्नायाः कुहरे च्छिद्रे यथोक्तो नादो वर्तते। चतस्रश्च तदवस्थाः।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्॥ इति।

तत्रैव—

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसंभवः।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः॥

अनाहतचक्रे योगिमते ब्रह्मग्रन्थिः। प्राणायामेन तस्य भेदो यदा भवेत्तदा आनन्दकारक इति यावत्। शून्यसम्भवः सुषुम्नाच्छिद्रसंभवो विचित्रः क्वणकोऽनाहतो ध्वनिर्देहे श्रूयत इत्यर्थः। इयमारम्भावस्था। अथ घटावस्था—

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः॥ इति।

द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणो घटीकृत्य आत्माऽपाननादबिन्दूनेकीकृत्य मध्यचक्रगो भवेत्। तथा चान्यत्र

प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात् स घट उच्यते॥ इति।

मध्यचक्रं कण्ठस्थानमिति योगिनः। नाभिचक्रमिति परे। इमामवस्थाद्वयीमिहाहाचार्यः—अनाहत्यानादः प्रभवति सुषुम्नाध्वजनितस्तदा वायोस्तत्र प्रभव इत्यनेन। ननु कण्ठस्थाने कथमपानप्राणयोरेकीभावः। अपानस्य मूलस्थितस्य कण्ठस्थानागमनासंभात्। अत एव—

"अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्"

इत्येवमपानस्योर्ध्वोत्थापनं प्राणस्य कण्ठादधोनयनं चाभिहितमात्मारामयोगीन्द्रैः। तयोर्नाभावेन संयोगश्च सूचितः

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।

इत्यपानस्य वह्निमण्डलाख्यनाभिपर्यन्तगमनोक्तेरिति चेत्? सत्यमत एवास्माभिर्नाभावेव घटावस्थां ब्रूमः। निश्वासप्रश्वासावेव प्राणापानावङ्गीकृत्य तु कण्ठे तदेकीकरणं मन्तव्यम्। न च परमात्मा न वर्तते नाभाविति वाच्यम्। भगवत्यास्तत्र प्रत्यक्षताया इहैवोपपादितत्वात्। परमात्मरूपिण्येव खलु भगवती। अत एव जीवात्मनोऽपि तत्र सत्त्वं न दुर्घटमिति।

अत्र "मनोमार्गं जित्वा मरुत" इति प्रागुक्तत्वात् प्राणायामस्य कर्तव्यताऽऽचार्यैः सूचिता। इह "चानाहत्यानादः प्रभवति यदे"त्युक्त्याऽनाहतनादश्रवणसाधनस्य नादानुसंधानस्यापि कर्तव्यता सूचिता भवति। तथा च

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तःस्थमेकधीः॥

इति सामान्योक्तं साधनमनुष्ठेयम् । अन्तःस्थं सुषुम्नान्तःस्थमपि नादं दक्षिणे कर्णे शृणुयादित्यर्थः । शांभवी मुद्रा चोक्ता—

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ इति ।

एतामेव पुनः स्पष्टतरमाह—

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥ इति ।

अस्याः मुद्रायाः शांभवीति नाम शून्याशून्यविलक्षणस्य शांभवतत्त्वस्य स्फुरणादिति चतुर्थपादलभ्यार्थः । कर्णपिधानादिकं तु प्रथमपेक्षितं बाह्यकर्म । तत्तावदेव यावदन्तर्निनादो न श्रूयतेऽवदधत इति ॥२८॥

०

तदेतत्ते संवित्कमलमिति संज्ञान्तरमुमे
भवेत् संवित्पूजा भवति कमलेऽस्मिन् समयिनाम् ।
विशुद्धाख्ये चक्रे वियदुदितमाहुः समयिनः
सदापूर्वो देवः शिव इति हिमानीसमतनुः ॥२९॥

हे उमे ! आपके इस अनाहत चक्र का संवित्कमल ऐसा दूसरा नाम है। समयमार्गी उसीं में संवित्पूजा करते हैं। समयमार्गी विशुद्धि-चक्र में आकाशतत्त्व मानते हैं और वहीं बरफ के समान स्वच्छवर्ण सदाशिव का रहना भी मानते हैं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

अनाहत्यानादो यत्रोक्तस्तदेतत् हे उमे ! संवित्कमलमिति संज्ञान्तरं नामान्तरं यस्य तत्तथाभूतं चक्रं भवेत्। अस्मिन् कमले समयिनां संवित्पूजा भवति। समयिनो विशुद्धाख्ये चक्रे = विशुद्धिपद्मे वियद् = आकाशम् उदितम् = उद्भूतमाहुः। तत्रैव हिमानीसमतनुः = हिमसंहति-गौरशरीरः सदापूर्वः शिवः = सदाशिवो देवो वर्त्तत इति चाहुः ॥ २९ ॥

अमृतझरिका

मणिपूरे पूजामुक्त्वा अनाहत्यानाद इत्यनाहतं चोपक्षिप्याधुना तत्रैवानाहते पूजामाह — तदेतदिति। यत्रानाहत्यानादः प्रभवति स वायु-प्रभवं तदेतत् ते तव भगवत्याः हे उमे ! तदेतदनाहतचक्रं तस्य संवित्क-मलमिति संज्ञान्तरं नामान्तरं भवेत्। अत्र तस्येत्यध्याहृत्य व्याख्यातम्। अथवा संवित्कमलमिति नामान्तरं यस्य तदीति बहुव्रीहिः। तदेतदित्य-न्वेति। तदेतदनाहतं चक्रं संवित्कमलनामान्तरं भवेदित्यन्वयः। अस्मिन् कमले संवित्कमले समयिनां संवित्पूजा भवति। भवेदित्यस्य पूर्वत्रान्वि-तत्वाद् भवतीति क्रियान्तरोक्तिः। द्वितीयपादे एव भवेदित्यस्यान्वये तु भवतीति सम्बोधनपदं स्यात्।

शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
अनाहताख्यं पद्मं तन्मुनिभिः परीकीर्तितम् ॥

इत्युक्तेरनाहतस्यानाहताख्यतोपपन्ना। अत्र च द्वादशदलं कमलं कादिठान्त-वर्णमयं भवति। तत्रैव वायुतत्त्वस्थितिः। ननु हृदये अष्टदलकमलमिति

योगिनां प्रसिद्धिः। तत् कथमुच्यते द्वादशदलमिति चेन्न। सर्वत्र कमले कमलान्तरसत्त्वात्। हृत्पद्मस्य कर्णिकाधोदेशेऽष्टदलकमलस्वीकारात्। तथा चोक्तं—

तन्मध्येऽष्टदलं रक्तं तत्र कल्पतरुं तथा।
इष्टदेवासनं चारु चन्द्रातपविराजितम् ॥इति।

एतदष्टदलपद्मोपरि संवित् पूजा भवति। तथा चोक्तं—

तत्र ध्यायेदिष्टदेवं तत्तत्कल्पोक्तमार्गतः ॥ इति।

ननु कीदृशी नाम संवित्पूजेति चेत्? सौन्दर्यलहर्यभिहितं हंसद्वन्द्वभजनमेवेति गृहाण। ननु सर्वत्र कमले मानसपूजनमेवेति कोऽत्र विशेषो येन संवित्पूजेति नामेति चेद्? तदपि तत्रैवोक्तं—

यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणतिः ॥ इति।

हंसद्वन्द्वं शिवशक्तियुगलं विद्याप्रयोजकमित्यतोऽत्र ध्याने विद्याप्राप्तिर्भवतीत्यतश्च संवित्कमलसार्थक्यं संवित्पूजोपपत्तिश्चेत्यर्थः। हंसयुगलपूजनमन्यत्राप्यभिहितम्—

तन्मध्ये करुणानिधानममलं हंसाभमीशाभिधम् ॥ इति।

किन्त्विदं समयैकदेशिमतम्। समयिमतं तु—

शिखिज्वालारूपः समय इह सैवात्र समया
तयोः संभेदो मे दिशतु हृदयाब्जैकनिलयः।

इति भगवत्पादोक्तयोर्दीपाङ्कुरवत् प्रतिभासमानयोः शिखिशिखिन्योः संभेदचिन्तनमेवेति परे वदन्ति। पूर्णानन्दैरप्यभिहितम्—

ध्यायेद् यो हृदि पङ्कजं सुरतरुं शर्वस्य पीठालयं।
देवस्यानिलहीनदीपकलिकाहंसेन संशोभितम् ॥ इति।

अनिलहीना निर्वातस्था या दीपकलिका तदाकारेण हंसेन संशोभितमित्यर्थः। हंसाभमीशाभिधमिति पूर्वमुक्तत्वाद् हंसः स एव शिवः। इत्थं च स एव दीपकलिकाकार इति शिखिज्वालारूप इत्यनेनैकवाक्यता। तथा सति न तत् समयैकदेशिमतं किन्त्वेकदेशवर्णनमात्रम्। न चात्र दीपकलिकाहंसेनेत्यनेन शिवो नोच्यते किन्तु जीव एव।

"आत्मा तत्र प्रदीपाभः"

इति मायातन्त्रवचनेनात्मनो जीवात्मन एव प्रदीपाभत्वोक्तेरिति वाच्यम्। हृदयकमलगतमांसपिण्डविशेषस्य दहराकाशाधारस्य मुकुलितकमलसदृश-

त्वेन दीपकलिकाकारत्वात्तद्वर्तिनो जीवस्येव शिवस्यापि दीपकलिकाकारत्वावश्यंभावात्। बिम्बप्रतिबिम्बभावाभ्यां वा मायाविद्योपाधिभ्यां वा तयोर्विशेषो न त्वाकारवैलक्षण्येन। अनेनैवोपपत्तेर्भगवत्पादवचनद्वयस्यैव परस्परभिन्नत्वेनैकस्य मतत्वमपरस्य मतैकदेशित्वमिति कल्पनाया अनौचित्यात्।

केचित्तु कुण्डलिन्या एव दशभुजतया चतुर्भुजतया वा मणिपूरे प्रत्यक्षीभूताया प्रणिखचितभूषाभिः पूजनं पाद्यादिकम्। तस्या एव हृदयकमले आनीय शेषपूजेति वदन्ति। तस्यौचित्यानौचित्ये प्रागेव विचारिते इति नेह प्रतन्येते।

उत्तरश्लोकार्धेन पूजां वक्तुं विशुद्धिचक्रस्य स्वरूपं तत्र शिवस्वरूपं चाहार्धेन **विशुद्धाख्य** इति। कण्ठस्थानीये विशुद्धिचक्रे इत्यर्थः। विशुद्ध्याख्य इत्येव कोशान्तरे पाठः। वियदाकाशतत्त्वमुदितमुद्भूतमेवेति समयिन आहुः, न पुनरनाहतनादप्रभवप्रयुक्तवायुप्रभव इवाकाशतत्त्वप्रभवः किंचिन्निमित्तक इति भावः। आकाशतत्त्वसत्त्वाच्च कण्ठे अनाहतनादः शब्द उत्पद्यते। कण्ठताल्वाद्याघातप्रयुक्तश्चाहतनादः। तद्विपरीतो हृदयेऽनाहतनाद इति।

विशुद्धिं तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महत् परम्॥

इति विशुद्धिचक्रसमाख्या। तत्र च षोडशदलं पद्मं सर्वस्वरमयानि च दलानि षोडश। तदुक्तं—

तदूर्ध्वे षोडशदलं पङ्कजं धूम्रवर्णकम्।
युक्तं शोणैः षोडशभिः स्वरैर्बिन्दुविभूषितैः॥ इति।

आकाशतत्त्वमुदितमपि तत्रैवाभिहितम्—

आरक्तकिञ्जल्कयुतं व्योममण्डलमण्डितम्॥ इति।

सदा पूर्वो देवः शिवः इतीति। सदापूर्वः शिवः सदाशिवः। न च शिवशब्दस्यैव सदापूर्वत्वं न त्वर्थस्य। न हि सदाशिवशब्दो विशुद्धिपद्मे वसतीति वाच्यम्। वाक्ये लक्षणाभ्युपगमेन सदापूर्वः शिव इति शब्दसमुदायात्मकवाक्यस्य सदाशिवेऽर्थे लक्षणोपपत्तेः। "शक्यसम्बन्धो लक्षणे"ति नैयायिकमतं नाभ्युपगम्यते। अर्थवादवाक्यानां स्तुतिनिन्दान्यतरार्थलक्षणादर्शनात्। न हि तत्रैकस्यैव पदस्य लक्षणाऽन्येषां पदानां तात्पर्यग्राहकत्वमिति

वाच्यम् । विनिगमनाविरहात् । इतरपदानां तात्पर्यग्राहकत्वं प्रथमपदे लक्षणेत्यस्यापि सुवचत्वात् । न च पूर्वपूर्वपदानां तत्तत्स्वार्थेन सहेतरार्थसम्बन्धावगमाच्चरमपदस्यैव सद्य उत्पन्नस्यागृहीतार्थस्य लक्षणया स्तुतिनिन्दाद्यर्थकत्वमिति वाच्यम् वाक्यगतसकलपदार्थोपस्थितिमन्तरा एकपदार्थस्यापरपदार्थेन सम्बन्धानुपपत्तेः । आकाङ्क्षायोग्यतातात्पर्यादीनां शाब्दबोधसहकारित्वात् । मास्तु तार्किकैः सह कलहः । अत्रापि शिवशब्दः सदापूर्व इत्युक्तेः शिवशब्दपरकः । तस्य सदाशिवार्थे लक्षणा । सदापूर्वपदं तात्पर्यग्राहकमित्यस्तु । एवमेव "**हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते**" इत्यादयोऽपि प्रयोगाः । एतेनैवंविधप्रयोगाणामसाधुत्वं ब्रुवन्तः परास्ताः ।

सदाशिवोऽत्र देवीसहितः अर्धनारीश्वरात्मको बोध्यः ।

शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम् ।

इति सौन्दर्यलहर्यामुक्तत्वात् । तथा चोक्तं—

शुक्लाम्बरेण संवीतं तत्र देवं सदाशिवम् ।
गिरिजाऽभिन्नदेहार्धं रौप्यहैमशरीरकम् ॥ इति ।

हिमानीसमतनुरिति । हिमानी हिमसंहतिः । तत्समतनुस्तद्वत्स्वच्छशरीरः सदाशिवो विशुद्धाख्ये चक्रे देव इति च समयिन आहुरिति योजना । हिमानीसमतनुत्वं चोपदर्शितागमवचने रौप्यहैमशरीरकमित्यनेन द्योतितम् । रौप्यशरीरं शिवस्य । हैमशरीरं देव्याः । न चैवं "देवीमपि शिवसमानव्यवसितामि"त्यनेन विरोधः । देव्या हैमशरीरत्वादिति वाच्यम् । एकशरीरवामाङ्गत्वेन समानव्यसितत्वोक्तिर्न तु वर्णैक्येनापीत्यनुपपत्तिविरहात् ।

या गौरी लोकमाता च शम्भोरर्धाङ्गहारिणी ।

इति निर्वाणतन्त्रोक्तेः । स्पष्टं तत्रैव सर्वं—

यन्त्रमध्ये च वृषभं महासिंहासनं ततः ।
तस्योपरि सदा गौरीदक्षभागे सदाशिवः ॥
त्रिनेत्रः पञ्चवक्त्रश्च प्रतिवक्त्रत्रिलोचनः ।
विभूतिभूषिताङ्गश्च रजताचलसोदरः ॥ इत्यादि ।

सदागौरीति सदाशिवशब्दवन्न प्रयोगः । अपि तु सदा वर्तमानगौरीति नित्यस्थितिकथनमर्धाङ्गहारित्वद्योतनाय । रजताचलसोदर इत्यनेन हिमानीसमतनुत्वमुक्तं भवति ॥२९॥

तदीयैरुद्योतैर्भवति च विशुद्धाख्यसदनम्
भवेत् पूजा देव्या हिमकरकलाभिः समयिनाम् ।
सहस्रारे चक्रे निवसति कलापञ्चदशकं
तदेतन्नित्याख्यं भ्रमति सितपक्षे समयिनाम् ॥३०॥

सदाशिव एवं सदाशिवा के प्रकाश से विशुद्धचक्र प्रकाशित होता है। समयमार्गी यहाँ चन्द्रकलाओं से देवीपूजन करते हैं। आज्ञाचक्र में पञ्चदश कलाएँ रहती हैं। ये ही नित्या कहलाती हैं। समयमार्गियों के मत में ये नित्यायें शुक्लपक्ष में भ्रमण करती हैं ॥३०॥

अन्वयार्थबोधिनी

तदीयैः = सदाशिवसम्बन्धिभिः **उद्योतैः** विशुद्धाख्यसदनमुद्योतितं भवति। **समयिनामत्र देव्याः पूजा हिमकरकलाभिः** = चन्द्रकलाभिर्भवेत्। **सहस्रारे चक्रे** = तत्समीप आज्ञाचक्रे इत्यर्थः, **कलापञ्चदशकं निवसति। तदेतद् नित्याख्यं** = नित्येतिनामकं कलापञ्चदशकं **समयिनां** समयिमते **सितपक्षे भ्रमति** ॥३०॥

अमृतझरिका

पूर्वश्लोकोत्तरार्धे विशुद्धिचक्रमुपक्षिप्तम्। तत्र देवीपूजामाह—**तदीयैरिति।** तदीयैरर्धनारीश्वरसदाशिवसम्बन्धिभिरुद्योतैः प्रकाशैः। त्वदीयैरिति पाठान्तरम्। विशुद्धाख्यसदनं भवति उद्योतितं भवतीत्यर्थः। अथवा उद्योतैर्हेतुभिः पूर्वोक्तं चक्रं विशुद्धाख्यसदनं भवतीति योजना। तस्य विशुद्धिर्यथोक्तोद्योता एवेति भावः। समयिनां तत्र पूजा हिमकरकलाभिर्भवेत्। चन्द्रकलाभिः सहिताया देव्या इति वा चन्द्रकलाभिः पूजा भवतीति वा योजना। विशुद्धिचक्रे चन्द्रकला वक्ष्यन्ते। चन्द्रकिरणेष्वेव रत्नहारभावं कृत्वा पूजाऽत्र कार्या न तु बाह्यपूजेत्येवमन्ये व्याचक्षते।

ननु विशुद्धिचक्रे हिमकरकलाः कुत आयाताः? न हि तत्र चन्द्रस्यास्तित्वमित्यत सहस्रारे चक्र इति। सहस्रारे चक्र इतिपाठस्तुचिन्त्यः। विशुद्धिचक्रानन्तरमाज्ञाचक्रे वर्णनीये कथमकस्मात् सहस्रारचक्रवर्णनं

प्रक्रान्तमिति। अपि च सहस्रारे चक्रेऽपरं चन्द्रबिम्बं वक्ष्यते—"सहस्रारे चक्रे शिशिरमहसो बिम्बमपरमि"ति। अपरं बिम्बमाज्ञाचक्रस्थबिम्बाद-परं बिम्बमित्यर्थः। तत्र षोडशी एकैव कलेति कथं तत्र कलापञ्चदश-कोक्तिसंगतिः? तस्मादत्र स्रहक्षारे इति पाठ एव युक्तः। हकारक्षकारे-त्यक्षरद्वययुक्तारद्वयवतीत्यर्थः। आज्ञाचक्र इति यावत्। तथा च सौन्दर्य-लहर्यां—

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशतकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोकेऽलोके निवसति हि भालोकभुवने॥ इति।

एतत्स्वरूपं च वर्णितमन्यत्र—

तालुकण्ठं प्रविश्योर्ध्वं भ्रूयुगान्ते सितं शुभम्।
द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां मनोऽधिष्ठतमम्बुजम्॥ इति।

आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वं तु शुक्लं द्विदलमण्डितम्।
कर्बूर हक्षलक्षितं मनोऽधिष्ठितरञ्जितम्॥ इति च।

लक्ष्मीधराचार्यास्तु आज्ञायां द्विदलं चक्रं न मेनिरे। चक्रशब्देन साध-कस्य भ्रूमध्यान्तरगतश्रीचक्रान्तर्गतशिवचक्रचतुष्टयं कथ्यते, न तु द्विदलं पद्मं, तवेति पदानन्वयादिति तदुक्तेः। एवमुत्तरत्रापीति वदन्तस्ते मणि-पूरादावपि तदनुरोधेन श्रीचक्रान्तर्गतमन्तर्दशारं बहिर्दशारं मन्वश्रं चैवोपगच्छति। **तत्रेदं चिन्त्यम्।** श्रीचक्रगतचक्रैर्मूलाधारादिचक्राणा-मैक्यमात्रं, न तु तान्येवात्र चक्राणि। तथा सति षट्चक्रश्रीचक्रयोरैक्यस्य षोढैक्यचतुर्धैक्ययोरन्तर्गतस्य चिन्तनानर्थक्यापत्तेः। वस्तुतः श्रीचक्रीय-चक्रातिरिक्तचक्रविरहेणैक्यचिन्तनविषयानुपपत्तेः। न च षट्चक्रमुप-गच्छत एव तवपदानन्वयेन श्रीचक्रीयचक्राणामत्र वर्णितानां स्वीकार इति वाच्यम्। श्रीचक्रषट्चक्रयोरैक्येन तवेति पदान्वयोपपत्तेः। तावता तदन्वयोपपत्त्यनभ्युपगमे पृथक् श्रीचक्रीयचक्राणां तत्राविद्यमानत्वादेव भवन्मतेऽपि तवेति पदानन्वयस्य दुर्धरत्वात्। तस्माद् यत्रकुत्रापि मूला-धारादिशब्दप्रयोगस्तत्र योगिप्रसिद्धषट्चक्रस्यैवोपादानम्। व्याख्या पुनः स्वीयतन्त्रानुसारेण स्यात्। यथा योगिनां स्वाधिष्ठाने जलं मणिपूरेऽग्निः। स्वीयतन्त्रे स्वाधिष्ठानेऽग्निः मणिपूरे जलमिति। केचन विशेषा अपि।

यथा डाकिन्यादीनां तंत्र तत्र वर्णनमुपलभ्यत इति। तस्मादाज्ञाचक्रं हक्षवर्णयुगलयुक्तं द्विदलमेव। तथा मणिपूरादावपि यथावर्णितमेवेति। न च द्विदलस्य चक्राकारत्वविरहान्न चक्रत्वमिति वाच्यम्। त्रिकोणादीनामपि तदा चक्रत्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्। भूपुरत्रयस्य चतुरश्रात्मकत्वाच्चक्रत्वं दूरनिरस्तं स्यात्।

अस्य चक्रस्याज्ञेति नाम कुत इत्याकाङ्क्षायां गौतमीयवचनम्—

आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम्॥ इति।

तस्य चाज्ञाचक्रस्य द्विदलत्वं सर्वत्र प्रसिद्धमेव।

आज्ञायां विद्युदाभायां शुभौ हक्षौ विचिन्तयेत्॥

इति दक्षिणामूर्तितन्त्रे। मायातन्त्रेऽपि—

आज्ञाख्यं द्विदलं शुभ्रं कर्णिकायां मनोलयम्॥

इति। एवमन्यत्रापि। अस्यैव मनःस्थानत्वमपि। दर्शितप्रमाणेष्वेव तस्यापि तत्रास्तित्वावलोकनात्। मनस एवाज्ञास्वीकर्तृत्वाद् गुरोराज्ञासंक्रमणमत्रैव चक्रे भवति। परमशिवः परमशिवा च तत्र चक्रे वर्तेते

परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।

इत्युपदर्शितसौन्दर्यलहरीवचनात्। परं शम्भुमिति परमशिवः। परचित् परमशिवा। उक्तं च ताराषोढान्यासाधिकारे

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
ततः परशिवो देवि षट् शिवाः परिकीर्तिताः॥

इत्युपक्रम्य तत्तन्न्यासमभिधाय च

आज्ञाचक्रे तु देवेशि हक्षवर्णसमन्वितम्।
परं शिवं ब्रह्मरूपं हाकिनीसहितं न्यसेत्॥ इति।

मूलाधारे ब्रह्मा शिवस्यैव स्वरूपविशेषः। स्वाधिष्ठाने विष्णुरूपः शिवः। मणिपुरे रुद्ररूपः शिवः। हृदये ईश्वररूपः शिवः। विशुद्धौ सदाशिवाख्यः शिवः। आज्ञायां तु परशिवः। स एव परमशिव इत्यप्युच्यते। न च सहस्रारे परमशिवस्थितिप्रसिद्धिः परमशिवपर्यङ्कनिलयत्वेन देव्यास्तत्र तत्रोक्तेरिति वाच्यम्। कामेश्वरादेस्तत्र विवक्षितत्वात्। परशिवपरमशिवौ पृथग्रूपौ वा भवताम्। परशिवपदेनाज्ञाचक्रस्य उच्यते। परमशिवपदेन कामेश्वर इति। अयं सहस्रारस्थपरमशिवस्यांशरूपत्वेन परशिव इत्यपि

वदन्ति। यद्यपि अन्येऽपि शिवा अंशरूपा एव। तथापि तेंऽशरूपा अपि तत्तद्रूपेणोत्पद्यन्ते। आज्ञास्थस्तु नोत्पद्यते। किन्तु परमशिवस्यैवांशात्मा सिद्धवदवतिष्ठत इति तदाशयः।

आज्ञाचक्रोपरिसदेशे चन्द्रस्थानम्। तत्रैकं चन्द्रबिम्बम्। तस्यैव कलापञ्चदशकम्। तदिदमाह—निवसति कलापञ्चदशकमिति। एतदेव कलापञ्चदशकं विशुद्धिचक्रे षोडशदले वर्तते। कलानां नामानि दर्शादृष्टा-प्रभृतीनि प्रागेवास्माभिः प्रदर्शितानि।

तदेतन्नित्याख्यमिति। तदेतत् कलापञ्चदशकं नित्या इत्याख्या यस्य तत्। पञ्चदशकला नित्या इत्युच्यन्त इत्यर्थः। नित्यानां नामानि **"तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरीत्यादिना** वामकेश्वरादिवचनेन प्रागेव दर्शितानि।

नन्वाज्ञाचक्रस्थचन्द्रविम्बस्य कलारूपास्ताः कथं विशुद्धिचक्रे? तत्राह—**भ्रमतीति**। आज्ञाचक्रस्थचन्द्रविम्बगता अपीमाः कलाः नित्याख्या विशुद्धिचक्रे व्यक्तीभवन्तीति हेतोर्भ्रमन्तीव ताः। न च कलानां चन्द्रतादा-त्म्यापन्नत्वात्कथमाज्ञाचक्रस्थानां विशुद्धौ व्यक्तीभाव इति वाच्यम्। विशुद्ध्याज्ञयोरुभयोरपि चन्द्रखण्डत्वात्तत्रापि तदस्तित्वेनोपपत्तेः।

त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्।

इत्युक्तत्वात्। षट्चक्रेऽपि तुल्यत्वेव विशुद्ध्याज्ञयोर्द्वयोश्चन्द्रात्मक-त्वात्। तथापि विशुद्धावेव कलाभिव्यक्तिरिति नाज्ञायां तत्प्रकाश इत्युक्त-मावर्तते। षोडशारे चक्रे पञ्चदशसु दलेषु पञ्चदशकलानां विभागेनावस्था-नम्। षोडशे दले तु सहस्रारगतचन्द्रकलायाः प्रतिबिम्बमात्रम्। अत एव तस्यास्त्रिपुरसुन्दरीस्वरूपत्वमिति प्रागवोचाम।

इदं तु बोध्यम्। समयिनाममावास्यां परित्यज्य सर्वासु तिथिषु सर्वासां नित्यानां पूजनं विशुद्धौ भवति। कौलानां त्वेकैककलापूजनं प्रति-पदादाविति भ्रमतीत्येतस्य तन्मते समुपपत्तिः। किं च समयिनामपि षोडशारे प्रागादिक्रमण षोडशदिक्षु षोडशानां पूजनं भवतीति हेतोः परि-भ्रमणमिव भवतीति भ्रमतीत्युक्तम्। न पुनरेकैकाः कलाः स्वं स्वं दलं परित्यज्यापरमपरं दलं प्रविशन्त्यो भ्रमन्तीत्युच्यन्ते। तत्तत्कलानां तत्तद्-लस्थितेर्निश्चितत्वेन दलान्तरप्रवेशानुपपत्तेः। किं च शुक्लपक्षप्रतिपदि प्रथमा कला दर्शे सूर्यान्निर्गता कृष्णप्रतिपदि पुनः सूर्ये प्रविष्टा। एवं

द्वितीयाद्याः दृष्टाद्याः कलाः द्वितीयादिषु शुक्लपक्षतिथिषु सूर्यान्निर्गत्य पुनः कृष्णपक्षद्वितीयादिषु सूर्ये प्रविशन्तीत्यतोऽपि भ्रमतीत्युक्तम्। न चैवं कलानां वृद्धिक्षयवत्त्वान्नित्यात्वं नोपपद्यत इति वाच्यम्। निर्गमप्रवेशमात्रोपगमेव नित्यात्वभङ्गाभावात्।

नन्वेवं सितपक्षे सूर्यान्निर्गत्य चन्द्रमागच्छन्ति। कृष्णपक्षे चन्द्रात्सूर्यं प्रतिनिवर्तन्त इति भ्रमणमुभयोः पक्षयोः समानमिति चेन्न। न हि प्रतिनिवर्तनं भ्रमणमित्युच्यते। किन्तु निर्गमनमेवेति भ्रमति सितपक्ष इत्यस्योपपत्तेः तत्तत्तिथिषु तत्तत्कलानां विशेषाभिव्यक्त्यपेक्षा वा भ्रमणोक्तिः ॥ ३० ॥

कलायाः षोडश्याः प्रतिफलितबिम्बेन सहितं
तदीयैः पीयूषैः पुनरधिकमाह्लादिततनुः ।
सिते पक्षे सर्वास्तिथय इह कृष्णेपि च समाः
यदा चामावास्या भवति नहि पूजा समयिनाम् ॥३१॥

जो पञ्चदश कलायें बतायीं वे षोडशी कला के प्रतिबिम्ब के साथ सोलह हो जाती हैं। उस षोडशी कला के अमृत से साधक आनन्द निमग्न होता है। शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष में तिथियाँ समान हैं। हाँ, कृष्णपक्ष में अमावास्या को समयमार्गी पूजा नहीं करते ॥३१॥

अन्वयार्थबोधिनी

नित्याख्यं कलापञ्चदशकं यद् भवति तत् **षोडश्याः कलायाः** सहस्रार-स्थायाः **प्रतिफलितबिम्बेन सहितं भवति।** तथा च षोडशसंख्याकं स्यात्। **तदीयैः**=षोडशीकलासम्बन्धिभिः **पीयूषैः** उपासकः **पुनरधिकमाह्लादित-तनुर्भवति।** **इह**=विशुद्ध्याज्ञयोः पूजाप्रसङ्गे **सिते**=शुक्ले **पक्षे कृष्णेऽपि च तिथयः समाः** समानाः। तथापि कृष्णे विशेषः।**यदा ह्यमावास्या** तदा **समयिनां पूजा नहि भवति** ॥ ३१ ॥

अमृतझरिका

पूर्वश्लोके कलापञ्चदशकमित्यनेन पञ्चदशानामेव कलानामुक्तत्वाद् नित्यानां च त्रिपुरसुन्दरीप्रभृतीनां षोडशसंख्याकत्वात् कथं कला एव नित्याख्या इति शङ्कां शमयन् षोडशीं कलां दर्शयति पादेन—**कलाया** इति। षोडशी कला न विशुद्धौ विद्यते। न वाऽऽज्ञाचक्रस्थचन्द्रबिम्बे। तथापि सहस्रारे वर्तमाना या षोडशीकला तदीयप्रतिबिम्बेन षोडश-संख्यापूरणम्। तदिदमाह—कलायाः षोडश्याः सहस्रारस्थायाः प्रति-फलितबिम्बेन प्रतिबिम्बेनेत्यर्थः। सहितं सत् कलापञ्चदशकं भ्रमतीति पूर्वेण सम्बन्धः। एषैव दर्शा कलेत्युक्यते। सा तन्त्रान्तरेऽमानाम्नी कला। तच्च स्पष्टीभविष्यति।

तत्र प्रतिपदि दर्शा त्रिपुरसुन्दरी कला। इयं च प्रतिपत्प्रातः-कालीना। पूर्वदिने या अमावास्या सा परदिने प्रातः प्रतिपद् भवति

प्रायः । पूजा च निशि चरमभागे इति वक्ष्यतेऽनुपदम् । तत्र प्रातःकालस्योत्तरदिनेन सहैक्यप्रत्ययात्प्रतिपत्संज्ञा । सूर्योदयमारभ्य द्वितीयदिवससूर्योदयात्प्रागेका तिथिरिति दर्शने तु अमावास्यैव सा भवति । अत एव तन्त्रान्तरेऽमासंज्ञात्वं स्वीयतन्त्रवेदप्रसिद्धामावास्यावाचकदर्शसंज्ञात्वं चोपपद्यते । न तु वस्तुतः प्रतिपन्नेव दर्शः । ईषद्दर्शनात् प्रतिपदेव दर्श इति मतमनुपादेयमेव । अग्रिममूलविरोधाच्च । तथापि प्रतिपत्प्रभृतय इति सांप्रदायिकैः क्वचिन्नामनिर्देशात्तदनुरूपेण परिगणयामः । वस्तुतः अमादितिथय एव मन्तव्याः । यदा चामावास्या तदेति यदातदयोः प्रयोगादमावास्यातिथिकालावच्छेनेनैव समयिनां पूजाभावः अमावास्याविगमे प्रातःकाले तु भवत्येवेति ज्ञेयम् ।

प्रतिपदि अमा प्रातःकाले दर्शा त्रिपुरसुन्दरीकला ध्येया । द्वितीयायां दृष्टा कामेश्वरी कला ध्येया । तृतीयायां दर्शता भगमालिनी कला ध्येया । चतुर्थ्यां विश्वरूपा नित्यक्लिन्ना कला ध्येया । पञ्चम्यां सुदर्शना भेरुण्डाख्या कला ध्येया । षष्ठ्यामाप्यायमाना वह्निवासिनी कला ध्येया । सप्तम्यामाप्यायमाना महाविद्येश्वरीकला ध्येया । अष्टम्यामाप्याया रौद्री कला ध्येया । नवम्यां सूनृता त्वरिता कला ध्येया । दशम्याम् इरा कुलसुन्दरी कला ध्येया । एकादश्यामापूर्यमाणा नीलपताका कला ध्येया । द्वादश्यामापूर्यमाणा विजया कला ध्येया । त्रयोदश्यां पूरयन्तो सर्वमङ्गला कला ध्येया । चतुर्दश्यां पूर्णा ज्वाला कला ध्येया । पञ्चदश्यां पौर्णमासी मालिनी कला ध्येया । पौर्णमास्युत्तरचरमरात्रौ चित्राकला ध्येया । इदं तु बोध्यम् । या दर्शा त्रिपुरसुन्दरी कला ध्येया प्रतिपदीत्युक्तं सा सर्वत्रानुवर्तत इति । कुतः ? सहस्रारषोडशीप्रतिबिम्बस्य सर्वेषु दलेयु समानरूपेण प्रतिफलायमानत्वात् । अमारात्रिचरमभागेऽन्यकलानामभावात्तु सा एकैव ध्यायते पूज्यते च । यद्यपि समयिनां सर्वासामेव कलानां सर्वासु तिथिषु पूज्यत्वमङ्गीक्रियते । तथापि वैशेष्येण ध्येयत्वं तत्तन्नाम्नीनां तत्तत्तिथिष्वेव ।

एवंविधया पूजया किं स्यादित्युच्यते—तदीयैरीति । तदीयैः षोडशीसम्बन्धिभिः पीयूषैः पुनरधिकं तद्दर्शनेनैवाह्लादो भवति ततोऽप्यधिकमित्यर्थः । आह्लादिततनुः । आप्लावितततनुरिति पाठान्तरम् । अमृताप्लावनादाह्लादस्य स्वत उपपत्तेर्नार्थभेदः । सहस्रारं प्रकृत्याभिहितं पूर्णानन्दैः—

अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य सा षोडशी
शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तुशतधाभागैकरूपा वरा।
विद्युत्कोटिसमानकोमलतनूर्विद्योतिताऽधोमुखी
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा ॥ इति।

यद्यपीयं कला मतान्तरे एकस्यैव चन्द्रस्य याः पञ्चदशकलाः ततः परा षोडशी अमानाम्नी। तथाप्यस्माकं मते शिशिरमहसो बिम्बमपरमिति वक्ष्यमाणत्वादपरस्यैव चन्द्रबिम्बस्य दिव्यस्येयं कला। सा व्यापिकाप्यविद्यासमाच्छादिता। तन्निष्पन्ना चेतराः पञ्चदशकला भवन्ति।

इदं पुनरिहावधेयम्। मनस्तत्त्वं जित्वा यदा पश्यति परां तदैव तस्य भगवतीस्फुरणेन परमानन्दरसानुभूतिर्भवति। तथापि न तावतैव कृतार्थतेत्यतो मनोमार्गं जित्वेत्यादिना योगप्रक्रियाश्रयणमभिहितम्। यद्यपि साध्यसाधनभावेनास्माभिस्तत्र व्याख्यातम्। तथाप्यकृतयोगानामपि भगवतीदर्शनानन्दोपलब्धिदर्शनात् सयोगानामधिकानन्दरसोद्भूतिरितिरीत्यैव ज्ञेयम्। अकृतयोगानां भक्तानामुपासकानां सामान्यतः प्रत्यक्षम्। कृतयोगानां विशेषतः प्रत्यक्षमिति। अत्र पुनरधिकमिति विशेषणदर्शनात्। तथा चात्र सामान्योपासकानां षोढैक्यादिसपर्यावतां मणिपूरादौ दर्शनमभिधाय विशेषमुपादायेदमाह–तदीयैः पीयूषैरित्यादि। तथा चात्र निर्गलितोऽयमर्थः—षोडशारमाज्ञाचक्रं च चन्द्रस्थानम्। तदधो द्वादशारं मणिपूरपर्यन्तं सूर्यस्थानम्। सपर्यया योगाभ्यासेन च समयिनः सूर्यं सूर्यस्थाने चन्द्रं च चन्द्रस्थाने स्थापयन्ति। मणिपूरानहतयोः पूजा प्रागुक्ता। ततो विशुद्ध्याज्ञयोः पूजा समभिहिता। ताभ्यां पूजाभ्यामेवैतत् संपाद्यम्। तादृशपूजाविरहवतां साधारणजनानां तु देवयानपितृयानाभ्यामिडापिङ्गलाभ्यां सूर्याचन्द्रमसोः संचरणं भवति। संचरतोस्तयोश्चन्द्रः षोडशीगलत्पीयूषधारा आदाय नाडीमार्गं स्रावयति। सूर्यस्तु तेन स्राव्यमाणानमृतकणान् हरति। संचरतोः सूर्याचन्द्रमसोर्यदाऽऽधारचक्रे समावेशस्तदाऽमावस्या तिथिः कृष्णपक्षात्मिका भवति। तत्र च चन्द्रमसो विलयाद्विपरीतमुखत्वाद्वाऽमृतमपश्यता सूर्येण न तदाहरणसंभव इति मूलाधारे स्रवत्यमृतं चन्द्रः। तद् भुञ्जाना कुलकुण्डलिनी तत्र सुखं स्वपिति।

यदा महायोगिसमयी सपर्यया सूर्यं सूर्यस्थाने चन्द्रं च चन्द्रस्थाने निरुणद्धि तदा तौ सूर्याचन्द्रमसौ अमृतस्रावणेतद्धरणे चासमर्थौ भवतः।

तदा च वायुप्रेरितेन स्वाधिष्ठानवह्निना कुलकुण्डे शुष्कीभूते निराहारा कुलकुण्डलिनी प्रबुद्धा भवति। सा च क्षुत्क्रुद्धा सती ग्रन्थित्रयं भिन्दाना ऊर्ध्वं क्रामति। ततश्च सहस्रदलकमलं प्राप्य दशति चन्द्रमण्डलम्। तस्मात्ततः पीयूषधाराः गलितुमारभन्ते। ताश्च गलत्पीयूषधारा आज्ञाचक्रोपरिस्थितचन्द्रमण्डलमाप्लावयन्ति। तस्माद् गलितधाराभिश्च कृत्स्नां तनुमाप्लावयन्ति। तदा च समयी परमाह्लादिततनुर्भवति। तदुक्तं—

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः ।
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः ॥ इति ।

प्रागुदाहृतवाक्येभ्यश्च—

तदुद्भवामृतं देवि लाक्षारससमायुतम् ।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम् ॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र संतर्प्यामृतधारया ॥ इत्यादिभ्यः ।

अभिहितं संक्षेपेण प्राग्। सनत्कुमारसंहितादौ विस्तरः। अग्रे स्वयमाचार्याश्च विवरीष्यन्ति। तथापि प्रसङ्गात् किंचिदुक्तम्।

भवेत् पूजा देव्या हिमकरकलाभिः समयिनामित्युक्तम्। तत्र हिमकरकलाः कदा कदा वर्तन्ते यतः पूजेत्यत इदमुच्यते—सिते पक्ष इति। इह पूजाप्रक्रमे सिते पक्षे शुक्लपक्षे सर्वास्तिथयः प्रतिपदाद्याश्चतुर्दशीपर्यन्ताः पौर्णमासी पञ्चदशी इति सर्वास्तिथयो यथा वर्तन्ते ताः कृष्णेऽपि कृष्णपक्षेऽपि समास्तुल्याः। प्रतिपदाद्याः चतुर्दशीपर्यन्ताः दर्शश्च पञ्चदशीति। तथापि पञ्चदश्यां पूर्णिमायां पौर्णमासी कला वर्तते। न तु कृष्णपञ्चदश्याम्। अतस्तिथिसारूप्येऽपि कलाविरहाद् यदा चामावास्या तदा समयिनां पूजा न भवति। तथा च पूजाविरहादेव तद्दिने सूर्याचन्द्रमसोः स्वस्वस्थाने रोद्धुमशक्यत्वात्कुण्डलिनोप्रबोधोऽपि भवितुं न शक्नोति।

केचित्तु सर्वा अपि शुक्लपक्षतिथयः पौर्णमासीसंज्ञकाः सर्वाः कृष्णपक्षतिथयोऽमावास्यासंज्ञकाः। इत्थं च शुक्लपक्षे एव कुण्डलिनीप्रबोधोऽपि संभवति न तु कृष्णपक्ष इति वदन्ति।

नन्वस्मिनपक्षे कृष्णपक्षेऽमावास्यायां कुलकुण्डे चन्द्रविलयेऽपि अन्यासु तिथिषु विलयविरहाच्चन्द्रस्य ततो दूरगमनात् कथं चन्द्रेणामृतैः कुण्ड-

पूरणम्। दीर्यसाम्याच्च शुक्लपक्षेऽपि कुतो न कुण्डपूरणमिति चेन्न। शुक्लपक्षे कुण्डानभिमुखाश्चन्द्रकलाः, किन्तु सूर्याभिमुखा इति स्रुतस्य हरणं सूर्येण। कृष्णपक्षे तु कुण्डाभिमुखाश्चन्द्रकला न तु सूर्याभिमुखा इति स्रवतोऽमृतस्य सूर्येणानाहरणात्कुण्डे पात इति क्रियमाणेऽपि प्राणायामे न कुण्डशोषणं पुनश्चन्द्रस्रवदमृतेन परिपूरणात्। न वा क्षुत्क्रुद्धा भवति कुण्डलिनीति न कृष्णपक्षे तदुद्बोधसंभव इति तेषामाशयः।

नन्वेवमपि कृष्णपक्षे चन्द्रकलानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात् कथं न पूजा कृष्णपक्षे। अमावास्यामात्रे कलाया अदर्शनेन पूजाविरहस्योपपन्नत्वादिति चेन्न। द्वितीयादिषु तिथिषु दर्शताप्रभृतीनां कलानां पूजाया नियतत्वाद् या कला शुक्लपक्षद्वितीयायां सूर्यान्निष्पद्यते पूज्या सैव कृष्णपक्षे द्वितीयायां विलीयत इति कस्याः पूजा भवेत्? तत्तत्तिथौ पूज्यत्वेन नियताया अन्याः कलाः कामं बह्व्योऽवतिष्ठन्तां, किं तेन भवेत्? न हि वरत्वेनाभिमतविरहेऽन्येषां बहूनामपि यूनामुपस्थितिः समर्था भवितुमर्हति विवाहे। वधूत्वेनाभिमताया लोपेऽन्यासां बह्वीनामपि कन्यानामुपस्थितिश्च। तद्वत् कृष्णद्वितीयायां पूज्यायाः कामेश्वर्या विलये भगमालिनीनित्यक्लिन्नाप्रभृतयो बह्व्यो वर्तन्तां, किं तेन भवेद्। व्युत्क्रमेण पूजोपगमेऽप्यष्टम्यनन्तरं तुल्या गतिः भवेदिति नास्ति पूजा कृष्णपक्षे इति।

वस्तुतस्तु नेदं मतं सम्यगवभाति। तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी" इत्येवं पञ्चदशनित्याः प्रक्रम्य "एता नित्यास्तु षोडश" इति परामृश्य—

> प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णमास्यन्तमर्चयेत्।
> एकादिवृद्ध्या हान्या च दर्शान्तं देविविग्रहम्॥

इत्येवं शुक्लपक्षे एकद्वित्रिक्रमेण वृद्ध्या कलानामर्चनम्, कृष्णपक्षे षोडशसु कलासु एकद्वित्रिक्रमेण हान्या प्रतिपत्प्रभृतिषु कलानां पञ्चदशचतुर्दशादिसंख्याकानां पूजनं वशिष्ठसंहितायामभिहितम्। तथा सति कृष्णपक्षे पूजा नास्तीति मतं शास्त्रविरुद्धम्। वृद्धिहानिभ्यामर्चनमपि कौलमतानुसारेण। समयिमते तु सर्वासामेव सर्वासु तिथिष्वर्चनं विद्यत एव।

ननु दर्शान्तं देविविग्रहमिति वचनादमावास्यायामपि पूजा प्राप्ता। न च दर्शा कला प्रतिपद्येव न तु अमावस्यायामिति वाच्यम्। तथा सति एकादिहान्या दर्शान्तमित्यस्यानर्थक्यापत्तेः। न हि कृष्णपक्षः शुक्लप्रतिपदि समाप्तिं गच्छतीति कस्याप्यभिमतमिति अत्र दर्शशब्दस्यागत्याऽ-

मावास्यापरत्वावश्यकत्वात्। तथा च सति "यदा चामावस्या भवति न हि पूजा समयिनामि"त्येतदयुक्तं वच इति चेन्न। दत्तप्रायत्वादुत्तरस्य। अभिहितं हि प्रागेव षोडशीकला नित्याव्यापिनी चेति सर्वाभिः सह तस्या अपि पूजा कौलमतेऽपि भवत्येवेति। सा च षोडशीकलाऽमावास्यायामपि वर्तत इति तत्पूजा स्वतः सिद्धैव। सहस्रारे कमले षोडश्याः पूजा समयिनां नित्यमेव भवति। तत्प्रतिबिम्बस्य कण्ठगतविशुद्धिचक्रेऽप्यलोपात्तत्रापि तत्पूजा भवत्येव। इतरासां पञ्चदशानां विलयेऽपि अमानाम्न्या दर्शायाः षोडशीप्रतिबिम्बरूपाया विशुद्धौ लयविरहात्। न हि समयिनोऽमावास्यायां पूजामकुर्वाणा एव तिष्ठन्तीति शिष्टप्रतिपन्नम्। कुण्डलिन्युद्बोधप्रयोजकपूजाविशेषो नास्त्यमावास्यायामिति रहस्यम्।

नन्वेताः कला नित्यास्वरूपा देव्य एव। तथा सति भवेत्पूजा देव्या हिमकरकलाभिरिति कथमुपपद्यते। न हि देव्याः पूजा देवीभिरेव शक्यते कर्तुम्। मैवम्। न हि पञ्चदशैव चन्द्रस्य कलाः। इमाः पञ्चदश मुख्या नित्यारूपाः कलाः।

षोडशेन्दोः कला भानोर्द्विर्द्वादश दशानले।

इति शास्त्रप्रसिद्धाः। इतोऽप्यतिरिक्ताः कलाः किरणशब्दवाच्याः प्राग् दर्शिताः

अष्टोत्तरशतं वह्नेर्द्वादशोत्तरकं रवेः
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य च मरीचयः। इति।

एता अपि संवत्सरसंपादनोपयिकाः किरणविशेषा एव। एभ्योऽप्यन्ये किरणाः कोटिशः सन्तीति न पूजासामग्रीभूतकलानामनस्तित्वशङ्का। यदि पुनर्हिमकरकलाभिरित्यत्र पञ्चदशकलानामेव विवक्षेत्याग्रहस्तदा सहार्थे तृतीया बोध्या ॥३१॥

अतः शुक्ले पक्षे प्रतिदिनमहस्त्वां भगवतीं
निशायां सेवन्ते निशि चरमभागे समयिनः ।
शुचिः स्वाधिष्ठाने रविरुपरि संवित्सरसिजे
शशी चाज्ञाचक्रे हरिहरविधिग्रन्थय इमे ॥३२॥

इसलिये शुक्लपक्ष में समयमार्गी प्रतिदिन दिन उगने पर आपकी पूजा करते हैं। और कृष्णपक्ष में रात को चौथे प्रहर में। स्वाधिष्ठान के ऊपर अग्निमण्डल, अनाहत के ऊपर सूर्यमण्डल और आज्ञा के ऊपर चन्द्रमण्डल रहते हैं। इन्हीं को रुद्रग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और ब्रह्मग्रन्थि भी कहते हैं ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

अतः शुक्ले पक्षे प्रतिदिनं समयिनः त्वां भगवतीम् अहः = रात्र्यवसाने सेवन्ते। निशायां = कृष्णपक्षे च ते समयिनः निशि चरमभागे = चतुर्थयामे त्वां सेवन्ते। स्वाधिष्ठाने उपरि शुचिः = अग्निर्वर्त्तते। संवित्सरसिजे = अनाहतचक्रे उपरि रविर्वर्त्तते। आज्ञाचक्रेचोपरि शशी वर्त्तते। इमे एव हरि-हर-विधिग्रन्थयो भवन्ति—रुद्रग्रन्थिर्विष्णुग्रन्थिर्ब्रह्मग्रन्थिश्चेति क्रमेण त्रयो भवन्ति। हरश्च हरिश्च हरिहरौ। "द्वन्द्वे घि" इति हरेः पूर्वनिपातः। हरिहरौ च विधिश्चेति विग्रहः ॥ ३२ ॥

अमृतझरिका

अत्र पूजायामपि विशेषमाह—अत इति। यदा अमावास्या तदा पूजाभावात् शुक्ले पक्षे समयिनस्त्वां भगवतीं प्रतिदिनमहर्दिवसे भजन्ते। अन्धकारसमये पूजाविरहाद् यदाऽरुणोदयो भवति तदा पूजा क्रियते। अरुणोदये सत्येवामावास्याप्रभावविरहाद्दर्शकलायाः पूजा सत्यामप्यमावास्यायां भवितुमर्हति। एतावन्मात्रेण चाहः इत्युक्तम्। न तु सायंकाले चन्द्रोदये सति पूजा भवतीत्यत्र तात्पर्यम्। पूर्णमास्यां सूर्यास्तमय एव चन्द्रोदयसंभवेन दिवसे पूजाविरहप्रसङ्गेन शुक्ले पक्षे प्रतिदिनमह इत्युक्तेरनुपपत्तिप्रसङ्गात्। प्रतिदिनमित्यत्र पूर्णमासीवर्जमिति संकोचे प्रमाणाभावात्। पूजाकालस्यात्यन्तवैषम्यानुपपत्तेश्च। अर्धैकघटिकान्तरमात्रं

तु घटते। तथा च यस्मिन् दिवसेऽमावास्या तदीयरात्र्यवसानेऽरुणोदये सति दर्शकलापूजा भवति। अरुणोदयेन दिवसान्तरप्रत्ययात् प्रतिपत्तिथिरिति प्रतीतेः **"प्रतिपत्प्रभृतौ देव्या"** इति च वचनसंगतिः। वस्तुतः प्रथमदिवससूर्योदयमारभ्य द्वितीयदिवससूर्योदयात्प्राक् एकमेवाहोरात्रमिति दर्शत्वेन च व्यवहारार्हमिति **"दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च"** इत्यस्यापि संगतिः।

निशायामिति। निशाद्या दर्शाद्या इत्यत्र दर्शाद्यपदं शुक्लपक्षपरं निशाद्यपदं कृष्णपक्षपरमिति व्याख्यातम्। तदनुरोधेनात्रापि निशायामित्यस्य कृष्णपक्ष इत्यर्थः। अत एव निशायां निशीति पदयोर्न पौनरुक्त्यम्। **निशि चरमभाग** इति। कृष्णपक्षे रात्रौ चरमभागे चन्द्रकला वर्तत इति प्रसिद्धम्। यद्यपि चतुर्दश्यां तिथौ सूर्योदयाद् द्विघटिकापूर्वमेव चन्द्रोदयो भवति तावच्चारुणोदयोऽपि भवत्येव। तथापि सामान्यतो निशिचरमभाग इत्यभिहितम्। चतुर्दशीमारभ्यैवारुणोदये सति पूजाया युक्तत्वात्। तथा च कृष्णपक्षे प्रातःकालेऽरुणोदयात्किंचित्पूर्वमेव शक्यते पूजा कर्तुम्। शुक्लपक्षे पुनररुणोदये सतीत्येतावन्मात्रो विशेषः। न त्वत्यन्तवैषम्यम्।

प्रतिदिनमिह त्वामिति पाठान्तरम्। इह विशुद्धिचक्रे सर्वेऽपि समयिकौलादयः शुक्लपक्षे निशायां चन्द्रकलोदयानन्तरं निशायां सेवन्ते। तत्र विशेषः—समयिनस्तु **निशिचरमभाग** इति। अयं भावः। श्रीचक्रपूजनं सर्वेषां प्रतिदिनं भवत्येव। किन्तु विशुद्धिचक्रपूजनं शुक्लपक्ष एव। तत्रापि कौलानां रात्रौ यदाकदापि। समयिनां रात्रेश्चरमभाग एव इति विशेषः।

अयं श्लोकः क्वचित्कोशे **तदीयैरुद्योतैरित्यादि तदेतन्नित्याख्यं भ्रमति सितपक्षे समयिना**मित्यन्तश्लोकानन्तरं पठितो दृश्यते। तदा चतुर्थपादोक्तार्थ एव अत इति पदेन हेतुत्वेन परामृष्टः। यतः सिते पक्षे नित्या भ्रमन्ति अतः शुक्ले पक्षे एव ताभिः कलाभिर्भगवतीं सेवन्त इति।

इयं च सपर्या कुण्डलिनीप्रबोधनौपयिकी। तत्प्रबोधश्च तदीयैः पीयूषैः पुनरधिकमाह्लादिततनुरित्यनेनानुपदं सूचितम्। यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशादित्यादिना चतुर्थश्लोके प्रतिपादितं च। तत्रामृतस्रावणश्चन्द्रः। अमृतहरणः सूर्यः अमृतशोषणो वह्निरित्येतत्सर्वमुपपादितम्। कुत्रायं वह्निर्वर्तते। क्व च सूर्याचन्द्रमसौ संचरत इत्यादिजिज्ञासामधुनाऽवसरेण शमयितुमारभते—**शुचिः स्वाधिष्ठाने रविरुपरीत्यादि**।

उपरीत्यस्य त्रिभिः सम्बन्धः। स्वाधिष्ठाने स्वाधिष्ठानचक्रे उपरि। स्वाधिष्ठानचक्रस्याऽव्यवधानेनोपरीत्यर्थः। एतदर्थलाभाय षष्ठीमप्रयुज्य सप्तम्याः प्रयोगः। शुचिरग्निमण्डलं वर्तते। संवित्सरसिजे उपरि हृदयगतानाहतचक्रस्याव्यवधानेनोपरि रविः सूर्यमण्डलं वर्तते। आज्ञाचक्रे उपरि आज्ञाचक्रस्याऽव्यवधानेनोपरि शशी चन्द्रमण्डलं वर्तते। इमे शुचिरविशशिन एव हरहरिविधिग्रन्थयो भवन्ति रुद्रग्रन्थिः, विष्णुग्रन्थिः, ब्रह्मग्रन्थिरित्याख्यायन्त इत्यर्थः।

अयमत्रार्थः—षट्चक्रमध्ये मूलाधारस्वाधिष्ठानात्मकचक्रद्वयमेकं खण्डम्। मणिपूरानाहतात्मकचक्रद्वयं द्वितीयं खण्डम्। विशुद्धयाज्ञात्मकचक्रद्वयं तृतीयं खण्डम्। तत्र प्रथमखण्डोपरि अग्निस्थानं वर्तते। स एव रुद्रग्रन्थिरित्युच्यते।

"अग्निर्वै रुद्रः।" इति शतपथे।

अथ यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो भवति।
धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः॥ इति तत्रैव।

रुद्रः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, उशनिः, भवः, महादेवः, ईशान इति अष्टनामानन्तरं कुमारनाम चाभिधाय तत्रैवाभिहितं

तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि, कुमारो नवम इति।

संवर्ताग्निरूपेण प्रसिद्धश्च रुद्र इति अग्निमण्डलस्य रुद्रात्मकत्वं युक्तमेव। तेन च स्वकिरणैर्मूलाधारस्वाधिष्ठानयोर्ग्रंथनाद् ग्रन्थिरित्युच्यते।

द्वितीयखण्डोपरि यत् सूर्यस्थानं स विष्णुग्रन्थिरित्याख्यायते। सूर्यस्य विष्णुरूपत्वात्। तथा चोक्तम्—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः॥ इति।

सूर्यस्य विष्णुरूपत्वे वा सूर्ये विष्णोः स्थितौ वा सर्वथापि विष्णोरादित्यमण्डलस्थाने सत्त्वाद् विष्णुग्रन्थित्वं सुघटमेव। शातपथी तु श्रुतिः स्पष्टमाह—

स यः स विष्णुर्यज्ञः सः
स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः॥ इति।

एतमेव विष्णुं प्रस्तुत्य ज्यायां छिन्नायां विष्णोर्मस्तकपतनं चाभिधाय

"तत्पतित्वाऽसावादित्योऽभवत्"

इति तत्रैवाभिहितम्। तद् विष्णुशिरः। एवमादित्यस्य विष्णुरूपत्वाद् "आदित्यानामहं विष्णुरि"ति गीतावचनेन मुख्यविष्णोरादित्यस्य किरणैश्चक्रद्वयग्रन्थनाच्चादित्यस्थानस्य विष्णुग्रन्थित्वं युक्तमेव।

तृतीयखण्डोपरि चन्द्रस्थानं स ब्रह्मग्रन्थिरित्यभिधीयते। ब्रह्मणः पुत्रोऽत्रिस्ततश्चन्द्रमाऽभवदिति चन्द्रस्य ब्रह्मरूपत्वम्।

"प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः प्रजापतिर्वै महान् देवः"

इति शतपथब्राह्मणोक्तेः।

"स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः"

इति कोशेष्वभिधानात् प्रजापतिर्ब्रह्मैव।

"सोमो वै प्रजापतिः।"इति च शातपथे।

स च स्वकिरणैराज्ञाविशुद्धयोर्ग्रथनाद्ग्रन्थिरिति चोच्यते।

ननु—"क्षितौ षट्पञ्चाशद् द्विसमधिकपञ्चाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपञ्चाशदनिले"

इति सौन्दर्यलहर्यामभिहितम्।

अष्टोत्तरशतं वह्नेः षोडशोत्तरकं रवेः।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य च विनिर्णयः॥

इति भैरवयामलोक्तेः क्षितिजलयोरेव संख्यापूर्तिदर्शनात् कथं मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरग्निना ग्रन्थनम्। स्वाधिष्ठानस्य वस्तुतो वह्नितत्त्वात्मकत्वात्। एवं सूर्येणापि न मणिपूरानाहतयोर्ग्रन्थनसंभवः। मणिपूरे जलतत्त्वस्वीकाराद् हुताशानिलगतकिरणसंयोजने सत्येव षोडशोत्तरसंख्योपपत्तेरिति। तथा चाग्निर्मूलाधारं मणिपूरं च बध्नाति सूर्यः स्वाधिष्ठानमनाहतं च ग्रथ्नातीति वक्तव्यम्। तथा सति मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरग्निखण्डत्वं मणिपूरानाहतयोः सूर्यखण्डत्वमित्यादि प्रसिद्धिरपि निर्धूता स्यात्। मूलाधारं त्रिकोणं स्वाधिष्ठानमष्टकोणमित्यादि क्रमोऽपि भज्येत मन्त्रषट्चक्रैक्यादिकमपि न संगच्छेतेति बहुविप्लवः प्रसज्यत इति चेद्? सत्यम्। तृतीयखण्डेऽप्ययमस्ति विप्लवः। सूर्यकिरणानामेव चन्द्रप्रविष्टानां कलात्वात्। दर्शप्रतिपदि सूर्यान्निःसृत्य चन्द्रे प्रविष्टा शुक्लपक्षे, कृष्णपक्षे

तु चन्द्रान्निर्गत्य सूर्ये प्रविशतीत्यादिरीत्या पञ्चदशकलानां प्रवेशनिर्गमयोः प्राग् व्याख्यातत्वात्। तथा चाज्ञाचक्रस्थे चन्द्रमसि सूर्यकलास्ता एव च विशुद्धौ षोडशारे इति सूर्येण ग्रथितत्वं वक्तव्यम्। अस्तु तर्ह्ययमपि दोष इति चेन्न। यतो न हि किरणप्रवेशमात्रेण तदीयखण्डत्वम्। किन्तु द्वयोर्द्वयोश्चक्रयोरेकैकेन वह्निप्रभृतिनाऽधिष्ठानात्तत्तत्खण्डत्वमित्येव रीतिः। किरणास्तु यथायोग्यं तत्र तत्र प्रविशन्त्येव। खण्डद्वयस्य परस्परं योजनाद् ग्रथनाद् ग्रन्थित्वमस्तु। न चैवं चन्द्रस्य ब्रह्मग्रन्थित्वं न स्यात्, षण्णां चक्राणां पूर्णत्वादिति वाच्यम्। सहस्रारस्याग्रे सत्त्वात्। न च प्रत्येकखण्डे द्वयोर्द्वयोः परस्परग्रन्थकविरहात्तयोर्विश्लेषः स्यादिति वाच्यम्। अग्न्यादीनामेव तत्रापि ग्रन्थकत्वात्। सूत्रवदुत्तरत्रापि तत्प्रसारात्। अत एव आग्नेयखण्डः सौरखण्डश्चान्द्रखण्डश्चेति नामानि। तत्रापि स्वाधिष्ठानोपरि यो वह्निस्तस्य स्वाधिष्ठानस्थवह्नितत्त्वे किरणप्रसारणवैयर्थ्यान्मूलाधारे पृथिव्यां मणिपूरे जले च प्रसरः। सूर्यकिरणानामनाहते मणिपूरे जले प्रतिबिम्ब्य स्वाधिष्ठानाग्नितत्त्वे प्रसरः। तथा कलारूपेणाज्ञाविशुद्ध्योरपि प्रसरः। चन्द्रस्याज्ञायां विशुद्धौ च प्रसरः। न च सहस्रारेण ग्रन्थनाभावः। सहस्रारगतकलानां चन्द्रे प्रसरोपगमात्। न च चन्द्रे सूर्याद्वा सहस्रारबिम्बाद्वा कलागम इत्यनिर्णय इति वाच्यम्। सहस्रारादेव कलाः सूर्यमागत्य ततश्चन्द्रे प्रवेशात्। भगवतीचरणकिरणानामेव सर्वत्र प्रकाशमानताया उक्तत्वात्।

सदाशिवेन संपृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतीरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवाः शिवे॥
किरणाश्च सहस्रं च द्विसहस्रं च लक्षकम्।
कोटिरर्बुदमेतेषां परा संख्या न विद्यते॥
तामेवानुप्रविश्यैव भाति लोकं चराचरम्।
यस्या देव्या महेशानि भासा सर्वं विभासते॥
तद्भासारहितं किंचिन्न च यच्च प्रकाशते।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिद्रूपायाश्चितिं विना॥
आन्ध्यमापद्यते नूनं जगदेतच्चराचरम्।
तेषामनन्तकोटीनां मयूखानां महेश्वरि॥

मध्ये षष्ट्युत्तरं तेभ्यो त्रिशतं किरणाः शिवे।
ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते सोमसूर्यानलात्मना ॥

इत्यादिभैरवयामलवचनात्।

ब्रह्माण्डं भासयन्तस्ते पिण्डाण्डमपि शंकरि।

इति तत्रैवोक्तेर्ब्रह्माण्डे स्थूलाः किरणाः षष्ट्युत्तरशतत्रयम्। पिण्डाण्डे सूक्ष्माः। ब्रह्माण्डानां पिण्डाण्डानां चानन्तत्वात् किरणानामप्यानन्त्यमनुक्तसिद्धमपि एतदतिरिक्तानामपि असंख्यकिरणानां सूचनार्थमेतेषां परा संख्या न विद्यत इत्युक्तम्। सर्वथापि अग्न्यादीनां ग्रन्थिरूपेण खण्डयोर्मध्ये सूत्ररूपेण खण्डषटकस्थानयोर्मध्ये च विद्यमानत्वादेकसूत्रग्रथितत्वं ग्रन्थित्वं चोपपन्नमेवेति ॥३२॥



इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ
तमस्याधारे तौ यदि तु मिलितौ सा तिथिरमा ।
तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं रविनिभं
दृढव्यालीढं सद् विगलितसुधासारविसरम् ॥३३॥

सूर्य और चन्द्र इडा तथा पिंगला नाडियों में विचरण करते हैं। जब वे मूलाधार तमस् में मिल जाते हैं तब अमावास्या तिथि होती है। तब आज्ञाचक्रस्थ चन्द्र सूर्य से आच्छादित होकर सूर्यसमानरूप हो जाता है तो मूलाधार में अमृत प्रस्रवण होता है ॥३३॥

अन्वयार्थबोधिनी

तौ = संवित्कमलाऽऽज्ञाकमलस्थानौ सूर्यशशिनौ इह—शरीरे इडायां= वामनाड्यां पिङ्गल्यां = पिङ्गलायां = दक्षिणनाड्यां च चरतः = संचारं कुरुतः । आधारे=मूलाधारे तमसि यदि तु=यदा तु तौ मिलितौ भवतः सा तिथिरमा भवति । तदा=तस्मिन् समये आज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं= चन्द्रबिम्बं रविणा दृढव्यालीढं=रविग्रस्तं रविनिभं रविसमानस्वरूपमापन्नं सत् कुलकुण्डे विगलितसुधासारविसरं=प्रस्रुतसुधारसं भवति ॥३३॥

अमृतझरिका

एवमग्नेः स्थानं सूर्याचन्द्रमसोश्च स्थाने अभिहिते, यत्राग्नेः प्रज्वलनं सूर्याचन्द्रमसोर्निरोधश्च कर्तव्यः सपर्यादिना । अधुना कुण्डलिनीप्रसुप्तिहेतुं सूर्यचन्द्रसंचरणादिकं तन्निरोधस्य कुण्डलिनीप्रबोधौपयिकत्वाद्विवृणोति- इडायामिति । मूलादारभ्य ग्रीवापर्यन्तव्यापि पृष्ठास्थि मेरुरित्युच्यते । तस्य वामे भागे इडा नाम नाडी । दक्षिणे भागे पिङ्गला नाम नाडी । तदुक्तं भूतशुद्धौ

मेरोर्वामे इडा दक्षे पिङ्गला च स्थिते उभे ॥ इति ।

अनयोः स्वरूपमभिहितं योगार्णवे —

इडा च शङ्खकुन्दाभा तस्याः सव्ये व्यवस्थिता ।
पिङ्गला सितरक्ताभा दक्षिणं पार्श्वमास्थिता ॥ इति ।

ते च मूलादृजुरूपेणाज्ञाचक्रं गत्वा नासारन्ध्रमायात इति यामलमतम् ।

इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे ।
ऋज्वीभूते शिरे ते च वामदक्षिणभेदतः ।
सर्वपद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते उभे ॥

इति तत्रोक्तत्वात् । अन्ये तु तयोर्धनुराकारत्वमाहुः । तथा चोक्तं—

विद्धि ते धनुराकारे नाडीडापिङ्गले परे ॥ इति ।

अनयोश्च चन्द्रसूर्यरूपत्वं यदुक्तं संमोहनतन्त्रादौ—

वामगा या इडा नाडी शुक्लचन्द्रस्वरूपिणी ।
शक्तिरूपा हि सा देवी साक्षादमृतविग्रहा ।
दक्षे तु पिङ्गला नाम पुंरूपा सूर्यविग्रहा ।
रौद्रात्मिका महादेवी दाडिमीकेसरप्रभा ॥

इति, तत्तु चन्द्रसूर्ययोः संचरणमार्गत्वेन लक्षणया ज्ञेयम् ।

पद्मासनगतो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयत् ॥

इत्येवं योगिभिरप्युक्तिलाघवायैव चन्द्रेण सूर्यणेत्येवं निर्देशः कृतः । चन्द्रसूर्यनामत्वाद्वा । न तु वस्तुतस्तौ चन्द्रसूर्यौ । चन्द्रे चन्द्रस्य सूर्ये सूर्यस्य संचरणायोगात् । पृथक्चन्द्रत्वसूर्यत्वकल्पनावैयर्थ्याच्च ।

एतत्प्रसङ्गेन सुषुम्नापि निरूप्यते । तत्र—

"मेरुदण्डबहिः पार्श्वे चन्द्रसूर्यात्मिके शिरे ।
मध्ये सुषुम्णा"

इति मायातन्त्रवचनान्मेरुमध्ये सुषुम्नानाडीति बहवः । तन्त्रचूडामणि-प्रभृतिषु तु

मेरोर्वामे स्थिता नाडी इडा चन्द्रामृता प्रिये ।
दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः ॥
तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुता ।

इत्येवं मेरोर्बाह्यप्रदेशे एवेडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णास्थितिरुक्ता । धनुराकारतयः इडापिङ्गलयोः स्थितिपक्षे द्वयोः स्थानयोः इडापिङ्गला-सुषुम्णानां संयोगो भवति । ध्वजमूले आज्ञायां च । तथा चोक्तम्—

इडायां यमुनादेवी पिङ्गलायां सरस्वती ।
सुषुम्णायां वसेद्गङ्गा तासां योगस्त्रिधा भवेत् ॥
संगता ध्वजमूले या विमुक्ता भ्रू वियोगतः ।
त्रिवेणीयोगः स प्रोक्तस्तत्र स्नानं महाफलम् ॥

एतदेव विवृत्यान्यत्राभिहितं

वाममुष्कात्तु संभूता नाडी दक्षिणगामिनी ।
सुषुम्णाकलिता जाता वामभागं समाश्रिता ॥
हृद्गता दक्षभागस्था जत्रुमध्यं समाश्रिता ।
वामं तु नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजेऽमले ॥
नाडी दक्षिणमुष्कात्तु संजातोत्तरगामिनी ।
सुषुम्णा कलिता जाता भागं दक्षिणमाश्रिता ॥
हृद्गता वामभागस्था जत्रुमध्यं समाश्रिता ।
दक्षिणं नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजेऽमले ॥

तथा हि इडा वाममुष्कादारभामाणा दक्षिणाभिमुखं गत्वा ध्वजमूले सुषुम्णया संयुङ्क्ते । ततो दक्षिणाभिमुखीभूयोर्ध्वं गच्छति हृदयपर्यन्तम् । हृदये सुषुम्णातो दूरव्यवहिता । ततः पुनर्दक्षिणाभिमुखं वक्रीभूय जत्रुपर्यन्तं गत्वाऽऽज्ञायां सुषुम्णया संयुङ्क्ते । ततो विश्लिष्य वामनासिकां प्रविशति । एवं पिङ्गलापि दक्षिणमुष्कादारभ्य ध्वजमूले सुषुम्णया संयुज्य पुनर्वामाभिमुखं हृदयपर्यन्तं, ततो वक्रीभूय दक्षिणं जत्रुमाश्रित्या-ज्ञायां सुषुम्णया संयुङ्क्ते ततो दक्षिणनासिकायां विश्लिष्य प्रविशतीति । उपासकानामधिकचिन्तनस्यानुपयोगादत्र न विस्तरेण प्रतिपाद्यत इति ।

तौ संवित्कमलोपर्याज्ञाचक्रोपरि च प्रदर्शितौ सूर्यशशिनौ इह साधारणतया सर्वेषां शरीरे इडायां यथाप्रदर्शितायां पिङ्गल्यां पिङ्गलायां च चरतः । पिङ्गशब्दस्य सिध्मादित्वाल्लच्प्रत्यये सति टापि पिङ्गलेति रूपं भवति । पिङ्गं लातीति विग्रहेऽपि तथैव रूपम् । "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्यये टाप एव संभवात् । तथापि पिङ्गं लीयतेऽस्यामिति विग्रहे पिङ्गलीशब्दनिष्पत्तिः कर्तव्या । चरन्तौ च तौ यदि तु यदा हीत्यर्थः । न त्वत्र संशये यदिशब्दः । चरतोर्मेलनावश्यंभावात् । तमसि तामिस्र-लोकरूपे आधारे मूलाधारचक्रे मिलितौ भवतः सा तादृशकलात्मिका तिथिरमाऽमावास्या भवति ।

तत्र किं भवतीत्युच्यते—तदेति । तदा तस्मिन्नमावास्याकाले आज्ञाचक्रस्थमाज्ञाचक्रोपरिस्थं शिशिरकरबिम्बं चन्द्रबिम्बं संचरत् सद् मूलाधारं प्राप्य रविनिभ रविसरूपं भवति । कुतः ? दृढव्यालीढं सद् । अर्थाद् रविणैव । मूलाधारे रविणा दृढव्यालीढं ग्रस्तमाच्छादितं सदि-त्यर्थः । रविविभादृढव्यालीढमिति पाठः समीचीनो भाति । अमायां

रविचन्द्रयोरत्यन्तसंयोगाद्रवौ चन्द्रलयः प्राग् दर्शितः। अमा न मीयते चन्द्रो यस्यां तिथौ सा सूर्ये चन्द्रलयादिति व्युत्पत्त्या सोऽर्थः सिध्यति। अमेत्यव्ययं साकमित्यर्थे। अमा सूर्येण साकमत्यन्तसन्निकर्षेण तत्सम्बन्धित्वादमावास्येति शब्दः। ननु—

अमा षोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला।
संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी॥

इति स्कान्दे प्रभासखण्डवचनादमीयमानत्वार्थोऽयुक्तः। एतद् रघुनन्दनो व्याचष्ट—"**चन्द्रमण्डलस्य षोडशभागेन परिमिता परिमिताऽऽधारशक्तिरूपा क्षयोदयरहितत्वान्नित्या स्रक्सूत्रवत् सर्वानुस्यूता अमानाम्नी महाकला प्रोक्ते**"ति। सत्यम्। अत्रैव सहस्रारकमलचन्द्रमण्डलवर्ती नित्या षोडशी कला। सैवांशरूपेण मूलाधारे आधारशक्तिरूपेण वर्तते। षोडश्या एव सर्वानुस्यूताया पञ्चदशकला आज्ञाचक्रचन्द्रस्थाः सत्यः परिवर्तन्ते। ता एवामावास्यातिथौ सूर्ये प्रविलीयन्ते। तथा चोभयमुपपन्नं नित्या कला सर्वानुस्यूता षोडश्यमेति न मीयन्ते पञ्चदशकला अस्यामिति च। प्रागुपपादितं चास्माभिः पूर्णमास्यां सूर्यचन्द्रयोस्त्रिंशद्घटिकादूरस्थितत्वममावास्यायां चात्यन्तसंन्निकर्ष इति। तथा च सहार्थसन्निकर्षार्थावप्यमाशब्दस्य युज्येते।

कालमाधवीये पुनरेतच्छ्लोकव्याख्यायां तिथिद्वैविध्यं साधितम्। तदुक्तं "**एवं चात्र सामान्यविशेषरूपेण तिथिद्वैविध्यमुक्तं भवति, तत्र येयममेत्युक्ता क्षयोदयवर्जिता ध्रुवा षोडशीकला तद्युक्तः कालस्तिथिसामान्यम्। यास्त्ववशिष्टा वृद्धिक्षयोपेताः पञ्चदशकलास्ताभिर्विशिष्टकालविभागस्थितिविशेषः**" इति। अयं भावः। अमा तिथिः सामान्यरूपा सर्वाभिस्तिथिभिः सह वर्तते। तस्या एव विशेषाः प्रतिपदादयः। यदा विशेषा न भवन्ति तदा सामान्यमात्रं वर्तते। स चैकदिवसात्मक एव कालो मासे। अन्येषु दिवसेषु तिथ्यन्तरसद्भावाद्। यथा घटादिविशेषभावमापन्ना मृदेव घटादिप्रागभावध्वंसयोः काले सामान्येन मृद्रूपेण वर्तते। अन्यदा घटादिविशेषभावेन सह तद्वदिति।

अमायां सूर्यचन्द्रयोः सन्निकर्षे सति किं स्यादित्युच्यते—**विगलितेति**। सुधाया आसाराणां धारासंपातानां यो विसरः समुदायः स विगलितो येन तत्तादृशम्। कुलकुण्डे सुधासारविसरं प्रस्रावयतीत्यर्थः। तथा च तस्यामृतस्य प्रस्वादनेन परितृप्ता मत्ता च भुजगी तत्रैव कुलकुण्डे सुखं

स्वपितीति भावः। न च सूर्यस्तदमृतं हृत्वा शोषयिष्यतीति वाच्यम्। सूर्यविमुखत्वात्तदा चन्द्रमसः। न हि स्वमुखविपरीतमुखकमण्डलुप्रस्रवज्जलं स्वयं जनाः पातुं प्रभवन्ति कमण्डलुमुखसांमुख्ये एव तत्पानसंभवात्। अमावास्यायां प्रस्नुतामृतेनैव मासपर्यन्ता कुलकुण्डलिन्यास्तृप्तिः।

परे तु कृष्णपक्षः कृत्स्न एव अमावस्या। चन्द्रश्च कृष्णपक्षे सूर्यविमुख एव भवति इति पञ्चदशदिवसपर्यन्तं कुलकुण्डे तेनामृतप्रस्रवणं भवति। तत्परिपानतृप्ता सती शेषपञ्चदशदिवसपर्यन्तमपि सुखं स्वपती शेत इत्याहुः।

एतत्सर्वमाध्यत्मिकाधिभौतिकयोरमावास्याद्योरैक्याभिप्रायेण। केचित्पुनराधिभौतिकौ शुक्लकृष्णपक्षौ मासपर्यन्तौ चरमा च तिथिरमावस्या। अध्यात्मं पुनः सूर्यचन्द्रनाड्योः संचरणे शुक्लकृष्णपक्षौ। उभयसंचरणेऽर्थात् सुषुम्णासंचरणे पूर्णिमा। उभयासंचरणे अमावस्या। तदा न कुण्डलिन्युत्थानम्। पूर्णिमायामेव कुण्डलिन्युत्थानमिति व्याचक्षते।

ननूपदर्शितस्कान्दवचनेऽमैव षोडशी कला। सैव चाधारशक्तिरित्युक्तं, रघुनन्दनेन तथैव व्याख्यानात्। न च मूलश्लोक आधारशक्तित्वं नोक्तमिति वाच्यम्। देहधारिणीति विशेषणेन तदर्थलाभात्।

पृथिवी विश्वस्य धारिणी

इति श्रुतेर्मूलाधारे पृथिवीतत्त्वोपगमात्तत्रैव देहधारकशक्तिसिद्धेः। तस्या एव कुण्डलीस्वरूपत्वादिति चेन्न। आधारशक्तेः षोडश्यंशमात्ररूपताया अस्माभिरुपपादनात्। न चांशन्वेऽपि तत्रामृतं स्यादेव, फलैकदेशेऽपि फलरसवदिति वाच्यम्। अंश इवांश इति व्याख्यानात्। प्रतिबिम्बकल्पः किलांश इति। अन्यथा शिवेन तस्या नित्यसंबद्धत्वात्तदुद्बोधनोर्ध्वनयनशिवमेलनादिकमनर्थकं स्यात्।

"सर्वं शक्तिमयं जगत्"

इत्युक्तेः सर्वस्य शक्तिमयत्वेऽपि न विशेषतोऽमृतम्। सामान्येन त्वमृतेन सर्वस्य जीवनं भवति। तथा च षोडश्यमृतविगलनेनैव कुण्डलिन्यास्तृप्तिः। तत्र सहस्रारस्थितामृतप्रस्रावकं तु चन्द्रबिम्बमाज्ञाचक्रस्थम्। तत्पुनः सूर्यो हरत्यन्यतिथिषु। कुण्डलिन्युत्थानानन्तरं तु कुण्डलिनीदशनेनामृतप्रस्रवणम्। तत्तु न कोऽपि हरतीति तेन सकलदेवतातृप्तिः सर्वनाडीपरिपोषणं चेति वक्ष्यते ॥३३॥

महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीप्लाविततनुः
प्रशुष्यद्वै नाडीप्रकरमनिशं प्लावयति तत् ।
यदाज्ञायां विद्युन्नियुतनियुताभाऽक्षरमयी
सिता विद्युल्लेखा भगवति विधिग्रन्थिमभिनत् ॥३४॥

हे भगवती ! जब करोड़ों बिजलियों की प्रभा से युक्त, मातृकाक्षरमयी, श्वेतवर्णा कुण्डलिनी आज्ञाचक्र में आकर ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है तब वह सहस्रार में स्थित चन्द्रबिम्ब के अमृत से सारे शरीर को सराबोर करती है और बहत्तर करोड़ नाड़ियों को और षट्चक्र को भी सराबोर करती है ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे **भगवति !** **यदा** **विद्युन्नियुतनियुताभा** = सहस्रकोटिविद्युत्समानप्रभा **अक्षरमयी** = मातृकामयी **सिता** = श्वेता **विद्युल्लेखा** = कुण्डलीनी **आज्ञायाम्** = आज्ञाचक्रे समागत्य **विधिग्रन्थि** = ब्रह्मग्रन्थिम् **अभिनत्** = भिनत्ति **तत्** = तदा **महाव्योमस्थेन्दोः** = सहस्रारगतचन्द्रस्य **अमृतेति** । अमृयलहर्या प्लाविता साधकतनुर्यया सा तथाविधा सैव कुण्डलिनी **प्रशुष्यत्** = शोषमुपगच्छत् **नाडीप्रकरं** = द्वासप्ततिसहस्रादिसंख्याकतया प्रसिद्धनाडीसमुदायं **वै** =निश्चयेन **प्लावयति** = प्लावितं करोति । **प्रशुष्यद्वैशन्तप्रकरमिति** पाठे प्रशुष्यन्तो ये वेशन्ता अल्पसरांसि षण्णां पद्मानामाधारस्थानानि तेषां प्रकरं समुदायमिति ॥ ३४ ॥

अमृतझरिका

एवं कुण्डलिनीप्रसुप्तिकारणं परिदर्शितम् । इतः परं यद्वक्तव्यं तद् "मनोमार्गं जित्वे"ति "यदा तौ चन्द्रर्काविं"ति च श्लोकाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रागुपदिष्टम् । तत्र वक्तव्यो यो विशेषस्तं वदन्नेव सुधाधारास्नपनं तत्प्रयुक्ततन्वाह्लादं च विशदयति—**महेति** । हे भगवति ! यदा यस्मिन्काले विद्युल्लेखा कुण्डलिनी विधिग्रन्थिमभिनत् तत्तदा अमृतलहरीप्लावितततनुर्नाडीप्रकरं प्लावयतीति सम्बन्धः । कीदृशी सा विद्युल्लेखारूपिणी कुण्डलिनी तत्राह—**विद्युन्नियुतनियुताभेति** । कोटिविद्युत्प्रभेत्यर्थः । एतच्च षोडशीममाकलां प्रस्तुत्य प्रागेव निवेदितम्—

विद्युत्कोटिसमानकोमलतनूर्विद्योतिताधोमुखी ॥ इति ।

इमामेव कलामादायाधारशक्तिरूपेणोक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

ब्रह्माणी त्वं परा शक्तिर्ब्रह्मणोत्सङ्गगामिनी ।
द्वारं सा मोक्षमार्गस्य रोधयित्वा व्यवस्थिता ॥

तां भित्त्वा तु वरारोहे ऊर्ध्वशक्तिं परां शिवाम् ।
शक्तितत्त्वात्मिकां देवीं प्रसुप्तभुजगाकृतिम् ॥

शक्तितत्त्वं समाख्यातं भुवनैराश्रितं महत् ।
शक्तिं तत्त्वात्मिकामूर्ध्वशक्तेरुपरि संस्थिताम् ॥ इत्यादि ।

अक्षरमयीति । एषैव मातृकामयी पराशक्तिः । तस्या एव पश्यन्तीमध्यमाक्रमेण वैखर्यक्षरजाताभिव्यक्तिहेतुत्वात् । तदप्युक्तं प्रागेव । शारदायां च—

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः । इति । अपि च तत्रैव

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसंनिधिमासाद्य नित्यानन्दागुणोदया ॥ इत्यारम्भ

आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः । इति ।

द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ।
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता ॥ इति च ।

आकारादीनां पञ्चदीर्घाणामनुस्वारस्य च त्यागेनाऽकारादिसकारान्ताः भूतलिपयो द्विचत्वारिंशत् । तेषां हक्षयोश्च योजने पञ्चाशत् । इमां कुण्डलिनीमेव परां शक्तिं विदन्ति । शारदायां तु विशेष उक्तः—

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥
ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः ।
पश्यन्तीमध्यमा वाचि वैखरीशब्दजन्मभूः ॥
इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥
अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ।
पञ्चाशद्वारगुणितां पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ॥ इति ।

सत्त्वयुक्ता शक्तिः, रजोयुक्ता ध्वनिः, तमोविद्धा सा नादः, तमःप्राचुर्यान्निरोधिका । सा निरोधिका सत्त्वप्राचुर्येणार्धेन्दुः । उभयसंयोगाद् बिन्दुः । बिन्दुः किंचिदूर्ध्वमागतः परा वाक् । पश्यन्ती स्वाधिष्ठाने इति केचित् । नाभावित्यन्ये । हृदये मध्यमा । मुखे च वैखरी । अकारादिक्षकारपर्यन्तं रमत इत्यक्षरशब्दार्थः । तथा चोक्तं कादिमते—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः ।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः ॥
स एवोर्ध्वं तयानीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः ।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तत्रैवोर्ध्वं शनैः शनैः ॥
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः ।
तथा तयोर्ध्वं नुन्नः सन् विशुद्धौ कण्ठदेशतः ॥
वैखर्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः ।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात् ॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठोष्ठाद्दन्तोष्ठद्वयतस्तथा ।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ।
आदिक्षान्तरतेत्येषामक्षरत्वमुदीरितम् ॥ इति ।

श्रुतिरपि परापश्यन्तीमध्यमावैखरीश्चतस्रो वाच आह—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ इति ।

त्रीणि परापश्यन्तीमध्यमाख्यानि । तुरीयं वाचो वैखरीरूपाः सर्वे मनुष्या वदन्ति उच्चार्यमाणत्वेनानुभवन्तीत्यर्थः । तिसृणामपि वाचां वैखरीं प्रतिमूलत्वेन तासामप्युद्भवस्य सर्वमनुष्येष्वावश्यकत्वात् । अत एव

आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ।

इत्यादिना सर्वप्राणिषु तदुद्भवः शारदायां सूचितः ।

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः ।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा-
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ॥

इत्येकस्यैव भावचतुष्टयोक्तेश्च । अथवा बालोत्पत्तिमभिधाय

क्षणं तिष्ठति निश्चेष्टो भीत्या रोदितुमिच्छति ।
ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वंगा विश्वरूपिणी ॥

इत्यादिरीत्या शारदायामुक्तत्वादिच्छामात्रेण परापश्यन्तीमध्यमा-नामुद्भवो न तूच्चारणं तत्रापेक्षितमित्याशयेन "तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ती"त्युक्तं श्रुतौ । न तु सर्वेषां मनुष्याणां ता न सन्तीति कृत्वा । किं च वैखरीं मनुष्या एव वर्णात्मिकां वदन्ति पश्वादिभिर्वर्णोच्चारणादर्शना-दित्यपि श्रुत्यभिप्रेतार्थः ।

विधिग्रन्थिमभिनदिति । मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रे भित्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्ति । मणिपूरानाहते भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्ति । विशुद्धयाज्ञे भित्वा ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति । तथा च विधिग्रन्थिमभिनदित्यनेन षण्णां चक्राणां त्रयाणां ग्रन्थीनां च भेदनकाल उच्यते । एतच्च प्रागुक्तं "सुषुम्णां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थि शशिनं तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति महायोगिसमयी" इति । वामकेश्वरे च—

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम् ॥ इति ।

अत्रापि ग्रन्थित्रयभेदनानन्तरं षट्कमलभेदनमिति नार्थः । किन्तु यथोक्त-क्रमेण द्विकद्विककमलभेदनपूर्वकैकैकग्रन्थिभेदनमेवेति द्रष्टव्यम् ।

तदा किं स्यादित्युच्यते—महेति । तत्तदा महाव्योमस्थेन्दोः—

बैन्दवे परमाकाशे सच्चिदानन्दलक्षणे ।
निष्प्रपञ्चे निराभासे निर्विकल्पे निरामये ॥

इत्युक्तचिदाकाशस्थचन्द्रमस इत्यर्थः । एतच्च दर्शितं स्वच्छन्दे—

षोडशान्तमिति ख्यातं व्योमस्थानेन्दुमण्डलम् ॥ इति ।

केचित्तु षोडशान्तं षोडशस्वरूपान्तं षोडशकलातिरिक्तमिदं निर्वाणकलां सप्तदशीं वदतीत्याहुः । तद् भावनाभेदमात्रम् । सप्तदश्याः कलाया अप्रसिद्ध-त्वात् । सहस्रदलगतं षोडशं, तत्र कला सप्तदशीति विभागमात्रं न तु वस्तुतः साप्तदश्यमिति । अत्र बिन्दुः श्रीचक्ररूपमिति वक्ष्यति । तस्य

चामृतलहरीभिः प्लाविता तनुर्यस्य स साधकः नाडीप्रकरममृतैः प्लावयतीत्येका योजना । अथवा महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीभिः प्लाविता तनुः साधकतनुर्यया सेति विद्युल्लेखायाः कुण्डलिन्या एव विशेषणमस्तु । सा नाडीप्रकरं प्लावयतीति च सुयोजम् ।

या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगता हारनीहारगौरी
सौधीं धारां नभोऽम्भोरुहकुहरविधोः संस्रवन्तीं वहन्ती ।

इति सारसमुच्चयोक्तेः सौधीं सुधासम्बन्धिनीं धारां, कस्य ? व्योमकमलकुहरगतेन्दोस्तां वहन्ती कुण्डलिनी, वहन्ती प्रापयन्ती सर्वां तनूमिति द्रष्टव्यम् ।

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः ।

इति भगवत्पादोक्तेश्च । प्रपञ्चमिति शरीरमित्यर्थः । तथा च गौतमीये—

विश्वं शरीरमित्युक्तं पञ्चभूतात्मकं मुने ।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभिर्जीवब्रह्मैक्यरूपकम् ॥ इति ।

प्रपञ्चशब्दस्य यथाश्रुतार्थत्वेऽपि भगवतीचरणामृतमुपजीव्यैव जगतः स्थितिरिति न काप्यनुपपत्तिः । कुण्डलिनीशक्तिवदेव संकर्षणशक्तिः । कुण्डलिन्यनुत्थानेऽपि महाव्योमस्थेन्दोरमृतकणेनैव शरीरस्थितेः । कुण्डलिन्युत्थानोत्तरं तु तदीयचन्द्रमण्डलदशनात् प्रस्नुतामृतलहर्या योगी प्लावितनुर्भवतीति विशेषः । आपूर्यमाणवापीतडागादितो जलस्य प्रस्रवणे वाऽप्रस्रवणे वा न किंचिदन्तरं भवति । प्रस्रवणकरणे वृक्षलतावीरुदादीनां जीवनं भवतीति विशेषो न तु जलाशयस्य कश्चित् । एवं महाव्योमेन्दुमण्डलामृतस्यानन्तत्वात्तदप्रस्रवणे प्रस्रवणे वा न तस्य कश्चिद्विशेषः । योगिनस्तु शरीरमाप्लावितं भवतीति विशेषः प्रस्रवणादिति ।

किं च प्रशुष्यदिति । सा प्रबुद्धा सहस्रारगता कुण्डलिनी तत्रत्यामृतं वहन्ती प्रशुष्यद् नाडीप्रकरं नाडीसमुदायमनिशं प्लावयति सिञ्चति । यद्यपि

प्रकरः स्यात्पुमान् सङ्घे विकीर्णकुसुमादिषु ।
नपुंसके जोङ्गके स्त्री नाट्याङ्गे चत्वरावनौ ॥

इति मेदिनीकोशात्संघार्थकप्रकरशब्दस्य पुंस्त्वात्तद्विशेषणस्यापि पुंस्त्वं युक्तमिति प्रशुष्यन्तमीति प्रयोक्तुमुचितम् । तथापि क्वचिज्जोङ्गकार्थं

इव समुदायार्थेऽपि नपुंसकस्य वृत्त्यभ्युपगमे क्षतिविरहादुपपत्तिः। वै इत्यव्ययपदम्। तेन सह समासे प्रशुष्यद्वैनाडीप्रकरमित्येकपदमित्यतोऽप्युपपत्तिः।

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्॥
नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।

इत्युक्तं द्विसप्ततिनाडीप्रकरम्। यद्वा गौतमीये—

तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन शरीरे नाड्यो मताः।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः॥
प्रधाना मेरुदण्डेऽत्र चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी॥

इत्याद्युक्तनाडीप्रकरो द्रष्टव्यः।

अथवाऽत्र "प्रशुष्यद्द्वैनाडीप्रकरमि"त्यत्र द्विदकारः पाठः। वै इत्यव्ययपक्षेऽपि "अनचि चे"ति द्वित्वेन द्विदकारोपपत्तेः। द्वैनाडीति च्छेदः। द्वयोरिडापिङ्गलयोः सम्बन्धिन्यो नाड्यो द्विनाड्यः द्विनाड्य एव द्वैनाड्यः स्वार्थे ष्यञि षित्वात् ङीष्। द्वैनाडीनां प्रकरो द्वैनाडीप्रकरः। प्रशुष्यंश्चासौ द्वैनाडीप्रकरश्चेति स तथा तम्। सुषुम्णाया मेर्वन्तरस्थत्वात्कन्दे इडापिङ्गलयोरेव साक्षात्संबन्धोऽन्यनाडीनामित्यतो द्वैनाडीप्रकरमित्युक्तम्।

एतच्च "प्रशुष्यद्वैनाडीप्रकरमि"ति पाठमभ्युपगम्य व्याख्यातम्। क्वचित्कोशे "प्रशुष्यद्वेशन्तप्रकरमनिशं प्लावयति तदि"ति द्वितीयपादपाठः। तत्र वेशन्तशब्दस्य अल्पसरोऽर्थः। तथाचाहामरसिंहः—

वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरो (वापी तु दीर्घिका) इति।

अत्र च षण्णां पद्मानां प्रसिद्धत्वात् पद्मानां च सरोजत्वात्सरउत्पन्नत्वाद् बृहत्सरसाञ्च शरीरमध्येऽसंभवाद्वेशन्तप्रयोगः। वेशन्तेन षट्पद्मतदाधारतद्देवतानां सर्वासां ग्रहणम्। अत एव सर्वसंग्रहार्थं पद्मादिपदं परित्यज्य वेशन्तपदप्रयोगः। पद्मपदप्रयोगेऽति प्रसिद्धत्वात्पद्मान्येव गृह्येरन्, वेशन्तस्य शरीरमध्येऽप्रसिद्धत्वात्कल्पनीयत्वात्तेन सर्वग्रहणतात्पर्यावसायः। एतत्प्लावनमुपपादितं प्रागस्माभिः। पुनरत्रोच्यते—

सदाशिवेन देवेशि क्षणमात्रं रमेत् प्रिये।
अमृतं जायते देवि तत्क्षणात् परमेश्वरि॥

तदुद्भवामृतं देवि लाक्षारससमायुतम् ।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम् ॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र संतर्प्यामृतधारया ।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ॥ इत्यादि ।

कुण्डलिनी सहस्रारं गता सदाशिवेन संयुङ्क्ते । तदेव रमणम् ततोऽमृतं जायते प्रादुर्भवति व्यक्तीभवति स्रवतीत्यर्थः । परदेवतां पराशक्तिं कुण्डलिनीं तर्पयेत् । तृप्ता भवतीत्यर्थः । तथा च षट्चक्रदेवतातर्पणेन कमले तत्प्लावनमपि सिद्धं भवति । युक्तश्चायमेव पाठः । अमृतलहरीप्लावितततनुरिति प्रथमपादेनैव सर्वनाडीनां प्लावनसिद्धेः । स्थूलस्य सर्वस्य तनुपदग्राह्यत्वात् । षट्चक्रस्य तु भावनागम्यस्यातिसूक्ष्मत्वात्तत्पृथगुक्तिरिति ध्येयम् ।

यद्यपि अनिशं प्लावनं न घटते । कुण्डलिन्युद्बोधनोर्ध्वनयनसमागमनकाल एव अमृतप्लावनोपपत्तेः । तथापि **सदाज्ञायामिति** कालविशेषनिर्देशात्तादृशकालव्यापकतयाऽमृतप्लावनविवक्षणान्न कापि क्षतिरिति द्रष्टव्यम् ॥३४॥

ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकं समयिनां
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता ।
सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद् बैन्दवमिति ॥३५॥

विधिग्रन्थि के भेदन के बाद कुण्डलिनी वहाँ से ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) मय समयलोक में, जिसको समयमार्गी ही देख पाते हैं, पहुँच जाती है। वहाँ वह कुण्डलिनी पराशक्ति होकर सादाख्य शक्ति होकर शिव तत्त्व से संयुक्त हो जाती है तो महान् उत्कर्ष को प्राप्त होती है। सहस्रार कमल में एक दूसरा चन्द्रविम्ब है। वही श्रीचक्र, सरघ एवं बैन्दव कहलाता है ॥३५॥

अन्वयार्थप्रकाशिका

आज्ञाचक्रस्थब्रह्मग्रन्थिभेदनानन्तरं ततः सैव कुण्डलिनी **समयिनां ज्योत्स्नामयं समयलोकं गत्वा पराख्या** परा शक्तिः **सादाख्या**=साद-नाम्नी च सती **शिवतत्त्वेन मिलिता जयति**=उत्कर्षेण वर्तते। **सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसः**=चन्द्रमसोऽपरं=पूर्वोक्ताद् भिन्नं **बिम्बं** वर्तते। **तदेव श्रीचक्रमित्युच्यते सरघमित्युच्यते तदेव बैन्दवमित्यप्युच्यते** ॥३५॥

अमृतझरिका

आज्ञोपरिस्थविधिग्रन्थिरूपचन्द्रमण्डलभेदनसमकालमेव स्फुटितपात्रादिव चन्द्रादमृतमागृह्य सूर्यं प्रति प्रस्रवणायोगात् सहस्रदलकमलनिर्गलदमृतलहर्या कृत्स्नतन्वाह्लादनं नाडीगणाऽऽप्लावनादिकं च संपद्यत इति दर्शितम्। यदातदाप्रयोगात्। तदनन्तरं पराशक्तेः किं कार्यमिति जिज्ञासाया-माह—तत इति। ततो विधिग्रन्थिभेदनसमनन्तरं कुण्डलिनी पराशक्ति-र्ज्योत्स्नामयं समयिनां समयलोकं समयमार्गानुसारिमात्रगन्तव्यलोक-मित्यर्थः। कौलानामाधारादावेव पूजनस्य वक्ष्यमाणतया तेषामेतल्लोक-गमनविरहात् समयिनां समयलोकमित्युक्तम्। तमिमं सहस्रदलकमलात्मकं लोकं गत्वा। स हि ज्योत्स्नामयो लोकः। तथा हि—सूर्यचन्द्रयोर्मेलनाद-मावास्यात्मकत्वान्मूलाधारस्तामिस्रलोक इति वक्ष्यते। उक्तमपि—

"तमस्याधारे" इति प्रागपि। न च तत्र वह्निकिरणसत्त्वात् कथं तामिस्रत्वमिति वाच्यम्। तामिस्रलोकेऽपि वंशादिघर्षणेन मण्यादिना च प्रकाशसंभवात्तावन्मात्रेण तामिस्रत्वभङ्गानुपपत्तेः। प्रत्युत तामिस्रलोके एव वह्निप्रकाशप्रसरसंभव इति। स्वाधिष्ठाने स्वयमग्नितत्त्वमेवेति तस्यापि तथात्वमेव। यद्यपि हुताशे द्वाषष्टिरिति या संख्योक्ता सा स्वाधिष्ठानस्य वह्नितत्त्वात्मकत्वेपि सूर्यस्यैव तत्र। तथापि मणिपूरे जले प्रतिबिम्ब्य यावत्स्वाधिष्ठानमागच्छन्ति ते किरणस्तावन्निर्बलाः सन्तो न तामिस्रतां ह्रापयितुं शक्नुवन्ति। कृष्णचतुर्दश्याद्येकादशीपर्यन्तं शुक्लपञ्चमीपर्यन्तं च तमआधिक्याच्च। मणिपूरे तु जलतत्त्वं तत्राग्निकिरणा एव मुख्यरूपेण तथापि तत्र सूर्यकिरणा अपि प्रतिबिम्बन्तीति मिश्रलोकः। स्वाधिष्ठानमपि यत्किंचित्सूर्यकिरणसंपर्कान्मिश्रलोक एव। तथापि तमःप्राधान्यात्तामिस्रत्वमुक्तम्। अनाहतं तु ज्योतिर्लोक एव। तदुपरि सूर्यबिम्बसत्त्वात्। विशुद्धिचक्रं तु चान्द्रलोकः। तत्र पञ्चदशानां चन्द्रकलानां प्रागुक्तत्वात्। तथापि सूर्यकिरणस्पर्शसद्भावान्न ज्योत्स्नालोकः। आज्ञाचक्रं तु सुधालोकस्तदुपरि चन्द्रसत्त्वात्। तथापि सूर्यकिरणसंपर्कान्न ज्योत्स्नालोकः। सहस्रदलकमलं तु ज्योत्स्नामय एव लोकः। तत्र चन्द्रसूर्याग्नीनां किरणाऽप्रवेशात्। न च चन्द्रकिरणप्रवेशनिषेधः किमित्युच्यत इति वाच्यम्। सूर्यप्रविष्टकिरणानामेव कलारूपेण चन्द्रे प्रवेशस्योक्तत्वाच्चन्द्रकिरणप्रवेशे सूर्यकिरणस्याप्यस्तित्वसूचनार्थत्वात्। सहस्रारे तु नास्ति तेषां प्रवेशः। तथा चोक्तं प्रागेव—"सूर्यशशिनोरगम्ये रश्मीनाम्" इति। अत्र परमा च ज्योत्स्ना पूर्णानन्दैरपि प्रतिपादिता—

समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसंपूर्णचन्द्रः।
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसंतानहासः॥ इति।

शशपरिरहितः कलङ्करहितः। एतेन लौकिकचन्द्रव्युदासः। शुद्धो राहुसम्बन्धरहितः। संपूर्णः क्षयवृद्धिरहितः। परमरसचयेन परमामृतसंदोहेन स्निग्धः संतानो विततिर्यस्य हासस्य तादृशो हास इव हासो यस्य सः मन्दहाससन्तानश्लक्ष्ण इति यावत्। स चायं ज्योत्स्नामयलोकः समयलोकः। समयाख्यपरमशिवलोकः। तत्र यश्चन्द्रस्तस्यैकैव कला सैव षोडशी कलेति व्याख्यातं प्राक्। सैव पराशक्तिरित्यपि निगद्यत इत्याह—पराख्येति। परेत्याख्या यस्याः सा पराख्या सैव साद इत्यप्युच्यत इत्याह—सादाख्येति। सादः शरणमिति शब्दकल्पद्रुमकाराः। क्वचित् शरणमिति क्वचिच्च चरणमिति निगद्यते। एतदेव—

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः

इत्यत्र चरणयुगलपदेन निर्दिष्टं सौन्दर्यलहर्याम्। स चन्द्रोऽपि पराख्य एव सादाख्यश्चैवेति मन्तव्यम्। एषैव कला कुण्डलिनीरूपमापद्य मूलाधारे वरीवर्ति। न चैवं मूलाधारे तत्स्थानकाले सहस्रारे सा न स्यादिति वाच्यम्। तस्या नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्चांशरूपेण मूलाधारेऽपि स्थितौ क्षत्यभावात्। सहस्रारे सा नित्यशुद्धचिद्रूपिणी मूलाधारे च कुण्डलिनी-रूपिणी।

जयति शिवतत्त्वेन मिलितेति। अत्रेदमवसेयम्।

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

इति वचनाद् विना शक्तिं नैव तिष्ठति शिवः। वामकेश्वरे चोक्तम्—

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते। इति।

तथापि पराशक्तिरियं द्वैरूप्यं यदा प्रतिपद्यते सहस्रारे परा चित्कला मूलाधारे कुण्डलिनी चेति तदा नित्यमिलितापि शक्तिरमिलितेव भवति। शक्तोऽपि च शिवोऽशक्त इव भवति। तथा चाभिहितं वामकेश्वरे—

परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद् यदि॥ इति।

कथं हि नाम शक्तिरहित इति शक्यते संभावयितुम्। गगनकुसुम-समत्वात्। तस्मादस्ति कश्चन शक्तिवियोग इति गम्यते। स्पष्टीकृतं तद् देवीभागवते—

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
शक्तिहीनो हि यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः॥ इति।

चित्कलाया नित्यमिलितत्वादनिर्वचनीयभेदापन्नकुण्डलिनीशक्तिविश्लिष्ट एव परो हि शक्तिरहित इत्यनेनोक्त इति भावः। एतदेवाभिप्रेत्य भगवत्पादैरपि—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

इत्यभिहितम्। एतावांस्तु विशेषः। जीवस्याविद्याच्छादितत्वात्तदभिन्ने शिवे सहस्रारस्थे प्रायः कुण्डलिन्या विश्लेष इति, विद्यमानोऽप्यविद्यमान

इव भवति प्रतिशरीरम् । साधनपरतन्त्रश्च शिवशक्तिसंयोगः । सकलजगन्मूले परमशिवे तु विशेषः । तत्र प्रलयकाले स्वभावादेव कुण्डलिनीशक्तेर्लीनाया अपि अनिर्वचनीयो विश्लेषः । परमशिवस्य स्वेच्छया च तत्संश्लेषः । तथा हि संश्लेषविश्लेषरहितः परमः शिवो वाङ्मनसागोचरो मोक्षलक्षणः सर्वदेशकालानवच्छिन्नः । स हि साधकानां लक्ष्यभूतः । न स स्रष्टा भर्ता संहर्ता वा । स निष्कल एव । ततो नात्यन्तभिन्नो यावत्संसारमवतिष्ठमानः सकलः शिवः शक्तिसंयोगवियोगादियुक्तो भवति कर्ता भर्ता संहर्ता च । एतावेवाह शारदायां—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ इति ।

प्रकरोति जगदिति प्रकृतिस्ततोऽन्य इत्यर्थः । न तु प्रकृतेः प्रधानादन्य इति । सिद्धत्वात् । एतमेवोपादायाह प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः ।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥ इति ।

विकाररहित इत्यनेनास्य सृष्ट्यादिहेतुत्वं नास्तीत्युच्यते । सदानन्दो निरामय इत्यनेन सकलसाधनसाध्यत्वं द्योत्यते । तस्य परमपुरुषार्थत्वज्ञापनाय नित्यः सर्वगतः सनातन इति विशेषणानि । प्रकाशलाभाय साक्षीति । नारायणीयेऽप्युक्तम्--

निष्क्रियं निर्गुणं शान्तमानन्दमजमव्ययम् ।
अजरामरमव्यक्तमज्ञेयमचलं ध्रुवम् ॥
ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म स्वसंवेद्यं हृदि स्थितम् ।
सत्यं बुद्धेः परं नित्यं निर्मलं निष्कलं स्मृतम् ॥ इति ।

अत्यन्तभिन्नत्वेनाप्राप्यत्वं प्रसक्तं वारयितुं हृदि स्थितमित्युक्तम् । बुद्धेः परमिति साधनगम्यत्ववारणाय । सकलप्रतिबन्धकनिवृत्तौ तद्रूपेणावस्थानमेव पुरुषार्थ इति भावः । इतो नात्यन्ताभिन्नो नात्यन्तभिन्नश्च सकलः परमात्मा शिवः । स एव शास्त्रविषयः । तस्य च द्वे अवस्थे । प्रलयकालीना सृष्टिकालीना च । एतमेवादायाहुः पुण्यानन्दनाथाः—

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥ इति ।

निष्कलसकलयोरत्यन्तभेदं निरस्यन्नाह रहस्याम्नायः—

निरुत्तरं निराधारं सच्चिदानन्दसागरम् ।
यदेतच्छाम्भवं मिश्रं निर्वाणाधारतां गतम् ॥ इति ।

निर्वाणाधारत्वं मुक्तोपसृप्यत्वम् । तच्च निरुत्तरादिरूपम् । तदेव सकलत्वेन मिश्रमित्यर्थः । प्रलयावस्थायां तु पराशक्त्यभिन्नयाऽपि अनिर्वचनीयभेदमापन्नया कुण्डलिनीशक्त्याऽन्तर्लीनया विश्लेष इति तदानीं स्पन्दाभावः । एतदेव "न खलु कुशलः स्पन्दितुमपी"त्यनेनाचार्यभगवत्पादैरुक्तम् । न पुनर्गगनकुसुमायितवियुक्तावस्थां संभावनयोपस्थाप्य तथोक्तमिति ध्येयम् । लीनया सह संयोगासंभवाच्च स्वतन्त्रः स सकलः शिवः स्वेच्छयैव तां प्रथममाविर्भावयति । तथा च वायवीयसंहितायां—

शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता ।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥

शिवेच्छया ततः शिवादेव पराशक्तिः सर्गादावाविर्भवतीति योजना । शिवतत्त्वैकतां गतेति प्रलयावस्थाकथनम् । सा च स्वाभाविकी । भवतु वा तत्रापि शिवेच्छाप्रयोज्यत्वम् । सर्वथापि परिस्फुरणसंयोगादिषु परमेश्वरेच्छातिरिक्तं कारणान्तरं नास्त्येवेति शिवस्य जीवाद्वैलक्षण्यं द्रष्टव्यम् । तथा चाभिहितं पञ्चरात्रे—

एवमालोच्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम् ।
समस्ततत्त्वसंघातस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ।
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान् ॥ इति ।

एवमालोच्येत्यनेनालोचनं संकल्पलक्षणं कारणमाह । "तदैक्षत" "सोऽकामयते"त्येवं सामान्यतः प्रयोगादेतदालोचनमेवेक्षणं कामना चेति गम्यते । तथा चेच्छामात्रं हेतुरिति सिध्यति । न केवलं सामान्येक्षणमात्रं शक्तिसंयोगे हेतुः । किन्तु शक्तेरौत्सुक्यमपि । प्रथमसृष्टेः सामान्यकारणजन्यत्वेऽपि द्वितीयादिसृष्टेर्हेत्वन्तरपूर्वकत्वात् । यथा नैयायिकानां परमाण्वादिप्रथमक्रियायाः सर्गाद्यकालीनाया अदृष्टवदात्मसंयोगादिमात्रजन्यत्वेऽपि द्वितीयादिक्रियायास्तादृशसंयोगसहकृतनोदनाजन्यत्वमुपगम्यते । प्रथमक्रिया तु न नोदनाजन्या । नोदनायाः क्रियाजन्यत्वेनान्योन्याश्रयापातात् । तथा प्रकृतेऽपि प्रथमशक्त्याविर्भावस्य शिवेच्छामात्रजन्यत्वेऽपि

पुनः शक्तिसंयोगो विशेषकारणान्तरजन्यः। स तु कारणविशेषः शक्तेरौत्सुक्यमेव। तदुक्तम्—

तस्यैवेषा परादेवी स्वभावामर्शनोत्सुका।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न चाधिकम्॥

इति परापञ्चाशिकायाम्। स्वभावतस्तस्या शिवामर्शने शिवसंयोगे औत्सुक्यम् अनादिकालसिद्धं प्रकटीभूतायास्ततप्रकटमिति भावः। न च जडाया औत्सुक्यानुपपत्तिरिति वाच्यम्। जडत्वासिद्धेः। शक्तेश्चैतन्याभ्युपगमात्

"सच्चिदानन्दरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि"

इति वचनात्। अन्यत्राप्युक्तं—

अभिव्यक्ता परा शक्तिरविनाभावलक्षणा।
अखण्डपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः॥

एवं परस्परेच्छावशाच्छिवशक्त्योरविनाभावलक्षणयोरपि संयोगः। ततश्च स्पन्दादिपूर्वकं जगत्सर्जनम्। तदिदमभिप्रेत्याभिहितं—"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुमि"ति। रहस्याम्नाये चोक्तम्—

परार्णाख्याच्छिवेच्छायां सत्यां सा विमर्शा तदा।
अजायत परार्णाख्या बीजादङ्कुरवत् प्रिये॥
अनुप्रविश्य तां शक्तिं वामाद्यैः पिण्डितो भवेत्।
समस्तबीजगर्भाढ्या सूक्ष्मबिन्दुत्वमेति सः॥
तत्प्रविश्याम्बिका भूत्वा सानन्दाकारतां गता।
तद्व्याप्त्या जृम्भितात्तस्माद् बिन्दुरुच्छूनतां गतः॥
तथा सा बिन्दुमुद्भिद्य नीवाराग्रवदुत्थिता।
तुल्यकालोदिता नित्यरश्मिकोटिविडम्बिनी॥
षट्त्रिंशत्तत्त्वगर्भाढ्या परमाद्यर्णगर्भिणी।

इत्यादिना। वामकेश्वरेऽप्युक्तम्—

त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जाता महेश्वरी।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका।
कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी॥

इति । परापञ्चाशिकायामप्युक्तम्—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपत्प्रभुः ॥

तथा चायं निष्कर्षः । जगत्कारणभूतः परमशिवोऽपि प्रलये शक्तिविश्लिष्टः स्पन्दनादिरहितः सृष्ट्यादौ स्वेच्छया शक्तिमाविर्भाव्य तया संयुज्य च जगत्सर्जनादौ प्रभवतीति शिवतत्त्वेन मिलिता शक्तिरुत्कर्षवती । ये पुनर्जीवात्मानस्तेऽपि कुण्डलिनीशक्तेः शिवेन संयोगं विनाऽसमर्था एव भवन्ति । यदा योगेनोपासनया च शक्तेः शिवसंयोगो भवति तदा स्वयमपि शिव एव सन्तः परमानन्दमाप्नुवन्ति ।

निष्कलत्वं शिवे बुद्ध्वा तद्रूपत्वं गुरोरपि ।
तन्निरीक्षणसामर्थ्यादात्मनश्च शिवात्मता ॥

इति चतुःशत्याम् । कुण्डलिनीप्रबोधशिवसंयोगाभ्यां तन्निरीक्षणसामर्थ्यम् । एवं विद्यायाः शिवमिलितायाः शक्तेः परम उत्कर्षः । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—**जयति शिवतत्त्वेन मिलिता** इति । जयति उत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः ।

ननु आज्ञाचक्रोपरिगतविधिग्रन्थिभेदनसमनन्तरं ज्योत्स्नामयलोकगमनं यदुक्तं "ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकम्" इति तेन ज्ञायते तत्रास्ति चन्द्रबिम्बमिति । न हि चन्द्रं विना ज्योत्स्ना संभवति । स च सहस्रारगतज्योत्स्नाप्रयोजकश्चन्द्रो यत्र पराख्या सादाख्या कला, किमाज्ञाचक्रगतचन्द्र एवाहोस्वित्ततो भिन्नः । नाद्यः । तत्र पञ्चदशकलानां सत्त्वादेककलाकत्वानुपपत्तेः । न द्वितीयः । अतिरिक्तचन्द्रमसोऽप्रसिद्धत्वादित्याशङ्कामप्रसिद्धेरज्ञाननिबन्धनतया द्वितीयं पक्षमेवावलम्ब्य निराकरोति—**सहस्रारे पद्म** इति । सहस्रदलकमले शिशिरमहसश्चन्द्रस्यापरमाज्ञाचक्रस्थचन्द्रबिम्बाद् भिन्नं बिम्बं विद्यते ।

इन्दुर्ललाटदेशे तु तदूर्ध्वे बोधिनी स्वयम् ।

इत्येवमिन्दुप्रभृतीनां ललाटदेशे वर्णनात् सहस्रारे चक्रे शशपरिरहितस्य शुद्धस्य पूर्णचन्द्रस्य प्राक् प्रतिपादनाच्च । एतस्यैव चन्द्रबिम्बस्य स्वरूपभेदेन नामभेदानाह—तदेवेति । तदेव सहस्रारस्थितं चन्द्रबिम्बं श्रीचक्रं भवति । परमशिवः स्वेच्छया शक्तिं प्रथमं प्रादुर्भावयति ।

प्रादुर्भूतया तया संयोगे सति शिवः प्रभवितुं शक्तो भवति। तत्र प्रथमं शिवशक्त्योः शरणस्य चक्रस्योत्पत्तिः। तथा चोक्तं—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः॥ इति।

विश्वरूपिणी—कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी प्रागुक्ता त्रिपुरा शक्तिः। सा स्वेच्छयाऽऽत्मनः स्वस्य, परमात्मनः शिवस्येति वा स्फुरत्तां स्फुरणरूपतां पश्येत्, स्फुरत्तां विकसद्रूपतामिति वा, "तदैक्षते"ति श्रुत्युक्तरीत्या पश्येत्तदा प्रथमं चक्रस्य श्रीचक्रस्य संभवः। सहस्रारचन्द्रबिम्बस्य शिवशक्तिशरणरूपत्वाच्छरणत्वेन प्रथमं श्रीचक्रस्यैव प्रादुर्भावाच्चन्द्रबिम्बस्य श्रीचक्रत्वं सिध्यति। एतच्च सूक्ष्मतमं श्रीचक्रस्वरूपमित्येतत्प्रागेव निवेदितम्। अत एवेतः परं

यथा न्यग्रोधबीजस्थशक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥

इत्युक्तम्। हृदयबीजं हकारः शिवः सकारः शक्तिर्वा तत्र स्थितं जगदित्यर्थः। तच्च चक्रं स्थूलस्य विरहात् सूक्ष्मं यथोक्तं चन्द्रबिम्बमेवेति भावः।

तदेव सरघमित्यप्युच्यते वेदेषु। अस्य चन्द्रबिम्बस्य मधुपूरितसरघवदमृतपूरितत्त्वात्सरघनामोपपत्तिः प्राक् प्रपञ्चिता।

तदेव बैन्दवमित्यप्युच्यते। षट्चक्रश्रीचक्रयोरभेदचिन्तनावसरे मूलाधारादिविशुद्धिपर्यन्तं त्रिकोणादिचतुर्दशकोणपर्यन्तचिन्तनं भवति। आज्ञाचक्रं तु अष्टदलादिशिवचक्रचतुष्टयरूपेण। बिन्दुः पुनः सहस्रारकमलरूपेण चिन्त्यते। सहस्रारतद्गतचन्द्रबिम्बयोरैक्याच्चन्द्रबिम्बमपि बिन्दुरूपमेव। बिन्दुरेव बैन्दवम्। तथा च चन्द्रबिम्बं बैन्दवनामाभिधेयं भवति। यद्वा सहस्रारं बिन्दुः। तत्र भवं चन्द्रबिम्बं बिन्दौ भवं बैन्दवमित्यभिधीयते। श्रीचक्रगतबिन्दोः सहस्रारचन्द्रबिम्बस्य चैक्येऽपि तस्य श्रीचक्ररूपत्वं प्रागेवास्माभिः सम्यङ्निरूपितं स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन श्रीचक्ररूपनानात्वविवरणावसर इति ॥३५॥

वदन्त्येके सन्तः परशिवपदे तत्त्वमिलिते
ततस्त्वं षड्विंशा भवसि शिवयोर्मेलनवपुः ।
त्रिखण्डेऽस्मिन् स्वान्ते परमपदपर्यङ्कसदने
परे सादाख्येऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्यकलनात् ॥३६॥

संत पुरुष शिव और शक्ति के स्वरूपों को तत्त्वों के अन्दर मानते हैं पचीस तत्त्वों से परे छब्बीसवाँ तत्त्व को शिवशक्तिसामरस्य कहते हैं। दहराकाशगत सहस्रार कमल में पूर्वोक्त त्रिखण्ड चन्द्रबिम्बरूपी सादाख्य श्रीचक्र में उस परमशिव पर्यङ्क में स्थित देवी में चार प्रकार के ऐक्य की उपासना करने वाले तादात्म्य से रहते हैं ॥३६॥

अन्वयार्थबोधिनी

एके = मुख्याः **सन्तः** = सत्पुरुषाः **परशिवपदे** = परशिवायाः परशिवस्य च द्वे स्वरूपे **तत्त्वमिलिते** = तत्त्वेषु पञ्चविंशतिसंख्येषु अन्तर्भूते वदन्ति। **ततः** = पञ्चविंशतितत्त्वतः **परा** = षड्विंशा तत्त्वातीता **शिवयोः** = शिवशक्त्योः **मेलनवपुः** = सामरस्यस्वरूपा **त्वं भवसीति** च वदन्ति। **स्वान्ते** = दहराकाशे **अस्मिन् त्रिखण्डे** सहस्रारगतबिम्बात्मकश्रीचक्रे **परे सादाख्येऽस्मिन् परमपदपर्यङ्कसदने चतुर्धैक्यकलनाद्** योगी तादात्म्येन **निवसति** ॥३६॥

अमृतझरिका

पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलितेति चन्द्रबिम्बस्य प्रागुक्तस्यान्यस्य कला षोडशी प्रोक्ता। अत्रैव मतान्तरमाह—वदन्तीति। एके सन्तो वदन्ति। किं ? परशिवपदे, परशिवश्च परशिवा च परशिवौ। पदं च पदं च पदे पद्यमानत्वात्पदनीयत्वात् पदे स्वरूपे। परशिवयोः पदे परशिवपदे। द्विवचनान्तः शब्दः। परशिवपदं परशिवापदं चेति विग्रहे एकशेषो दुर्घटः। सरूपत्वाभावात्। पदयोः स्त्रीपुंभावविरहेण "स्त्रियाः पुमान्"त्यस्याप्यविषयत्वात्। "विरूपाणामपि समानार्थानामि"ति वार्तिके समानार्थकत्वं नाम नैकार्थत्वमात्रं किन्तु किंचित्साम्येऽपि समानार्थत्वमेवेत्युपगम्य यथाकथंचित् शक्यं समाधातुम्। तथाप्युक्त-

सरणिर्ब्रूते इति । शिवस्वरूपं शिवास्वरूपं चेति द्वे इत्यर्थः । तत्त्वमिलिते तत्त्वेषु पञ्चविंशतिसंख्याकेषु मिलिते अन्तर्भूते भवत इति शेषः । तथा च परमशिवमिथुनघटकीभूता तत्त्वान्तर्गतत्वान्न त्वं भवितुमर्हसि, तत्त्वातीतायास्तव तत्त्वान्तर्गतत्वायुक्तेरपि भावः । का तर्हि त्वमिति चेत्तत्राह— ततस्त्वमिति । ततस्तस्मात्कारणात् परशिवायास्तत्त्वान्तर्गतत्वात्त्वद्रूपस्य चाऽतथात्वात्त्वं तत्त्वातीता पञ्चविंशतितत्त्वव्रातादतिरिक्ता षड्विंशा भवसि । वामकेश्वरे षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रतिपादनपरे—

सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ।
तत्त्वातीतस्वरूपा च विद्यैषा भाव्यते सदा ॥

इत्येवं तत्त्वातीतस्वरूपवर्णनदर्शनात् ।

नन्वप्रसिद्धं तत्त्वातीतस्वरूपं ज्ञातुमशक्यं च स्वरूपशून्यं च कल्पनामात्रं वोपासनार्थमित्यतस्तत्स्वरूपमाह—**शिवयोर्मेलनवपुरिति** । शिवश्च शिवा च शिवौ तयोर्मेलनं समवायः सामरस्यं तत्स्वरूपेत्यर्थः ।

ननु "पृथिव्यापस्तेज" इत्यादि श्लोके "परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः परकला" इति स्वमतत्वेनैतत् प्रतिपादितम् । तदिह कथमुच्यते "वदन्त्येके सन्त" इति मतविशेषत्वेनेति । सत्यम् । केचित्तावत् शिवशक्त्योर्मध्ये शक्तिरिति यामाहुस्तामेव चित्कलां मन्यन्ते न तु तत्त्वातीतां षड्विंशाम् । एके मुख्याः सन्तोऽस्मद्गुरुपारम्पर्यागतास्तत्त्वातीतां षड्विंशां चित्कलामाहुरिति व्याख्यातव्यत्वेन दोषविरहात् । सन्त इति च साकूतम् । तथा चाह श्रुतिः—

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥ इति ।

इदमेव शिवशक्तिसामरस्यं ब्रह्मेति वेदान्तेषु कीर्तितम् । तत्त्वातीतं च तद् नास्तीति ये विदुस्तेऽसन्तः परमपुरुषार्थशून्यत्वेन जननमरणसंसारचक्रभ्रमणकारिणः । असद्रूपत्वेन नरकादिमात्रगामिनो वा । ये तत् परं तत्त्वातीतं विदुस्ते सन्तः । परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्यैव सद्रूपत्वात्तद्भागित्वेन सन्त इति ।

ननु शिवशक्त्योर्मेलनं सम्बन्धः । स गुणरूपसंयोगो वा सम्बन्धविशेषात्मकः समवायो वा तादात्म्यं वा सर्वथाप्यचेतनमिति कथं तस्य चित्कलारूपत्वमिति । न हि भवति घटपटयोश्चैत्रमैत्रयोर्वा संयोगो

मृद्घटसमवायो वा गुणगुण्यादितादात्म्यं वा चिद्रूपं वीक्षितमिति चेन्न । यतो न वयं संयोगं समवायं तादात्म्यं वा चित्कलां ब्रूमः । किं तर्हि ? एतयोरुभयोरप्यधिष्ठानं परं मह एव सामरस्यम् । यत्सत्तानतिरिक्तसत्ता तयोः शक्तिशिवयोः । तथा चोक्तं संकेतपद्धत्यां

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ।।
अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन् महसि स्फुटम् ।। इति ।

परस्मिन् महसि सामरस्यमित्याधाराधेयभावेनोक्तिर्लोकबोधनाय तद्भाषया । परमस्य महस एव सामरस्यात्मकत्वात् । तस्यैव भूमब्रह्मरूपत्वाद् ।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति
नान्यद्विजानाति स भूमा ।

इति श्रुत्याऽऽधाराधेयभावादिसकलद्वैतनिषेधात् । महोऽतिरिक्तसामरस्यात्मकसम्बन्धविशेषस्य तत्र संभावयितुमशक्यत्वात् । यत्त्वत्र चिद्वल्लीकारेण "स्मृतिरपी"त्युक्त्वा "हृद्यकारमि"त्यादि पठित्वा "अकारः सर्ववर्णाग्र्य" इत्यादौ—

"उभयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्नहमि स्फुटम्"

इति पञ्चमषष्ठे पादे पठिते । ते स्मृत्यन्तरगते स्याताम् ।

अनयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्महसि ध्रुवम्

इति स्वच्छन्देऽपि दर्शनात् । अहमीति पाठाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । अहंकारादेशमात्रत्वात् । तथा च भूमप्रक्रमे अथातोऽहंकारादेश एवेत्युपक्रम्य श्रुतौ

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं
पुरस्तादहं दक्षिणतोहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् ।

इत्येवं भूमस्वरूपमहंकारेण प्रदर्शितमिति स एव भूमा परोऽहम् । तथा च विरूपाक्षपञ्चाशिकायामभिहितम्—

अहमेकोऽनस्तमितप्रकाशरूपोऽस्मि तेजसां तमसाम् ।। इति ।

रहस्यागमे च—

पूर्णाहन्तात्मभावेन कृत्रिमाहन्तया विना ।
आत्मानमात्मना साक्षाद् यः पश्यति स पश्यति ।। इति ।

इदं तु बोध्यम्। अत्र सर्वत्राहमिति लक्षणया तत्त्वमस्यादिवत्परबोधकं भवेत्। अन्यथा त्वकारहकारात्मकप्रकाशविमर्शभेददर्शनात्तस्य तत्त्वातीतत्वं दुर्घटमेव स्यात्।

"नात्र कालः कलाभावो नैकता न च देवता"

इत्येवं स्वच्छन्दे कालकलादेः सर्वस्य प्रतिषेधात्। यदि चाकारहकारद्योत्यविभागपरित्यागः क्रियते तदा परस्मिन् महसोत्यत्रैव पर्यवसानं भवतीति। एतदेव परं महः

"निर्गुणः प्रकृतेरन्यः"

इत्येवं शारदातिलकोक्तो निष्कलः शिवः। तत्सत्तानतिरिक्तसत्ताकत्वात्तत्र सामरस्यमनयोर्भवति। तन्मात्रावभासकालेऽपरं सामरस्यं जीवन्मुक्तगम्यम्। परमं तु सामरस्यं विदेहमुक्तमात्रगम्यमिति रहस्यम्।

ननु तस्य महसो देवीत्वं कुतः? न हि स्त्रीत्वं तत्र संभाव्यते। कालकलाभावाद्यतीतत्वात्। तथा च श्रुतिः—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ इति।

अमृतानन्दयोगिनश्च वर्णयामासुः—

बैन्दवे परमाकाशे सच्चिदानन्दलक्षणे।
निष्प्रपञ्चे निराभासे निर्विकल्पे निरामये॥
अनुत्तरचमत्कार परामर्शपवित्रिते।
निरुत्तरमहाशून्ये शून्यशून्यान्तवर्जिते॥
स्त्रीपुन्नपुंसकाख्याभिः कल्पनाभिरकल्पिते।
आदिमध्यान्तनिर्मुक्ते भावपञ्चकभासिते॥
सर्वोपमानरहिते प्रकाशानुभवात्मके॥ इत्यादि।

यदि च यत्किंचिल्लिङ्गं कल्प्यते तदा प्रसिद्धः शिव इत्येव वक्तुमुचितम्।

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।

इति शारदावचनेन तस्य शिवत्वेन वर्णनात्। तथा च "ततस्त्वं षड्विंशा भवसी"ति न साधु संगच्छत इति चेत्। सत्यम्। अचिन्त्यस्य वाङ्मनसातीतस्य शास्त्रानुभवमात्रगम्यत्वात् श्रीविद्योपासकानां देवीत्वेन तदनुभवात् त्वं षड्विंशेत्युक्तिः।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।

इति हि शास्त्रकाराः संजानते । तथा च वामकेश्वरे—

प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम् ।
अद्यापि यस्या जानन्ति न मनागपि देवताः ॥ इति ।

परमानन्दयोगिनोऽप्याहुः—

इंदृगियत्तादिवचो दूरतरं स्वानुभूतिसंवेद्यम् ।
तत्तादृशस्फुरत्ताशेषं संवित् कथं नु सा वाच्या ॥ इति ।

रहस्याम्नाये चाभिहितम्—

शिवकामात् परं तत्त्वं वर्ण्यते इति चेच्छृणु ।
स चोदयः प्रिये वक्तुं नालं वाग्विषयातिगम् ॥

इति । तथा च वाचामगोचरस्य मनोऽविषयस्य स्वसंवेद्यस्य तर्काविषयत्वादागमादनुभवाच्च देवीत्वेन वर्णनमुपपद्यते ।

नन्वयमनुभवकलहः । अनुभविभिरेव शिवत्वेन वणर्नादिति चेन्न । श्रुतिप्रतिपादितसर्वलिङ्गशून्यनिर्विकारनिरञ्जनतत्त्वस्यैव परमार्थत्वेऽपि तस्य श्रीविद्योपासनाद्वारैव प्राप्तुं शक्यत्वेन द्वारस्य देवीत्वेन तस्य देवीस्वरूपत्वेन वर्णनोपपत्तेः । न च शिवाद्युपासकानां शिवादेर्द्वारत्वात्तद्रूपेणापि तर्हि वर्णनं स्यादिति वाच्यम् । उपास्तेरेतस्याः फलमपि च सर्वाधिकमभूद्" इति वक्ष्यमाणत्वाद् मोक्षात्परममहोरूपेणावस्थानात्मकादन्यस्य सर्वाधिकत्वासम्भवेन श्रीविद्योपासनाया एव तत्फलत्वेन द्वारस्य देवीत्वध्रौव्यात् । न च शैवादयस्तत्तदुपासनायाः सर्वाधिकफलत्वं वदिष्यन्तीति पुनर्विनिगमनाविरह एवेति वाच्यम् । श्रीविद्यासपर्याकारिणामेवं वक्तुमशक्यत्वात् । न हि तन्त्रान्तरोक्तं सर्वमपि शक्यं स्वीकर्तुम् । वैशेषिकाद्युक्तद्वैतवादस्यापि स्वीकर्तव्यतापत्तेः । तस्माद् द्वारस्य देवीत्वात् ततस्त्वं षड्विंशेत्युपपन्नमेव, परमे महसि तु न कश्चन विवादावकाश इत्यास्तां विस्तरः ।

विधिग्रन्थिभेदनानन्तरं ज्योत्स्नामयलोकं गत्वा कुण्डलिनीपराशक्तिः शिवतत्त्वेन मिलिता जयतीत्युक्तं "ततो गत्वा ज्योत्स्ने"त्यादिना । तच्च मिलनं तत्त्वातीतमिति चोक्तं "ततस्त्वं षड्विंशे"त्यनेन । तत्प्राप्तिः कथमिति जिज्ञासां पूर्वोक्तचतुर्धैक्यकलनासाधनोक्त्या शमयति—त्रिखण्ड

इति। स्वान्ते दहराकाशे परमपदपर्यङ्कसदने परे सादाख्ये सहस्रदलगत-शुद्धपूर्णचन्द्रबिम्बे श्रीचक्ररूपे त्रिखण्डे, अत्रापि त्रिखण्डसत्त्वोपगमात्। सहस्रारचन्द्रस्य त्रिखण्डचक्रत्वतौल्यात्। मतान्तरेऽपि तत्र बिन्दुरूप-त्रिकोणस्वीकारेण सूक्ष्मतमसोमसूर्यानलोपगमात्।

मिहिरबिन्दुमुखीं तदधोलसच्छशिहुताशनबिन्दुयुगस्तनीम्।
हसपरार्धकलारशनास्पदां भजति नित्यमिमां परदेवताम्॥

इत्यादिवचनात्। यद्यपि सेयं चित्कला परमा सर्वव्यापिनी। न तु सहस्रारपरिच्छिन्ना। तथाप्युपासकानां सहस्रदलकमलगतश्रीचक्रात्मक-चन्द्रबिम्बे एव प्रत्यक्षं भवति तस्य तदभिव्यञ्जकत्वादिति तत्र वर्तमान-त्वमुच्यते। तदभिव्यक्तिश्च चतुर्धैक्यकलनादिति तत्र भगवतीप्रत्यक्षता-शास्त्रसिद्धान्तोपपत्तिः।

अथवा सहस्रारकमलगतचन्द्रविम्बात्मकश्रीचक्रे त्रिखण्डेऽस्मिन् स्वान्ते स्वमध्य इत्यर्थः। अत्रैव प्राग् व्याख्याताः सुधासिन्धुप्रभृतयः।

सृष्टिचक्रं सुधासिन्धुः सौभाग्यं सुरवाटिका।
दशारयुगलं रत्नद्वीपं नीपवनं तथा॥
चिन्तामणिगृहं रम्यमष्टारं परमेश्वरि।
त्रिकोणं मञ्चरूपं तु बिन्दुचक्रं सदाशिवः॥

सृष्टिचक्रं शिवचक्रचतुष्टयम्। सौभाग्यं चतुर्दशारम्। शेषं स्पष्टम्। स्वान्ते मध्ये। "सन्तो वनान्तं गता" इत्यादिदर्शनात्। न च प्रान्तार्थत्वं तत्रेति वाच्यम्। तथापि फलतो मध्यार्थपर्यवसानावश्यकत्वात्। भावनाश्च नानाविधाः

सत्यलोके बीजकोषे चिन्तामणिगृहे शुभे।
ध्यायेन्निरञ्जनां देवीं रत्नसिंहासनोपरि॥

इति निर्वाणतन्त्रे। कुलार्णवादौ तु

बिन्दुरूपं परं ब्रह्म सहस्रदलसंस्थितम्।
कर्णिकान्तस्त्रिकोणान्तर्मण्डलत्रयमण्डितम्॥

इति। मण्डलत्रयेण वह्निसूर्यसोमात्मकमण्डलत्रयेण। तस्यैव श्रीचक्ररूपत्व-मपि संभवति। कङ्कालमालिन्यादौ तु—

तत्कर्णिकायां देवेशि अन्तरात्मा ततो गुरुः ।
सूर्यस्य मण्डलं चैव चन्द्रमण्डलमेव च ॥
ततो वायुर्महानामा ब्रह्मरन्ध्रं ततः स्मृतम् ।
तस्मिन् रन्ध्रे विसर्गं च नित्यानन्दं निरञ्जनम् ॥
तदूर्ध्वे शङ्खिनी देवी सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ।
तस्याधस्ताच्च देवेशि चन्द्रमण्डलमध्यगम् ॥
त्रिकोणं तत्र संचिन्त्य क्षयहीनात्मिका कला ।
तन्मध्ये कुटिला निर्वाणाख्या सप्तदशीकला ॥

इत्यादि । सर्वमेतत्प्रक्रियाभेदेन भाव्यमानत्वात्परस्परमविरोधि । श्रीविद्योपासनायां तु यथार्चिता प्रक्रियेति । तस्मिन् श्रीचक्रे परं सादाख्यं परं बिन्दुः । तत्र शिवरूपपरमपदपर्यङ्कसदनेऽस्मिन् निवसतीति पूर्ववत् । तथा चोक्तं प्रत्यभिज्ञासूत्रे—

तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसंहाराधिकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् ॥ इति ।

यस्यैषां प्रतिभात्येतत्परार्थंक्रमरूपिता ।
अक्रमानन्दचिद्रूपः प्रमोदात्स महेश्वरः ॥
स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः ।
संवित्तिदेवताचक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ ॥

इत्यभिनवगुप्तपादाश्च । स्वच्छन्देऽप्युक्तं—

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ इति ।

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति" "परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ॥ ३६ ॥

क्षितौ वह्निर्वह्नौ वसुदलजले दिङ्मरुति दि-
क्कलाश्रे मन्वश्रं दृशिवसुरथो राजकमले।
प्रतिद्वन्द्वे तद्ग्रन्थिस्तदुपरि चतुर्द्वारसहितं
महाचक्रं चैकं भवति भगकोणैक्यकलनात् ॥३७॥

मूलाधार में त्रिकोण और स्वाधिष्ठान का ऐक्य है। स्वाधिष्ठान में अष्टकोण और मणिपूर का ऐक्य है। मणिपूर में अन्तर्दशार और अनाहत का ऐक्य है। अनाहत में बहिर्दशार और विशुद्धि का ऐक्य है। विशुद्धि में चतुर्दशार और आज्ञा का ऐक्य है। आज्ञा में अष्टदलादि (४) का ऐक्य है। सहस्रार में मूलाधारादि दो-दो के बीच में जो तीन ग्रन्थियाँ, रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और ब्रह्म ग्रन्थि हैं वे, और वे दो-दो और भूपुरत्रय सहित संपूर्ण श्री चक्र सभी एक हो जाते हैं। षट्चक्रैक्य भावना का ही यह परिणाम है ॥३७॥

अन्वयार्थबोधिनी

क्षितौ=मूलाधारे श्रीचक्रत्रिकोणैक्यं स्वोपरिस्थस्वाधिष्ठानकारणवह्न्यैक्यं च। एकं भवतीति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयाद् वसुदलजले इत्याद्युत्तरानुरोधेन त्रिदलवह्निरित्यर्थतो लाभाच्च। एवमुत्तरत्रापि व्याख्यास्यमानार्थलाभ ऊह्यः। वह्नौ = स्वाधिष्ठाने श्रीचक्राष्टारैक्यं स्वोपरिस्थजलात्मकमणिपूरैक्यं च। तथाभूतवसुदलजले = अष्टारात्मकजले मणिपूरे श्रीचक्रीयान्तर्दशारैक्यं स्वोपरिस्थानाहतवाय्वैक्यं च। तथाभूतदिङ्मरुति दशारवायावनाहते श्रीचक्रीयबाह्यदशारैक्यं स्वोपरिस्थषोडशदलविशुद्ध्यैक्यं च। तथा चाकाशकलाश्रे षोडशदले चतुर्दशारैक्यं स्वोपरिस्थाज्ञादलैक्यं च। दृशि = द्विदलात्मिकायामाज्ञायां श्रीचक्रीयवसुदलादिचतुष्टयैक्यम्। राजकमले = सहस्रारे सर्वैक्यम्। कथम्? प्रतिद्वैतं = द्वयोर्द्वयोश्चक्रयो रुद्रविष्णुविधिग्रन्थयः। तच्च द्वैतत्रयं तदुपरि चतुर्द्वारसहितं महाचक्रं श्रीचक्रं च राजकमले एकं भवति। कस्मात्? भगकोणैक्यकलनात् = षट्चक्रैक्यभावनात्मकपूजनात् ॥३७॥

अमृत झरिका

अत्र केषांचित् प्रथमपादे **"वसुरथजले"** इति पाठः, द्वितीयपादे **"दृशि वसुदलं राजकमलम्"** इति पाठः, तृतीयपादे **"प्रतिद्वयेतदि"**ति **"चतुर्द्वारसहितमि"**ति च पाठः, चतुर्थपादे **"महीचक्रमि"**ति च पाठः। तदनुसारेण व्याख्यायते।

चतुर्धैक्यकलनात् पराख्ये सादाख्ये साधक एकीभूय निवसति मुक्तो भवति इत्युक्तं पूर्वस्मिन् श्लोके। मुक्तिश्चाद्वैतावस्था। तत्सम्पत्तिश्च षट्चक्रश्रीचक्राद्यैक्यसंपादनाद् भवतीति सहस्रारगतश्रीचक्रस्य षट्चक्रस्य चैक्यं संपादयितुमाह—क्षिताविति। क्षितितत्त्वस्य मूलाधारस्थितत्त्वात् क्षितिर्मूलाधारं चतुर्दलं, तत्र वह्निः। वह्नेस्त्रित्वाद् वह्निपदेन त्रिकोणं गृह्यते। एकं भवतीति चतुर्थपादस्थं सर्वत्र सम्बध्यते। क्वचित् साक्षात्। क्वचिल्लिङ्गव्यत्ययेन। क्षितौ वह्निरेको भवति ऐक्यमापद्यत इत्यर्थः। एवमुत्तरत्र। वह्नौ, स्वाधिष्ठाने वह्नितत्त्वस्वीकाराद् वह्नौ स्वाधिष्ठाने षड्दलपद्मे वसुरष्टारचक्रमेकं भवति। वसूनामष्टसंख्याकत्वाद्वसुरित्यनेनाष्टारचक्रग्रहणम्। जले, मणिपूरे जलतत्त्वस्वीकाराद्दशदले मणिपूरे दिक् दशारचक्रमेका भवति। दिशां दशत्वाद्दिक्पदेनात्रान्तर्दशारग्रहणम्। मरुति, अनाहते मरुत्तत्त्वस्वीकाराद् द्वादशदलेऽनाहते दिक् बहिर्दशारमेका भवति। कलाश्रे कलानां षोडशत्वात् षोडशदले विशुद्धिचक्रे इत्यर्थः। नभस्तत्त्वस्वरूप इति बोध्यम्। मन्वश्रं चतुर्दशारमेकं भवति। दृशोर्द्वित्वाद्विदले दृग्द्वयमध्यत्वाच्चाज्ञाचक्रे वसुदलं राजकमलं च श्रीचक्रगतमष्टदलकमलं षोडशदलकमलं चेत्यर्थः। नृपदलमिति प्रागपि पठितं षोडशदलपद्मम्। प्रतिद्वि, द्वे द्वे प्रति इति प्रतिद्वि, प्रतिद्वयं तदुपरि, द्वयोरुपरि मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरुपरि, मणिपूरानाहतयोरुपरि, विशुद्ध्याज्ञयोश्चोपरीति यावत्। एतद्ग्रन्थिः एतेषां त्रिसंख्याकानां द्वयानां ग्रन्थिः रुद्रग्रन्थिविष्णुग्रन्थिर्ब्रह्मग्रन्थिश्चेत्यर्थः। जातावेकवचनम्। एको भवति। आधाराधिष्ठानयो रुद्रग्रन्थिरेको भवति। मणिपूरानाहतयोर्विष्णुग्रन्थिरेको भवति। विशुद्ध्याज्ञयोर्ब्रह्मग्रन्थिरेको भवतीति विवेकः। चतुर्द्वारसहितं महीचक्रं भूपुरत्रयमिति यावत्। एकं भवति। आज्ञायामेव। न च वृत्तत्रयाऽकथनेन न्यूनत्वमिति वाच्यम्। वृत्तत्रयस्य बहुत्रानुपादानदर्शनात्।

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके॥

इति भैरवयामले वृत्तत्रयपरित्यागदर्शनात् । तत्र बैन्दवपदस्य वृत्तत्रयार्थकत्वं कथं कथंचित्संपाद्यमेव । अस्तु वा महाचक्रमित्येव पाठः । चतुर्द्वारसहितमिति भूपुरत्रितयम् । महाचक्रमिति वृत्तत्रितयम् । चक्राकारस्थितेषु वृत्तत्रयस्य महत्वात् ।

कथमेतेषामुक्तानामेकीभाव इत्यत आह—**भगकोणैक्यकलनादिति ।**

"भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु"

इति कोशवचनात् श्रीकोणैक्यकलनादित्यर्थः । श्रीकोणं श्रीचक्रकोणमेव । तेनैक्यकलनमैक्यभावनात्मकसपर्या । भावनात्मकसपर्यया वस्तुत एवैकीभावो भवतीत्यर्थः ।

यद्यपि "त्रिकोणं चाधारं त्रिभुवननुतेऽष्टारमनघे" इत्यादिना प्रागपि त्रिकोणमूलाधाराद्यैक्यभावना प्रतिपादिता तथापि तत्र ग्रन्थित्रयैक्यं नाभिहितम् । तत्फलीभूत एकीभावश्च नोक्त इति तत्प्रदर्शनाय पुनरारम्भः कृतः । अपि चात्र क्षितौ वह्निरित्येवं तत्त्वानामुपादानात् पृथिव्यादितत्त्वानां मूलाधारादिपद्मानां त्रिकोणादिकोणानां चैक्यभावना तत्प्रयुक्तं तेषामैक्यं च लभ्यत इति विशेषः । भगकोणं षट्चक्रं तस्य श्रीचक्रेण यथोक्तरीत्यैक्यकलनाद् यथोक्तमेकत्वं भवतीति वा योजना ।

पाठान्तरे तावद् व्याख्या—ननु सहस्रारे मन्त्रमातृकैक्यं संभवति षट्चक्रैक्यं न संभवति स्थानव्यत्ययादित्याशङ्कायां मूलाधारादीनां स्वाधिष्ठानादिभिस्तादात्म्यात् सर्वतादात्म्यस्य सहस्रार उपपन्नत्वान्मैवमिति परिहरति—**क्षितावित्यादि ।** क्षित्यादिशब्देन तद्युक्तमूलाधारादिकं ग्राह्यम् । क्षितौ क्षितितत्त्वात्मके मूलाधारे वह्निःश्रीचक्रस्य त्रिकोणं स्वचक्रोपरिगतवह्निः स्वाधिष्ठानं च वर्तते । तदैक्यमित्यर्थः । वह्नौ बाह्यं श्रीचक्रगतवसुदलमष्टारं स्वोपरिगतजलं मणिपूरं च तादात्म्येन वर्तते इत्यर्थः । वसुदलजले मणिपूरे बाह्यं श्रीचक्रगतदिक्कोणं दशकोणं स्वोपरिस्थानाहतंवायुतत्त्वं च वर्तत इत्याह—**वसुदलजले दिङ्मरुत् ।** दिङ्मरुति अनाहते बाह्यं श्रीचक्रगतबहिर्दशारं स्वोपरिस्थषोडशदलविशुद्धिचक्रं च तादात्म्येन वर्तत इत्याह—**दिङ्मरुति दिक्कलाश्रेति ।** दिक्-दशारम् । कलाश्रं षोडशारम् । दिक्कलाश्रे बाह्यं श्रीचक्रगतं चतुर्दशारमाज्ञाचक्रं च वर्तत इत्याह—**दिक्कलाश्रे मन्वश्रं दृशोति ।** मन्त्रश्रे दृशोति सप्तमीद्वयं युक्तं प्रक्रमानुरोधात् । अथवाऽत्रापि मन्वश्रदृशोति समस्तपदमेव । ऋकारस्य रेफद्वयघटितत्वेन पूर्वस्य गुरुत्वम् । दृशोर्द्वित्वाद् द्विदलमाज्ञाचक्रम् ।

मन्वश्रदृशि बाह्यं श्रीचक्रगतं वसुर्वसुदलम् । अथो इति समुच्चये । षोडशदल-वृत्तत्रयभूपुरत्रयाणि समुच्चिनोति । राजकमले कमलानां राजा राजकमलं सहस्रारं तस्मिन् प्रतिद्वैतं ग्रन्थिर्ग्रन्थित्रयं तत् द्वैतं च उपरि सर्वबाह्य-मित्यर्थः । यच्चतुर्द्वारं चत्वारि द्वाराणि यस्मिंस्तद् भूपुरत्रयम् । उपरि च तच्चतुर्द्वारं तेन सहितं महाचक्रं श्रीचक्रं च चकारेण द्वैतत्रिकं ग्रन्थित्रिकं च संगृह्यते । सर्वमेतदेकं भवति एकीभवति । यद्यपि क्षितौ वह्निरित्या-दिना मूलत्त्वं क्षितेः प्रतीयते । अन्यथा वह्नौ क्षितिरित्यादि ब्रूयात् । तथापि घटे मृत्तिकेतिवत् प्रयोगः मृत्तिकायां हि घटः सन्नपि घटे मृत्तिकेति प्रयुज्यते । सर्वमूले जगदित्यतोऽन्ते राजकमले सर्वमभिहितम् । अत एव प्रक्रमानुसारेण वसुदले राजकमले इत्येवमाम्नायां बाह्यश्रीचक्रायवसुदला-दिकं स्वोपरिस्थसहस्रारं चैक्येन नाभिहितम् । वसुदलादेरपि कारण-त्वात्सहस्रारस्येति । सर्वस्य तत्रैवैकीभावस्य विवक्षितत्वात् । यद्यपि श्रौतक्रमेण क्षितौ जलं जले वह्निः कारणत्वेन । तथापि अत्र चक्रक्रमेणै-वमभिहितम् । तथा च वह्निपदेन तत्कार्यं जलमुपलक्षणीयम् । जलपदेन तत्र वह्निकिरणसत्त्वाद् वह्निरुपलक्षणीयः ।

एकं भवति । कथं ? भगकोणैक्यकलनात् । वसुदलादीनां चतुर्णा-मैक्येन निर्देशात् श्रीचक्रेऽपि षडेव चक्राणि । षट्चक्रे च षट्कण्ठोक्तान्येव कोणपदं चक्रपरं मन्तव्यम् । तथा च भगपदस्य षण्णां भग इतीङ्गनेति वचनात् षट्त्वसंख्यापरत्वात् षट्चक्रैक्यकलनात् सहस्रारं सर्वेणैकं भव-तीति बोध्यम् ॥ ३७ ॥

षडब्जारण्ये त्वां समयिन इमे पञ्चकसमां
सदा संविद्रूपां विदधति च षोढैक्यकलिताम् ।
मनो जित्वा चाज्ञासरसिज इह प्रादुरभवत्
तडिल्लेखा नित्या भगवति तवाधारसदनात् ।।३८।।

हे भगवती ! समय मार्ग के उपासक षट् चक्र में पांच समानताओं से युक्त संवित्स्वरूप आपको षोढा (छः प्रकार की) ऐक्य भावना से धारण करते हैं। आपके मूलाधार से उत्थित नित्य विद्युत् रेखा सदृश कुण्डलिनी शक्ति आज्ञा कमल में आकर मनोभेदन करती है। तब उसका सहस्रार कमल में प्रादुर्भाव होने से प्रत्यक्षदर्शन होता है ।। ३८ ।।

अन्वयार्थबोधिनी

हे भगवति ! **इमे समयिनः षडब्जारण्ये** = षट्चक्रे **पञ्चकसमां** = वक्ष्यमाणसाम्यपञ्चकयुक्तां **षोढैक्यकलितां** = षोढैक्यभावितां **संविद्रूपां** = चिद्रूपां **सदा विदधति** = विशेषेण धारयन्ति-चिन्तयन्ति। **तवाधारसदनाद्** = मूलाधाराद् उत्थिता **आज्ञासरसिजे मनो जित्वा** = आज्ञाकमलस्थमनो भित्वा **इह** = सहस्रारे **नित्या तडिल्लेखा** कुण्डलिनी **प्रादुरभवत्** = प्रादुर्भूता भवति ।। ३८ ।।

अमृत झरिका

परे सादाख्येऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्यकलनादित्येवं चित्कलातादात्म्येन निवासलक्षणा मोक्षावस्था कथिता। तत्र चाद्वैतभावः "एकं भवति भगकोणैक्यकलनात्" इत्यनेनोक्तप्रायः। अधुना तद्धेतुभूतं पराशक्ति-प्रादुर्भावं ससाधनमाह—**षडब्जेति।** षण्णामब्जानां मूलाधारादिस्थितानां चतुर्दल-षड्दल-दशदल-द्वादशदल-षोडशदल-द्विदलानामरण्ये समुदाये। किंचित्परित्यागो मा भूदित्यरण्यपदम्। न तु समुदायत्वावच्छिन्ने एकस्वरूप-चिन्तनार्थम्। हे भगवति ! इमे समयिनः। स्वस्य समयसरणीगामित्वादिमे इति प्रत्यक्षेण संनिकृष्टरूपेण वा निर्देशः। त्वां विदधतीत्यन्वयः। त्वां भगवतीं विदधति विशेषेण धारयन्ति मनसा। उपासत इति यावत्।

यद्यपि मूलाधारस्वाधिष्ठानयोस्तामिस्रलोकत्वात् समयिनां तत्रोपासना नास्ति। तथापि कुण्डलिनीसमुत्थानौपयिकतया तत्र चिन्तनं भवत्येव। अत एव भगवत्पादैः सौन्दर्यलहर्यां—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।

इत्येवं समयासहितस्य नवात्मनो मननं मूलाधारे,

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्त्तं जननि महतीं तां च समयाम्।

इति समयासहितसंवर्त्तशिवस्येडनं स्वाधिष्ठाने चाभिहितम्। यद्यपि च लक्ष्मीधराचार्यैः सौन्दर्यलहरीव्याख्यायां प्रत्युत मणिपूरादिकमपि परित्यज्य समयिनां केवले सहस्रारे एव पूजा भवतीत्युक्तम्। तथापि तत् सहस्रार-पूजनमात्रेणापि संसिद्धिर्भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेण नेयम्। न पुनरन्यत्र पूजा-निषेधपरतया। उक्तभगवत्पादवचनस्यान्यथा नेतुमयोग्यत्वात्। योगिभि-रपि कुण्डलिन्या मूलाधारादौ चिन्तनस्वीकाराच्च। मूलाधारे तच्चिन्तन-मात्रेण कौलत्वतामसत्वयोः प्रसक्तौ योगिनां तथात्वप्रसक्तिः स्यात्। न हि तत् केनाप्युपगतमित्युक्तमस्माभिरधस्तात्। समयिनां पूजा तु मूलाधार-स्वाधिष्ठानयोर्नास्त्येव। अत एव अत्र उपासत इत्याद्यनुक्त्वा विदधतीत्येता-वन्मात्रमुक्तम्। न च षट्चक्रश्रीचक्रादिपरस्परषोढैक्यभावनैव पूजा सपर्यापर्यायेति तस्या वारणमपि मूलाधारादावशक्यकार्यम्। मूलाधारादि-परित्यागे तद्घटितषट्चक्रैक्यभावनानुपपत्तेरति वाच्यम्। पूजापदेन चतुर्हस्त-दशहस्तादिस्वरूपदेवीविषयकपूजनस्य, पादार्घ्यादिरूपस्य मणिरवचित-भूषाविरचितस्य वा विवक्षितत्वात्।

कीदृशीं विदधति? वक्ष्यमाणपञ्चकसमाम्। पुनश्च संविद्रूपाम्। एतदेव रहस्याम्नाये समभिहितं रूपम्—

तादात्म्यादावयोर्नित्यं जगत्प्राणावुभौ हि नौ।
ज्ञात्वैतत् सकलान् सम्यग् जानीयात् संविदं पराम्॥ इति।

एतामेवोपादायोक्तं प्रत्यभिज्ञाहृदये—

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः॥

चितिरेव भगवती संविद्रूपा पराशक्त्यात्मिका स्वतन्त्राऽनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना विश्वसिद्धौ हेतुरित्यर्थः ।

कथं विदधति ? तत्राह—**षोढैक्यकलितामिति** । षोढैक्येन प्राग्व्याख्यातेन कलितां मणिपूरस्फुरिताम् । तत्रोपासकानां मणिपूरे दशहस्ताया भगवत्या दर्शनमभिहितं प्राक् । मतभेदेन चतुर्हस्ताया वा । एवं हृदयकमले विशुद्धौ च दर्शनमुपपादितम् । एवं स्फुरितां भगवतीं समयिनः पञ्चकसमां विदधति पञ्चविधसाम्येन वक्ष्यमाणेन विधारयन्तीति योजना । ततः किं ? तत्राह—**मनो जित्वेति** । आधारसदनान्मूलाधारादुत्थिता नित्या तडिल्लेखा कुण्डलिनी आज्ञासरसिजे आज्ञाचक्रे समागता मनो जित्वा भित्वेत्यर्थः । इह सहस्रारे प्रादुरभवत् प्रादुर्भूता भवतीत्यर्थः । सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरमिति प्रक्रतत्वादिहेत्यनेन सहस्रारपरामर्शः । एतच्चाभिहितं सौन्दर्यलहर्यां—

> **महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं**
> **स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि ।**
> **मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुवलयं**
> **सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥** इति ।

अत्र प्रादुरभवदित्युक्त्या सहस्रार एव कुण्डलिन्याः प्रत्यक्षत्वमुक्तं भवति । मणिपूरे दशहस्तायाश्चतुर्हस्ताया वा यत्स्फुरणं तत्तु न कुण्डलिन्याः । कुण्डलिन्या हि स्वरूपमत्रैवाभिहितं—**तडिल्लेखेति** । विद्युल्लेखोपमा हि सा । एवमेव हि सा सर्वत्र वर्णितोपलभ्यते । तथा चोक्तं पूर्णानन्दयोगिभिः

> **तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी**
> **ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संच्छादयन्ती स्वयम् ।**
> **शंखावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा**
> **सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत्सार्धत्रिवृत्ताकृतिः ॥** इति ।

शारदातिलके चाभिहितं—

> **आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ।**
> **शङ्खावर्तक्रमाद् देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥**
> **कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी** ॥ इत्यादि ।

श्रीक्रमेऽप्येवंस्वरूपा निरूपिता—

अधोवक्त्रा स्थिता देवी ऊर्ध्वपुच्छातिशोभना ।
अत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥
परिस्फुरन्ती सर्वात्मा सुप्ता हि भुजगाकृतिः
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ इत्यादि ।

एवं चास्या यथावर्णितचतुर्हस्तदशहस्तादिस्वरूपत्वं नास्ति । यद्यपि ध्यानविशेषे तस्या देव्याकारो वर्णितः । तथा हि—

ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीमिष्टदेवस्वरूपिणीम् ।
सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम् ॥
नवयौवनसंपन्नां सर्वाभरणभूषिताम् ।
पूर्णचन्द्रप्रभां रक्तां सदा चञ्चललोचनाम् ॥

इति । कङ्कालमालिन्यां तु विशेषः । तत्र हस्तादेरपि वर्णनात् ।

कोटिचन्द्रप्रतीकाशां परंब्रह्मस्वरूपिणीम् ।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च वराभयकरां तथा ॥
तथा पुस्तकवीणां च धारिणीं सिंहवाहिनीम् ।
गच्छन्तीं स्वासनं भीमां नानारूपधरात्मिकाम् ॥

तथापि यादृशं चतुर्भुजास्वरूपं दशभुजास्वरूपं वा प्राग्दर्शितं तादृशं तु नास्त्येव । न चेष्टदेवस्वरूपिणीमिति विशेषणात्तद्रूपस्यापि संभव इति वाच्यम् । तावतैवोपपत्तौ षोडशवर्षीयामित्यादिविशेषणानर्थक्यप्रसङ्गात् । तस्मादिष्टदेवस्यैव रूपान्तरमिदमित्येवं विभावनीयमित्येव तदर्थः । नानारूपधरात्मिकामित्यस्यापि त्रिनेत्रत्वादिपूर्वोक्तनानारूपधरत्वमेवार्थः । अन्यथा त्रिनेत्रत्वादिवर्णनानर्थक्यप्रसङ्गात् । तस्मान्मणिपूरे न कुण्डलिनी प्रत्यक्षीभवति किन्तु परा भगवत्येव । अन्यच्च यद्वक्तव्यं तत्प्रागेव निरूपितमस्माभिः ।

इदं तु बोध्यम् । कुण्डलिनीप्रबोधनार्थप्रयत्नकाले अपानाकुञ्चनादौ क्रियमाणे यथोक्तध्यानं मूलाधारे कर्तव्यमेव । स्वरूपविशेषे तु यथासंप्रदायं विकल्पः । तडिल्लेखारूपेण वा वराभयपुस्तकवीणाहस्तादिरूपेण वा । न चोपसंहारन्यायेन परस्परगुणोपसंहारोपपत्तावष्टदोषदुष्टविकल्पो न युक्त इति वाच्यम् । भुजगाकृतित्वोर्ध्वपुच्छत्वादिना सिंहवाहिनीवीणापुस्तकधारिण्या-

दिस्वरूपसमुच्चयायोगात् । यद्यपि सार्धत्रिवलयभुजगाकारत्वमविकल्पित-रूपमेव । तथापि नानारूपधरामित्युक्तरीत्या धृतत्रिनेत्रादिरूपध्यानविकल्पः । ताद्रूप्येण किंचित्कालं ध्यातव्यमिति ।

"बालाग्रस्य सहस्रधा विदलितस्यैकेन भागेन या
सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी",

इत्यादि भट्टोद्धृतवचनप्रतिपादितातिसूक्ष्मस्वरूपस्य पीनोन्नतपयोधरामित्यनेनैकवाक्यत्वायोगात्कदाचित्तत्स्मरणमात्रे पर्यवसानात् । किं चाधिकस्याधिकं फलमिति सिद्धान्ताद् यथोक्तनानारूपचिन्तने सत्यधिकफलप्राप्तिरित्येतावतैवोपपत्तौ व्यवस्थितविकल्पाश्रयणमपि न कर्तव्यम् । योगिनामेवंप्रकारध्यानविरहेऽपि फलस्य प्रत्यक्षत्वाच्च । कालिकाश्रुतौ—

तस्याः शिखाया मध्ये तु अधऊर्ध्वंव्यवस्थिताम् ।
स ब्रह्मा स शिवः शूरः स एव परमेश्वरः ॥
स एव विष्णुः स प्राणः स कलाग्निः स चन्द्रमा ।
इति कुण्डलिनीं ध्यात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

इति ध्यानविशेषस्य फलविशेषश्रवणाच्च । तथा च कुण्डलिन्या भावनया प्राप्तब्रह्मादिरूपवदेव यथोक्तदेवीरूपत्वमपि । सर्पराज इति पुंस्त्वेनापि प्रयोगदर्शनात् ।

किं च सिद्धान्ततोऽपि सा न साक्षात् पराशक्तिरूपा । किन्तु तदंशात्मिकैव । अत एव तस्या मध्ये पराशक्तेर्वर्णनं पूर्णानन्दैः कृतम्—

तन्मध्ये परमा कलातिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा ।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद्भासया भासते
सेयं श्री परमेश्वरो विजयते नित्यप्रबोधोदया ॥ इति ।

तन्मध्ये—कुण्डलीमध्ये । भट्टोद्धृततन्त्रवचनं च—

सूक्ष्मा कुण्डलिनीमध्ये ज्योतिर्मात्रा परा मता ॥ इति ।

न चैवं पराशक्तेः कुण्डलिनीतोऽपि सूक्ष्मत्वे तस्या अपि कथं चतुर्भुजत्वादि स्थूलरूपसंभव इति वाच्यम् । पराशक्तेर्व्यापकत्वात्तनुत्वानुपपत्तेः । तस्याः सर्वविधरूपग्रहणसंभवात् । उपास्यं रूपं तु यथोक्तमित्यन्यत् । किं च—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥

इत्येवं शक्तिनादबिन्दूनामुद्भवमभिधाय—

भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।

इति ततो रवोत्पत्तिमुक्त्वा तस्य शब्दब्रह्मत्वं चेतनत्वं च व्यवस्थाप्य—

"तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्"

इत्येवं शारदातिलके यथोक्ताव्यक्तात्मरवाभिन्नं चैतन्यरूपं शब्दब्रह्मैव कुण्डलीभावं प्राप्नोतीति वर्णनात् पराशक्तेर्दूरव्यवहितमपरास्वरूपं कुण्डलीति गम्यते । पराशक्तिर्हि प्रकृतेरन्या निर्गुणशिवरूपा वा, सकलशिवरूपा वा "आसीच्छक्तिरि"त्युक्ततदुत्पन्नशक्तिर्वा भवितुमर्हति । न तु तदुत्पन्ननादजन्यभेदनोत्पन्नशब्दब्रह्मरूपकुण्डलिनी, परात्वं च कुण्डलिनीशक्तेरापेक्षिकम् । पश्यन्तीमध्यमाद्यपरावागपेक्षया तस्याः परत्वात् ।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानुगा शुभा ।
परापरविभागेन पराशक्तिरियं स्मृता ॥

इत्युक्तेः भूमिरापोऽनलोवायुरित्यभिधाय गीतायाम्—

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो"

इत्युक्तपरापरप्रकृतिद्वयादपि परत्वात् । भूम्यादिकं जीवश्च परिच्छिन्नौ । इयं पुनरपरिच्छिन्नेति युक्तं तस्याः परस्मादपि परत्वमिति । सर्वथापि मणिपूरानाहतादौ यद् भगवत्याः प्रत्यक्षत्वमुक्तं तत्कुण्डलिन्या एव पराशक्तिरूपायाः, सैव पराशक्तिः सहस्रारेऽपीति मतमनुपादेयमेव ॥ ३८ ॥

भवत्साम्यं केचित्त्रितयमिति कौम्भप्रभृतयः
परं तत्त्वाख्यं चेत्यपरमिदमाहुः समयिनः ।
क्रियाऽवस्थारूपं प्रकृतिरभिधापञ्चकसमं
तदेषां साम्यं त्वामवनिषु च यो वेत्ति स मुनिः ॥ ३९ ॥

अगस्त्य प्रभृति कई महर्षि पर, तत्त्व और आख्या से शिव और शक्ति का तीन साम्य कहते हैं। समयमार्गी पांच साम्य कहते हैं। क्रिया, अवस्था, रूप, प्रकृति और नाम इनसे शिव और शक्ति की समता है। जो मूलाधारादि स्थित शिव शक्तियों में भी यह साम्य समझता है वही मुनि कहलाने योग्य है॥ ३९ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

केचित् कौम्भप्रभृतयः = अगस्त्याद्याः **परं**, तत्वं चाख्या च **तत्त्वाख्यम्** एतैः **भवत्साम्यं** = भवतोः शक्तिशिवयोः साम्यं **त्रितयमित्याहुः** । **समयिनः ततोऽपरं** = भिन्नमिदमाहुः, यन्नाम-क्रिया चावस्था च रूपं च प्रकृतिश्चाभिधा चेति **पञ्चकसमं** = साम्यपञ्चकमिति । अवस्था = स्थितिरवस्थानम् । प्रकृतिः = स्वभावः । अभिधा – नाम । **तदिदं** पञ्चकमेषां शिवशक्तीनां **साम्यं** स्याद् । तदिदम**वनिषु** = षट्चक्रेषु **च यो वेत्ति स एव मुनिः** ॥ ३९ ॥

अमृत झरिका

पञ्चकसमामित्युक्तमेव विवरीतुमाह—**भवदिति** । भवत्साम्यं केचित् कौम्भप्रभृतयः । कुम्भे भवः कौम्भोऽगस्त्यः । अगस्त्यादय इत्यर्थः । कौलप्रभृतयः इति पाठान्तरं दृश्यते । तत् कौलग्रन्थेषूक्तत्वमात्रेण नेयम् । कौलत्वप्रयोजकतामसत्वस्यादर्शनात् । कौम्भादयो भवत्साम्यं त्रितयमित्याहुः । भवत्याः साम्यं भवत्साम्यम् । "**सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः**" । किं तत् त्रितयमिति, उच्यते-**परमिति** । परसाम्यं तत्त्वसाम्यमाख्यासाम्यं चेत्यर्थः । तत्त्वं चाख्या चेति विग्रहे समाहारद्वन्द्वान्नपुंसकत्वम् । शिवशक्त्योरुभयोरपि परत्वेन पररूपत्वपरारूपत्वाभ्यां साम्यमेकं सर्वत्र । चिद्धातुत्वेन साम्यं सर्वत्र । आख्या व्याख्यास्यमाना ।

अपरमन्यत्प्रागुक्तात्साम्यत्रयादिदं समयिन आहुः। किं? क्रियेति। क्रिया चावस्था च रूपं च प्रकृतिश्चाभिधा चेति पञ्चकम्। तादृशपञ्चकसमम्। पञ्चकेन साम्यमित्यर्थः। समं साम्यं यातीति समया। साम्यं च शम्भुना बोध्यम्। एवं देव्या सह साम्याच्छिवोऽपि समय एव तद्वत्त्वात्समयिन उच्यन्ते।

तत्र क्रियासाम्यं शक्तिशिवयोर्जगत्कर्तृत्वेन बोध्यम्। परमशिवयोः स्थूलक्रियाविरहात्। जगत्कर्तृत्वमिच्छामात्रेण। तथा चोक्तं—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः॥

परमेश्वरसाम्यं क्रियया भगवत्यामप्याह परावासनायां—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वयमेवात्मविग्रहम्।
स्वयमेव समालोक्य संतुष्टां परमेश्वरीम्
प्रकाशजीवसंलीन–विमर्शात्मस्वरूपिणीम् ॥ इत्यादि।

स्वच्छन्दे चोक्तं—

तत्त्वारूढः स भगवान् शिवः परमकारणम्।
शिवः सर्वस्य कर्तेयं शक्तिः कारणमुच्यते॥ इति।

श्रुतिरपि भवति—

या लिङ्गमया निर्वितानहेतुर्याभ्यामिदं विश्वमादौ बभूव॥इति।

अवस्था नामावस्थानम्। द्वयोरवस्थानयोः साम्यमेकाश्रयत्वमेकस्वरूपेण वा तत्रैकाश्रयत्वं यथा—

स्वेच्छाविभावितानन्दजगद्रश्मिविलासवत्।
नौमि संविन्महापीठं शिवशक्तिपदाश्रयम्॥

संविद एव शिवशक्त्युभयाश्रयत्वम्।

उभयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्महसि ध्रुवम्।

इति स्वच्छन्दोक्तेश्च। तत्तत्स्वरूपेणावस्थानसाम्यमपि भवति। यथा बिन्द्ववस्थायामुभयोर्बिन्दुरूपत्वम्। तथा चोक्तं पुण्यानन्दैः—

सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसंकुचत्प्रसरम्।
वागर्थसृष्टिहेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम्॥

सितशोणबिन्दुयुगलं कामेश्वरकामेश्वरीरूपमिति तत्र टीका। परस्परानुप्रवेशोऽप्यवस्थानसाम्यमेव।

रूपसाम्यं परस्परतादात्म्यात् सिद्धम्। नहि विरूपयोस्तादात्म्यं भवितुमर्हति गवाश्वयोरिव। तादात्म्यं चाभिहितं बहुधा—

"नानयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव"। इत्यादौ।
आवयोर्जगदात्मत्वात्तादात्म्यं चावयोरपि।
तादात्म्यादावयोर्नित्यं जगत्प्राणावुभौ हि नौ॥

इत्यादौ च जगत्प्राणत्वादिनापि साम्यमभिहितम्। सच्चिदानन्दरूपत्वेनापि साम्यं रूपसाम्यमेव।

सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्।

इति शारदायां शिवरूपमुक्तम्। श्री भागवते देवीरूपमभिहितं

सच्चिदानन्दरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि॥ इति।

प्रकृतिर्नाम स्वभावोऽकृत्रिमभावः। स्वातन्त्र्यसर्वज्ञत्वादिः प्रकृतिरुभयोः।

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा॥

इत्यादिवचनसिद्धः।

तदस्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च॥

न च कर्तृत्वं क्रियेति प्रथमं व्याख्यातमधुना स्वभाव उच्यत इति विसंगतिरिति वाच्यम्। जगदुत्पत्तिविशिष्टत्वेन कर्तृत्वं क्रियात्मकम्। कर्तृत्वशक्तिस्तु स्वभावो नित्यत्वात्। अत एवोक्तमकृत्रिमो धर्म इति।

अभिधा नामाख्या। तत्साम्यं च परः परा, शिवः शिवा, कामेश्वरः कामेश्वरीत्येवमाद्या आख्या उभयत्र समानरूपेण प्रयुज्यन्ते।

परार्णाख्यशिवेच्छायां सत्यां सा विमर्शा तदा।
अजायत परार्णाख्या बीजादङ्कुरवत् प्रिये॥

इति रहस्याम्नाये। परार्णाख्यः शिवः परार्णाख्या विमर्शा सा शिवेच्छायां बीजादङ्कुरवद् वामादिरूपेणाजायतेत्यर्थः। एवमाख्यान्तराण्यपि द्रष्टव्यानि।

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स सर्वोऽपि महेश्वरः॥

इति चतुःशत्याम्। शक्तिशक्तिमतोश्चैक्यमेव। अत्रैव त्रितयसामान्यान्तर्भावः।

एचच्च मूलयोः शिवशक्त्योः साम्यमुक्तम्। तदेतत्साम्यं मूलाधारादिषट्चक्रेऽपि तयोर्ज्ञेयमित्याह—**तदेषामिति**। एषां क्रियादीनां पञ्चानां साम्यं समरूपेण शिवशक्त्योरवस्थानं तद्रूपां त्वां तद्युक्तां त्वामिति वा। अवनिषु च मूलाधारादिभूमिष्वपि च यो वेत्ति स एव मुनिः। तत्रैतत्पञ्चकसाम्यं मूलाधारादौ यथा भवति तथा भगवत्पादैः सौन्दर्यलहर्यां षड्भिः श्लोकैर्निरूपितम्। यद्यपि तत् तदीयव्याख्यया तत्रैव गतार्थं भवति। तथाप्यत्र ग्रन्थेपि तस्यावश्यज्ञातव्यत्वात्ते श्लोका इह विलिख्य संक्षेपेण व्याख्यायन्ते। तत्र मूलाधारे पञ्चकसाम्यं तावत्—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्॥

अत्र जनकजननीमदित्यनेन जगत्कर्तृत्वेन क्रियासाम्यमुक्तम्। मूलाधारे एकत्रावस्थानादवस्थासाम्यम्। नवात्मेति रूपम्। देव्या अपि नवात्मताया वक्ष्यमाणत्वात्। लास्यपरया महाताण्डवनटमिति प्रकृतिः। क्रियान्तर्भावो वा। तदा दययेनि प्रकृतिः। दयास्वभावत्वात्। समयः समया चेति अभिधासाम्यम् भैरवो भैरवीति वा। ननु तन्त्रान्तरे मूलाधारस्वाधिष्ठानयोर्ब्रह्मविष्णू उच्येते। तथा च कथं तत्र शिवशक्तिसद्भावः, तयोरभावे साम्यं दूरनिरस्तमिति चेन्न। ब्रह्मादीनामपि शिवरूपान्तरत्वात्। तदुक्तं ताराषोढान्यासाधिकारे—

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः
ततः परशिवो देवि षट् शिवाः परिकीर्तिताः॥ इति।

न चैवमभिधासाम्यं न स्यादिति वाच्यम् । शिवस्य ब्रह्मेतिनामपक्षे शिवायाः ब्रह्माणीति नामोपगमात् । एवं विष्णुनाम्नि शिवे वैष्णवी शक्तिनामेति द्रष्टव्यम् ।

स्वाधिष्ठाने पञ्चकसाम्यं तावत्—

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्त्तं जननि महतीं तां च समयाम् ।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते
दयार्द्रा या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति ॥

अत्र दहतीत्यनेन जगत्संहाररूपा क्रिया । सा च शक्तावपि समैव । तव स्वाधिष्ठान इत्यनेनैकाश्रयावस्थानमुक्तम् । संवर्त्ताग्निरुभयो रूपम् । क्रोधकलित इति प्रकृतिरभिहिता । क्रोधस्वभावः । न च दयाद्राया दृष्टिरित्यनेन विरोधः । मणिपूरस्थभगवत्या एव दयार्द्राया दृष्टेरत्र विवक्षितत्वात् । उपचारेण वात्र तथाकथनम् । एवमेवात्र व्याख्यातारश्च व्याचख्युः । रुद्रो रुद्राणी-त्याख्यासाम्यम् महान् महतीति वा । महादेवो महादेवीति वा ।

मणिपूरे पञ्चकसाम्यं तावत्—

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तव श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥

वर्षन्तमित्यनेन शिवगता क्रियोक्ता । दयाद्राया दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयतीति पूर्वोक्ता देव्याः क्रिया । उभयोरस्त्येव साम्यम् । रक्षणकर्तृत्वमिति फलितार्थः । अवस्थानं च मणिपूरे स्थाने समानमेव । श्याममित्यनेन समानरूपत्वम् । न च देव्या तडिद्रूपत्वान्न श्यामत्वमिदि वाच्यम् । विद्युतोऽपि श्यामत्वस्योक्तत्वात् प्रकाशसत्त्वेन श्यामत्वमस्फुटम् । "पुष्करवर्णा ह्यापः" इति श्रुतेस्तदिन्धनविद्युतोऽपि पुष्करवर्णत्वात् । न चैवमपि विद्युत् पुष्करवर्णा । मेघश्च श्याम इति वैषम्यमेवेति वाच्यम् । मेघस्यापि जलरूपत्वाद् गाढपुष्करवर्णस्यैव मेघीयश्यामवर्णत्वात् । किं च स्फुरन्नानारत्ना भरणपरिणद्धेन्द्रधनुषमिति शिवरूपम् । "परे तु त्वद्रूपं मणिधनुरितीदं समयिनः" इति देवीरूपं प्रागुक्तं मणिपूरे । रक्षणकर्तृत्वादेव दयार्द्रत्वं

स्वभावो लभ्यते । अभिधासामान्यं तु तडित्वान् तडित्वतीति । तडिदिति नामपक्षेऽपि नामसामान्यमस्त्येव । विष्णुनामपक्षे वैष्णवीति ।

अनाहते पञ्चकसाम्यं तावत्

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम् ।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणतिः
यदादत्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ॥

यदालापादित्यादिना विद्योपदेष्टृत्वं क्रियासाम्यमुक्तम् । मानसचरमित्यनेनावस्थानसाम्यमुक्तम् । समुन्मीलदित्यादिनापि । हृदयकमलावस्थमिति फलितम् । हंसद्वन्द्वमित्यनेन रूपसाम्यमुक्तम् । परमहंसमिथुनं हृदयकमले वर्तत इति शुभ्रवर्णत्वादिरूपावगमः । स्वभावमाह प्रकृतिशब्दं यदादत्त इति । तथा चोपासकानां दोषान् विगणय्य गुणमात्रं गृह्णातीति अनुग्रहकारित्वमुक्तम् । हंसद्वन्द्वमित्यनेनैवाभिधाप्युक्ता हंसो हंसी चेति ।

"शिखिज्वालारूपः समय इह सैवात्र समया"

इति स्वीकारे शिखी शिखिनीत्यभिधासाम्यं द्रष्टव्यम् ।

विशुद्धौ पञ्चकसाम्यं तावत्—

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम् ।
ययोः कान्त्या यान्त्याः शशिकिरणसारूप्यसरणे-
र्विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती ॥

व्योमजनकमित्यत्र व्योमशब्देन तज्जन्यमातृकावर्णशब्दादीनामुपलक्षणात्तज्जनकत्वं क्रियेत्युक्तं भवति । शब्दोत्पत्त्यनन्तरं हि हृदये यदालापादित्यालापसंभवः । कण्ठे वैखर्युत्पत्तिः प्रसिद्धा । तत्राकाशतत्त्वसत्त्वादाकाशजनकत्वं वा क्रियासाम्यम् । एवं सति वायुजनकत्वमनाहतस्य शिवस्येत्यादिकमपि सुवचमेव । विशुद्ध्यवस्थानमवस्थासाम्यम् । शुद्धस्फटिकविशदमित्यनेन शशिकिरणसारूप्यसरणेरित्यनेन च रूपसाम्यमुक्तम् । विधूतान्तर्ध्वान्तेत्यनेनाज्ञाननाशनस्वभावोऽभिहितः । शिवं सेव इति शिवः शिवा चेत्यभिधासाम्यम् । सदाशिवः सदाशिवेति वा ।

अथाज्ञायां पञ्चकसाम्यमभिधीयते—

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोके लोके निवसति हि भालोकभुवने॥

व्योमजनकमित्युक्तत्वादत्र मनस्तत्वजनकत्वक्रिया गम्या। आज्ञाचक्रस्थमित्यवस्थासाम्यमुक्तम्। रूपसाम्यं तपनशतकोटिद्युतिधरमित्यनेनोक्तम्। परिमिलितपार्श्वमित्यनेनार्धनारीश्वरत्वोक्त्या तदपि रूपसाम्यबोधकम्। सूर्यादिप्रकाशाविषयसहस्रारज्योत्स्नाप्रापकत्वं स्वभावः। परं शम्भुमिति अभिधासाम्यमुक्तम्। परशिवः परशिवा चेति। एवमेषां श्लोकानां सौन्दर्यलहरीगतानां मूलाधारादौ साम्यपञ्चकप्रतिपादनपरत्वेन व्याख्या कृता। एतेषामक्षरव्याख्या तु बहुभिर्विद्वद्भिः कृता विद्यतेऽस्मदीयव्याख्या चास्तीति तत एवावगन्तव्यम्। अत्र पञ्चकसाम्यानुसंधानमाज्ञाचक्रमारभ्याधारपर्यन्तं कर्तव्यम्। तत्तत्तत्त्वानामुत्तरोत्तरक्रमेणोत्पद्यमानत्वादित्याशयेन भगवत्पादैराज्ञामारभ्याधारपर्यन्तं क्रमेण साम्यं व्याख्यातमिति वदन्ति।

तदेषां साम्यं स्यादवनिषु च यो वेत्ति स मुनिरित्येवं त्वामित्यस्य स्थाने स्यादिति पाठान्तरम्। तदा तद्युक्तां त्वामित्यादिव्याख्यासंपादनप्रयासो नास्ति। अवनिषु चेत्यनन्तरं तदिति तत्पक्षेऽध्याहर्तव्यम्। अवनिषु षट्सु चक्रेषु तदिदं साम्यं शिवशक्त्योर्यो वेत्ति वेदनमुपासनमिति पक्षे उपास्त इत्यर्थः मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरपि चिन्तनमात्रात्मकमुपासनं प्रागुक्तमेव। स मुनिः। स वेदार्थविदित्यर्थः॥ ३९॥



वशिन्याद्या अष्टावकचटतपाद्याः प्रकृतयः
स्ववर्गस्थाः स्वस्वायुधकलितहस्ताः स्वविषयाः ।
यथावर्गं वर्णप्रचुरतनवो याभिरभवं-
स्तव प्रस्तारास्ते त्रय इति जगुस्ते समयिनः ।४०॥

अ वर्ग, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग और श वर्ग ये आठ वशिनी आदि प्रकृतियों के रूप में अनुसन्धान किया जाता है, और वर्ग स्थित उन अक्षरों के विषयीभूत, अपने-अपने आयुधादि से युक्त पचास शक्ति देवियों के रूप में भी अनुसन्धान किया जाता है, तथा वर्गानुसार पचास मातृकाक्षररूप से भी अनुसन्धान किया जाता है, जिन मातृकाओं से ही पूर्वोक्त तीन रीतियों के अवलम्बन से हे भगवति ! आपके तीन प्रस्तार संपन्न हुए ऐसा वे समयी बताते हैं ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ बोधिनी

अ क च ट त पाद्या अष्टौ = अष्टवर्गरूपा वर्गत्वावच्छिन्नाः कदाचिद् **वशिन्याद्याः प्रकृतयो** भूत्वा वर्त्तन्ते । कदाचित् **स्ववर्गस्थाः** तत्तद्वर्ण **विषयाः स्वस्वायुधकलितहस्ताः** पञ्चाशत्संख्याकमातृकात्मना वर्त्तन्ते । कदाचिच्च **यथावर्गं** = वर्गानुसारेण **मातृकावर्गप्रचुरतनवः** = अकारादिसकलतत्तद्वर्णत्वावच्छिन्नस्वरूपा वर्त्तन्ते । **याभिर्हि** मातृकाभिर्यथोक्तत्रैविध्यमापन्नाभिर्हे **भगवति ! तव ते** = प्रसिद्धास्त्रयः **प्रस्तारा अभवन्** = समयद्यन्त **इति ते समयिनो जगुः** ॥ ४ ॥

अमृतझरिका

भवेत् पूजाकाले इति वदन्त्येके वृद्धा इति चारभ्यैतावता प्रबन्धेन षट्चक्रपूजनं सपरिकरं निरूपितम् । अवशिष्टं किंचिदग्रे निवेदयिष्यते । तन्मध्येऽधुना चक्रैक्यभावनाया अपि सपर्यान्तर्गतत्वात्तत्रापि विशेषो वक्तव्यः । तत्र संप्रदायभेदेन समयिनां भिन्नं प्रस्तारत्रयमस्तीति तत्प्रस्तोतुं प्रस्तारत्रयबीजमाह—**वशिन्याद्या** इत्यादि । वशिनी, कामेश्वरी, मोदिवी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी, कौलिनी इत्येता अष्टौ वशिन्याद्याः । एता अष्टौ प्रकृतयो भवन्ति । **अकचटेति** । अ वर्ग, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग, श वर्गा इत्यष्टौ वर्गास्तेषामाद्याक्षराणि अकचटतपयशाश्च अष्टौ प्रकृतयः । तत्राकारादयः षोडशस्वराः अ वर्गः । कादयः पञ्च क वर्गः ।

चादयः पञ्च च वर्गः । टादयः पञ्च ट वर्गः । तादयः पञ्च त वर्गः । पादयः पञ्च प वर्गः । यादयश्चत्वारो य वर्गः । शादयः षट् श वर्गः ।

अकचादिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम् ।
ज्येष्ठाङ्गबाहुपादाग्रमध्यस्वान्तनिवासिनीम् ॥

इति वामकेश्वरे अकारादयोऽष्टौ वर्गा निरूपिताः ।

यद्यपि अकारः षोडश स्वराणां न प्रकृतिः । एवं ककारादयोऽपि न तत्तद्वर्गप्रकृतयः । न ह्यकारोत्पन्नाः सर्वे स्वरा भवन्ति । यथा कथंचित् "अकारो वै सर्वा वाक्" इति श्रुतेस्तस्य प्रकृतित्वोपगमेऽपि न ककारादीनां तत्तद्वर्गप्रकृतित्वे प्रमाणमस्ति । तथापि प्रकृतय इत्यस्य वशिन्याद्या इत्यनेनैवान्वयस्वीकारान्नानुपपत्तिः । अ क च ट त पाद्या इत्याद्यपदं प्रत्येकेन सम्बध्यते । अकाराद्याः काद्याश्चद्या इत्यादि । पाद्या इत्यनेन शेषाः सर्वे ग्राह्याः । अथवा आद्यपदमावर्तनीयम् । तथा च पाद्याद्या इति याद्यशाद्ययोरपि संग्रहः । अस्य च वशिन्याद्या इत्यनेनाभेदान्वयः । तथा च अ क च ट त पाद्याः अकचटतपाद्यात्मिकास्तदभिन्ना वशिन्याद्याः प्रकृतय इत्यर्थः । तत्र वशिनी अ वर्ग प्रकृतिः । कामेश्वरी क वर्ग प्रकृतिः । इत्यादिरीत्या द्रष्टव्यम् । यद्वा वशिन्याद्या याः प्रकृतयस्ता एव अकचटतपाद्या अष्ट वर्गा इत्यन्वयः । न च वशिन्यादीनां कथं तत्प्रकृतित्वमिति वाच्यम् । तद्देवतारूपत्वात् । तत्तद्देवतास्तत्तत्प्रकृतयो भवन्ति । तासां देवतात्वं च वामकेश्वरे प्रोक्तम्—

अवर्गः प्रथमो देवि वशिनी तत्र देवता ।
तत्परस्तु कवर्गोऽयं तत्र कामेश्वरी स्थिता ॥
मोदिनी तु च वर्गाख्या ट वर्गे विमला स्मृता ।
अरुणा तु त वर्गस्था प वर्गे जयिनी तथा ॥
सर्वेश्वरी य वर्गे तु श वर्गे कौलिनीति च ।
एता वर्गाष्टके सम्यगष्टावेव हि देवताः ॥ इति ।

एतासां तत्तद्वर्गप्रकृतिरूपतां स्फुटयितुं पादुकापूजनमन्त्रान् दर्शयामः । तत्र वशिन्या मन्त्रः—ह्लीं श्रीं अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः र्ब्लूं वशिनीवाग्देवतापादुकां पूजयामि । कामेश्वर्याः—ह्लीं श्रीं कं खं गं घं ङं क्ल्ह्रीं कामेश्वरीवाग्देवतापादुकां पूजयामि । मोदिन्याः—ह्लीं श्रीं चं छं जं झं ञं न्व्लीं मोदिनीवाग्देवतापादुकां पूजयामि । विमलायाः ह्लीं श्रीं टं ठं डं ढं णं ट्लूं विमलावाग्देवतापादुकां पूजयामि ।

अरुणायाः ह्रीं श्रीं तं थं दं धं नं ज्म्रीं अरुणा·····। जयिन्याः पवर्गान्ते हस्ल्व्युं। सर्वेश्चर्या यवर्गोत्तरं झ् म् र् यूं। कौलिन्याः शवर्गान्ते क्ष्म्रीं। तथा च वर्णानां तत्तद्वर्गगतानां देवताशरीरत्वाद्देवतायाश्च सूक्ष्मत्वाद्देवतायाः प्रकृतित्वं वर्णानां तद्विकृतित्वं च सिध्यति। अत्र वशिन्याद्या इत्यत्राद्यपदमावर्तनीयम्। तेन षोडशनित्यादीनामपि ग्रहणमित्यग्रिमश्लोके स्फुटीकरिष्यामः। एताभिर्वशिन्यादिभिरेकः प्रस्तारः संपत्स्यते। तत्संपादनक्रमोऽप्यग्रिमश्लोके। सोऽयं महीप्रस्तारप्रस्तावः।

द्वितीयं प्रस्तारं प्रस्तवीति–**स्ववर्गस्था इति**। स्वपदेन अ क च ट त प य शानां ग्रहणम्। तेषां वर्गा अवर्गकवर्गाद्याः। तत्र तिष्ठन्तीति सर्वा वर्णमातृकाः। स्ववर्गस्था वर्णमातृकाः स्वविषयमातृकादेव्यभिन्नाः सत्यः स्वस्वायुधकलितहस्ता यदा भवन्ति तैर्द्वितीयः प्रस्तारो भवति। स्वस्वायुधकलितहस्ता इति कृत्स्नस्वरूपोपलक्षणन्। तत्र अकारादिषोडशस्वरूपमातृकादेवीनामष्टभुजत्वम्। पाशा-ङ्कुश-वरा-ऽभय-पुस्तकाऽक्षमाला-कमण्डलुव्याख्यामुद्रा अष्टसु भुजेषु। कादि मान्तमातृकादेवीनाञ्चतुर्भुजत्वम्। पाशाऽङ्कुशाऽक्षमाला-कमण्डलवश्चतुर्षु भुजेषु। यवरलामातृकादेव्योऽपि चतुर्भुजाः पाशाङ्कुशाभयवरहस्ताः। शषसहा मातृकादेव्योऽपि चतुर्भुजा पाशाङ्कुशा·क्षमाला-वरकरा इति विशेषः। ळक्षौ मातृकादेव्यौ चतुर्भुजे। पाशा-ऽङ्कुशे-क्षवशरासन-पुष्पबाणहस्ते इति।

एतासां मण्डलविस्ताराः पृथक् पृथग् भवन्ति। अकारमातृकाया मण्डलमशीतिलक्षयोजनायतम् आकारस्य तद्द्विगुणम्। इकारमातृकाया नवतिलक्षयोजनायतम्। ततो द्विगुणमीकारमातृकायाः। उकारमातृकायाः। कोटियोजनायतम्। ऊकारमातृकायास्ततो द्विगुणम्। पञ्चाशल्लक्षयोजनायतमृकारमातृकायाः। द्विगुणमॄकारस्य। एदैदोदौतां मातृकाणां सार्धकोटियोजनायतम्। बिन्दुविसर्गयोरकारद्विगुणम्। व्यञ्जनमातृकाणामकारमण्डलार्धम्। विस्तरः सनत्कुमारसंहितायाम्।

एतासां वर्णविषये मतभेदः। तत्र केचित् स्वराः स्फटिकवर्णाः। स्पर्शमातृका विद्रुमाभाः। यादयो नव पीतवर्णाः। क्षकारमातृकाऽरुणवर्णेत्याहुः। परे तु षट्चक्रनिर्दिष्टक्रमेणाहुः। स्वरमातृका धूमवर्णाः। कठाः सिन्दूरवर्णाः। डफाः गौरवर्णाः। बला अरुणवर्णाः। वसाः स्वर्णवर्णाः। ळक्षौ तडिद्वर्णौ। लळयोस्त्वभेदात्तुल्यत्वमिति। एताभिर्मातृकादेवीभिर्यथा-

योगं संनिविष्टाभिर्द्वितीयः प्रस्तारः सम्पत्स्यते। संनिवेशक्रमोऽग्रिमश्लोके। सोऽयं कैलासप्रस्तारप्रस्तावः।

तृतीयं प्रस्तारं प्रस्तौवति—**यथावर्गमिति**। वर्णान् क वर्गं च वर्गाननतिक्रम्य वर्तत इति यथावर्गम्। वर्गशब्दो वर्गीयपरः। वर्गीयतामपरित्यज्येत्यर्थः। क वर्गादिषु वर्णा एव भवन्ति। उच्चार्यमाणानामेव वर्गत्वात्। अथवा यदा वर्गा इत्येव पाठः। वर्णप्रचुरतनव इति विशेषणेनैव विवक्षितार्थलाभसंभवात्। वर्णप्रचुरतनवः वर्णप्रचुरस्वरूपाः। प्राचुर्यमत्र कात्स्न्यंमेव। वर्णा ये प्रचुरास्त एव तनवो यासां ताः प्रथमे वर्णा वशिन्यादिरूपेण गृह्यन्ते इति प्राचुर्याभावाद् व्युदासः। द्वितीये प्रचुरतनुत्वं समानम्। तथापि वर्णा न स्वरूपाणि। किन्तु देव्य इति तस्यापि व्युदासः। एतैर्वर्णैर्यथायोगं संनिविष्टैस्तृतीयः प्रस्तारः संपत्स्यते। संनिवेशक्रमोऽग्रिमश्लोके दर्शयिष्यमामः। सोऽयं मेरुप्रस्तारप्रस्तावः।

त्रिष्वेष विशेषः। महीप्रस्तारे मातृकाः प्रकृतिरूपा वशिन्याद्यात्मिकाश्चक्रे निविशन्ते। कैलासप्रस्तारे मातृकाः सूक्ष्मरूपाः पञ्चाशद्देवीरूपा निविशन्ते। मेरुप्रस्तारे मातृका वर्णात्मिकाः स्थूलरूपा निविशन्त इति स्थूलसूक्ष्मप्रकृतिभेदेन भेद इति। यद्यपि मेरुः सर्वकारणं प्रकृतिः। तदुपरि सूक्ष्मरूपेण कैलासः। मही तु स्थूलरूपाऽधस्तादिति शब्दतः क्रमो विपरीतः प्रतीयते। तथापि नामादीनां शास्त्रीयत्वान्नातिशङ्कनीयता तेषामिति द्रष्टव्यम्।

प्रकृतिरूपा देवीरूपा वर्णरूपाश्च मातृका उक्ताः। याभिर्हे भगवति! प्रकृति-सूक्ष्मा-स्थूलाभिर्मातृकाभिस्तव ते त्रयः प्रस्तारा अभवन्। ते प्रसिद्धास्तन्त्रशास्त्रेषु त्रयो महीकैलासमेरुसंज्ञाः प्रस्तारा अभवन् समपद्यन्त इति ते पूर्वश्लोकोक्ता एव समयिनो जगुः। "प्रस्तारो नाम पल्लवादिविरचितशयनीय" मिति शब्दरत्नावली। "शय्यामात्रं प्रस्तार" इति हारावली। सर्वथापि प्रकृष्टं मार्दवादिगुणयुक्तं शयनीयं प्रस्तार इति पर्यवस्यति। भगवत्याः श्रीचक्रमेव शय्या शरणमिति प्रागभिहितम्। तत्र वशिन्यादि पल्लवकुसुमविशेषनिवेशात्त्रिविधत्वं प्रस्तारस्य। यथासंप्रदायं यथाभिलाषं वा प्रस्तारचिन्तनं भवितुमर्हति॥ ४०॥



इमा नित्या वर्णास्तव चरणसंमेलनवशाद्
महामेरुस्थाः स्युर्मनुमिलनकैलासवपुषः ।
वशिन्याद्या एता अपि च सहबिन्द्वात्मकतया
महीप्रस्तारोऽयं क्रम इति रहस्यं समयिनाम् ॥४१॥

सोलह नित्यायें वर्णरूप होकर अपने रूप से और वर्णरूप से चक्र में जब मिलती हैं तो मेरुप्रस्तार होता है। मन्त्र में अस् और अक् प्रत्याहार से गृहीत मातृका देवियों के रूप में चक्रमिलन होने पर कैलास प्रस्तार होता है। आठ वशिनी आदि, सोलह नित्या एवं अनेक आकर्षिणी आदि बिन्दुसमेत चक्र के अंग बन जाती हैं तो मही प्रस्तार होता है। यह क्रमोत्कर्ष है। यही समयमार्गियों का रहस्य है ॥४१॥

अन्वयार्थबोधिनी

इमाः षोडश **नित्या वर्णाः** स्थूलवर्णस्वरूपा भूत्वा स्वरूपेण वर्णरूपेण च **तव चरणसंमेलनवशात्**=चरणे श्रीचक्रे संमेलनं संनिवेशस्तद्वशाद् **महामेरुस्थाः स्युः** = महामेरौ तिष्ठन्तीति महामेरुस्था भवेयुः। एतत्स्थानेन श्रीचक्रं महामेरुस्वरूपं भवतीति मेरुप्रस्तारोऽयमिति भावः। इमा एव नित्याः **मनुमिलने**=मनौ श्रीविद्यामन्त्रे अस् कला प्रत्याहाराभ्यां गृहीतसकलमातृकादेवीस्वरूपतापत्त्या स्वरूपेण मातृकादेवीरूपेण च **कैलासवपुषः** = कैलासे वपुर्यासां ताः स्युः। श्रीचक्रसंमेलनेन कैलासस्वरूपं भवतीति कैलासप्रस्तारोऽयमिति भावः। **वशिन्याद्या** अष्टौ **एता अपि च** षोडशनित्याश्चकारेणाकर्षण्यादयश्च **सहबिन्द्वात्मकतया**=बिन्दुसहितश्रीचक्रात्मकतया यदा वर्त्तन्ते तदा श्रीचक्रं महीरूपं भवतीति **महीप्रस्तारोऽयमिति** भावः। अयमेवोत्तरोत्तरप्रकर्षक्रम इत्येतत् **समयिनां रहस्यम्** ॥४१॥

अमृतझरिका

प्रस्तारत्रयप्रयोजकवशिन्याद्यष्टकप्रकृतिमभिधाय तदीयसंनिवेशविशेषसंपाद्यांस्त्रीन् प्रस्तारान् प्रदर्शयति—इमा इति। इमाः प्राक् प्रदर्शिता नित्याः षोडशसंख्याकाः (१) महात्रिपुरसुन्दरी, (२) कामेश्वरी, (३) भग-

मालिमी, (४) नित्यक्लिन्ना, (५) भेरुण्डा, (६) वह्निवासिनी, (७) महाविद्येश्वरी, (८) रौद्री, (९) त्वरिता, (१०) कुलसुन्दरी, (११) नित्या, (१२) नीलपताका, (१३) विजया, (१४) सर्वमङ्गला, (१५) ज्वालामालिनी, (१६) चित्रा इत्येतन्नाम्न्यो वर्णा वर्णस्वरूपा भूत्वा स्थूलमातृकास्वरूपा भूत्वेति यावत्। हे भगवति ! तव चरणसंमेलनवशात् चरणे श्रीचक्रे संमेलनं चरणसंमेलनं तद्वशात् महामेरुस्थाः स्युः। षोडशनित्याः स्वीयरूपेण स्थूलमातृकारूपेण च चक्रमिलिता महामेरुस्था उच्यन्ते। तदेवं मेरुप्रस्तारो भवतीत्यर्थः।

श्रीचक्रे तत्संमेलनप्रकारश्च वसिष्ठसंहितादावुक्तः। तथा हि षोडश नित्या अष्टवर्गस्वरूपा भूत्वा अष्टकोणे प्रागादिक्रमेणान्तर्भवन्ति अष्टदलपद्मे च। तत्र द्वे द्वे नित्ये एकैकवर्गरूपे। एताः षोडशनित्याः षोडशस्वरस्वरूपाः सत्यः षोडशदलपद्मे प्रविशन्ति। तथाऽनुनासिकवर्जपञ्चवर्गात्मिकाः सत्यः विंशतिसंख्याका दशारद्वये मिलन्ति। इत्येवं वर्णरूपेण व्यवस्थिताताः। स्वरूपेण तु प्रथमा नित्याद्वयी बिन्दुत्रिकोणयोरन्तर्भवति। शेषाश्चतुर्दश चतुर्दशारे स्थिताः। वृत्तत्रयभूपुरत्रययोर्बिन्दुत्रिकोणाभ्यां त्रिकोणचतुर्दशाराभ्यां वा संग्रहान्न पृथक् स्थितिः। एवं नित्यानां स्वस्वरूपेण वर्णरूपेण च यश्चक्रेऽन्तर्भावस्तमिमं मेरुप्रस्तारमाहुः। केचित्तु अननुनासिकपञ्चवर्गीयविंशतिवर्णानगृहीत्वा दशारद्वये षोडशानां नित्यानां स्वरूपेणैवान्तर्भावमिच्छन्ति। तत्र विंशतिकोणेषु येऽवशिष्टाश्चत्वारस्तत्र चतसृणां नित्यानामावृत्या पूर्तिः कर्तव्या।

एवं स्थूलाभिर्वर्णमातृकाभिर्यथा प्रस्तारसंपत्तिस्तथोक्ता। अधुना सूक्ष्माभिर्मातृकाभिर्यथा सा भवति तदाह—**मनुमिलनेति**। इमा नित्या इति चरणसंमेलनवशादिति चानुवर्तते। मनुना मिलनमेकीभावस्तेनेमा नित्यास्तव चरणसंमेलनवशात् कैलासवपुषः कैलासे वपुर्यासां ताः कैलासवपुषो भवन्ति। अत्र मनुना मिलनमेकीभाव इत्युक्त्या नित्यानां स्वस्वरूपेण पृथक् प्रवेशो नास्तीति गम्यते। मनौ प्रत्यक्षेण च सर्वमातृकानुपलम्भात्सूक्ष्मत्वं च सूच्यते। तथा च नित्यानां मनुमिलनोत्तरं तत्र प्रत्याहारेण गृहीता या अप्रत्यक्षमातृका प्रत्याहारघटकीभूतवर्णविषयस्वरूपाः स्वविषयाः स्वस्वायुधकलितहस्ता इति प्राङ्निवेदितमस्ताभिः कैलासप्रस्तारो भवतीत्युक्तं भवति।

श्रीचक्रे तन्मेलनप्रकारश्च सनन्दनसंहितायामुक्तः। तथा हि इमा नित्या एव पञ्चाशन्मातृकादेवीरूपाः। कथमिति चेद्। मन्त्रेणैकीभावात्। तत्र मन्त्रे "हसकले"त्यादौ सकारेण विसर्गप्रतिनिधिना सह योऽकारः स प्रत्याहारः सन् अस् इत्येवं सर्वान् स्वरान् संगृह्य बैन्दवे तिष्ठति। आचार्यमतेनाकृत्प्रत्याहारो ज्ञेयः। बैन्दवमत्र त्रिकोणं मन्तव्यम्। ततः कलाप्रत्याहारः सर्वाणि व्यञ्जनानि संगृह्य शेषेषु चक्रेषु तिष्ठन्ति। अत्र कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिसंख्या अष्टकोणे दशकोणद्वये च वर्तन्ते। न चाष्टकोणदशकोणद्वययोरष्टाविंशतिः कोणास्तत्र पञ्चविंशतेः समावेशे कोणत्रयं रिक्तं स्यादिति वाच्यम्। कादिवर्णत्रयावृत्त्या पूरणीयत्वात्। शेषयकारादिळकारान्ता नव द्विरावृत्त्याऽष्टादश संपन्नाश्चतुर्दशारे चतुर्दशसु कोणेषु अन्तर्भूता भवन्ति। ये तत्र शिष्टाश्चत्वारो वर्णास्ते शिवचक्रेषु चतुर्ष्वेकैकाक्षरक्रमेणान्तर्भवन्ति। एवमिमाः नित्याः षोडश पञ्चदशाक्षरेण षोडशाक्षरेण वा श्रीविद्यामनुनैकीभूय स्वगताभ्यां प्रत्याहाराभ्यामप्रत्यक्षवर्णमातृकादेवीः संगृह्य सर्वेषु चक्रेषु योजिताः सत्यः कैलासप्रस्तारं जनयन्तीत्यर्थः।

एवं स्थूलवर्णमातृकाभिर्मेरुप्रस्तारं सूक्ष्ममातृकाभिः कैलासप्रस्तारं चोक्त्वा प्रकृतिभिर्महीप्रस्तारो यथा भवति तदाह—**वशिन्याद्या** इत्यादि। वशिन्याद्या अष्टौ। एता अपि नित्या अपीत्यर्थः। ताः षोडश। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। अनुक्ता द्वादश योगिनीश्चतस्र आकर्षिणीश्च समुच्चिनोति। तत्र द्वादश योगिन्यः—विद्यायोगिनी, रोचिकायोगिनी, मोचिकायोगिनी, अमृतायोगिनी, दीपिकायोगिनी, ज्ञानयोगिनी, आप्यायिनीयोगिनी, व्यापिनीयोगिनी, मेधायोगिनी, व्योमरूपायोगिनी सिद्धरूपायोगिनी, लक्ष्मीयोगिनी इत्येवंनाम्न्यः।

चतस्रश्चाकर्षिण्यः। गन्धाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी चेति। **यद्यपि** नारायणीगौरीशाकंभरीप्रभृतयश्चतुःषष्टियोगिन्यः प्रसिद्धाः। तथा आकर्षिण्योऽपि कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणीप्रभृतयो गन्धाकर्षण्यादिभिश्चतसृभिः सह षोडश वामकेश्वरादौ निरूपितास्तथापि सनत्कुमारसंहितादावेतासामेवोपादानदर्शनाद्वचनप्रामाण्येनैतासामेव निवेशः प्रस्तारभेदकाले श्रीचक्रे इति मन्तव्यम्।

तदेवमष्टौ वशिन्यः षोडश नित्याः द्वादश योगिन्यः चतस्रश्चाकर्षिण्य इति चत्वारिंशत्। अष्टौ च त्रिकाणि। त्रिकाणि नाम द्वे द्वे नित्ये

एकैका वशिनी च त्रित्वसंख्यया प्रकृतिनित्ययोर्मेलनविशेषः। एवमष्टाचत्वारिंशत्। अथैतासां श्रीचक्रे संनिवेशविशेष उच्यते। तत्र बिन्दौ षोडशनित्यान्तर्गता प्रथमा महात्रिपुरसुन्दरी। त्रिकोणे प्रथमा प्रकृतिर्वशिनी। अष्टकोणे अष्टौ त्रिकाणि। द्वे द्वे नित्ये एकैका वशिनी चेति त्रिकमुक्तम्। अन्तर्दशारे वामकेश्वरीमारभ्य शिष्टाः सप्त प्रकृतयः। तिस्रो नित्याश्च। तत्र त्रिपुरसुन्दर्या बिन्दौ गतत्वात् कामेश्वर्याद्यास्तिस्रः। बहिर्दशारे भेरुण्डामारभ्य दश नित्याः। द्वे नित्ये शिष्येते। ते च द्वादशयोगिन्यश्चेति चतुर्दश चतुर्दशारे। आकर्षिणीचतुष्टयं च शिवचक्रचतुष्टये क्रमेण निविशते। सोऽयं महीप्रस्तार इति। अक्षरार्थस्तु—यथोक्ता अष्टाचत्वारिंशत्संख्याका वशिन्याद्या बिन्दुसहितत्रयश्चत्वारिंशत्कोणानि शिवचक्रचतुष्टयमित्यष्टाचत्वारिंशद्विभागवच्छ्रीचक्रात्मकतया तत्र समावेशादितियावत् महीप्रस्तार इति।

बिन्दुना सह वर्तत इति सबिन्दुचक्रम्। "**तेन सहेति तुल्ययोगे**" इति समासः "**वोपसर्जनस्ये**"ति सहशब्दस्य सभावविकल्पात् सहबिन्द्विति रूपम्। तुल्ययोगश्च बिन्द्वात्मकत्वाच्चक्रात्मकत्वाच्च वशिन्यादीनाम्। बिन्दोश्चक्रत्वेनाऽपरिगणनात् सहबिन्द्विति पृथग् बिन्दूल्लेखः कृतः।

अयं क्रम इति। प्रथमं स्थूलवर्णनिवेशेन चक्रचिन्तनं कर्तव्यम्। सोऽयं मेरुप्रस्तारः प्रथमयुक्तः। ततः सूक्ष्ममातृकादेवीसनिवेशेन चक्रचिन्तनं कर्तव्यम्। सोऽयं कैलासप्रस्तारस्तदनन्तरमुक्तः। ततः प्रकृतिभूतवशिन्यादिनित्यादिसमावेशेन चक्रानुसन्धानं विधातव्यम्। ततोऽन्ते महीप्रस्तार उदित इत्ययमुपासनोत्कर्षक्रम इत्यर्थः।

परे तु—

ब्रह्माणीं पश्चिमद्वारे महेशीमपि चोत्तरे।
पूर्वद्वारे तु कौमारीं दक्षिणे वैष्णवीमपि॥
वाराहीमपि वायव्ये तथैन्द्रीमैशदेशके।
चामुण्डामपि चाग्नेये महालक्ष्मीं च नैर्ऋतौ॥

इत्यष्टौ मातृशक्तीश्चतुरश्रेऽनुसंधाय पूजयेत्। वृत्तत्रयं पृथङ् नोच्यते।

कामाकर्षणरूपां तां बुद्ध्याकर्षणरूपिणीम्।

इत्यादिनाऽभिहिताः काम-बुद्ध्य-हंकार-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-चित्त-धैर्य-स्मृति-नाम-बीजा-ऽऽत्मा-ऽमृत-शरीराकर्षिणीः षोडश षोडशदलेऽनुसंदध्यात् वामावर्तेन। अनङ्गकुसुमादीरष्टौ—

अनङ्गकुसुमां पूर्वे दक्षिणेऽनङ्गमेखलाम् ।
पश्चिमेऽनङ्गमदनामुत्तरे मदनातुराम् ॥
अनङ्गरेखामाग्नेये नैरृतेऽनङ्गवेगिनीम् ।
अनङ्गाङ्कुशां वायव्ये ईशानेऽनङ्गमालिनीम् ॥
अष्टपत्रे महापद्मवेष्टिते वै प्रपूजयेत् ।

इत्युक्तेरष्टपत्रेऽनुसंदध्यात् ।

सर्वसंक्षोभणीं शक्तिं सर्वविद्रावणीं तथा ।
सर्वाकर्षणशक्तिं च सर्वाह्लादनकारिणीम् ॥
सर्वसंमोहिनीं शक्तिं सर्वस्तम्भनकारिणीम् ।
सर्वजम्भनशक्तिं च तथा सर्ववशंकरीम् ॥
सर्वरञ्जनशक्तिं च सर्वोन्मादनरूपिणीम् ।
सर्वार्थसाधनीं शक्तिं सर्वसंपत्तिपूरिणीम् ॥
सर्वमन्त्रमयीं शक्तिं सर्वद्वन्द्वक्षयंकरीम् ।
वामावर्तक्रमेणैव पश्चिमादेव दक्षिणम् ॥
गृहीत्वा पूजयेदेता देवीस्त्रिभुवनेश्वरीः ।

इत्युक्तेश्चतुर्दशारे यथोक्तक्रमेण सर्वसंक्षोभिणीप्रभृतीरनुसंदध्यात् ।

सर्वसिद्धिप्रदा देवी सर्वसंपत्प्रदा तथा ।
सर्वप्रियंकरी चापि सर्वमङ्गलकारिणी ॥
सर्वकामप्रदा देवी सर्वसौभाग्यदायिनी ।
सर्वमृत्युप्रशमनी सर्वविघ्ननिवारिणी ॥
सर्वाङ्गसुन्दरी देवी सर्वदुःखविमोचिनी ।

इति कथिता दशदेवीर्बहिर्दशारे चिन्तयेत् ।

सर्वज्ञा सर्वशक्तिश्च सर्वैश्वर्यप्रदा तथा ।
सर्वज्ञानमयी देवी सर्वव्याधिविनाशिनी ॥
सर्वानन्दस्वरूपा च सर्वपापहरा तथा ।
सर्वानन्दमयी देवी सर्वरक्षास्वरूपिणी ॥
पुनरेव महेशानि सर्वेप्सितफलप्रदा ।

इत्युक्ताः सर्वज्ञाद्या देवीरन्तर्दशारेऽनुसंदध्यात् ।

वशिनीमपि कामेशीं मोदिनीं विमलामपि ।
अरुणां जयिनीं चापि सर्वेशीं कौलिनीमपि ॥

इत्युक्ता वशिन्याद्या अष्टावष्टारे वामावर्तेनानुसंदध्यात् ।

सर्वमध्ये त्रिकोणे च पूजयेन्मूलविद्यया ।
केवलाक्षरभेदेन समस्तव्यस्तयेश्वरि ॥

समस्तेन बिन्दौ । एकैककूटेन व्यस्तेन त्रिकोणे । केन क्रमेण ?

कामेश्वरीमग्रकोणे व्रजेशीं दक्षिणे तथा ।
भगमालां तथा वामे मध्ये त्रिपुरसुन्दरीम् ॥

समस्तः पञ्चदशीमन्त्र इत्येके । तुरीयकूट इति परे । तदेवं वामकेश्वरे यः पूजाघटकतया संनिवेशविशेषः सूचितः स एव महीप्रस्तार इति वदन्ति । एवं क्रमेण मानसपूजनस्य निर्विवादत्वात्तथासंनिवेशस्तत्क्रमेण पूजनं चोपपन्नमेवेति पूर्वमतेऽपि अस्य संनिवेशस्य महीप्रस्तारनाममात्रे विवादः संभवितुमर्हतीत्युपादेयमेवैतदपि मतमिति ध्येयम् ॥४१॥



भवेन्मूलाधारं तदुपरितनं चक्रमपि तद्
द्वयं तामिस्राख्यं शिखिकिरणसंमेलनवशात् ।
तदेतत्कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेयमुदितं
भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्यमुभयम् ॥४२॥

मूलाधार तथा उसके ऊपर स्वाधिष्ठान ये दोनों चक्र तामिस्रलोक हैं। अग्निकिरण के योग से सप्रकाश बना कर इन दोनों में कौल पूजा करते हैं। किन्तु यह चक्रद्वयपूजा भी त्याज्य है और कौलों की वाममार्गी पूजा भी त्याज्य है ॥४२॥

अन्वयार्थबोधिनी

मूलाधारं तदुपरितनं स्वाधिष्ठानं **चक्र**मिति **तद् द्वयमपि तामिस्राख्यं भवेत् । शिखिकिरणसंमेलनवशात्** = स्वाधिष्ठानोपरिस्थाग्निमण्डल-किरणसंमेलनवशात् सप्रकाशं सदिदं द्वयं चक्रं **कौलानां** तामससरणीनां **प्रतिदिनमनुष्ठेयं** = पूजाविधिविषयीभूतं भवतीति **उदितम्** = उक्तं तदीयशास्त्रे । परं तु **तदिदम् उभयं भवत्या वामाख्यं मतमपि** कौलानां भगवतीविषयकवामाचाराख्यमतमपि च **परित्याज्यमेव** सात्त्विकानां पूजकानां ॥४२॥

अमृतझरिका

षट्चक्रं श्रीचक्रं च मुख्यं पूजायाम् । तत्र मातृकाणां मन्त्रस्य च निवेशेन तु चतुर्धैक्यमुदितम् । ततः षट्चक्रश्रीचक्रे एव स्वरूपावधारणार्थं विशेषतो निरूपणीये इति ते निरूपिते । मणिपूरादौ पूजा च तत्प्रसङ्गे-नैवाभिहिता । इदानीं सहस्रारे एव समयिनां मुख्यपूजेति निरूपयितुं त्याज्यचक्रद्वयं मणिपूरादावेव पूर्वं पूजोक्तिकथनेन सूचितमपि मुखतो वक्तव्यं सहेतुकमिति तदेव दर्शयन्नुत्तरं प्रकरणमारभते—**भवेदित्यादि** । तदुपरितनं चक्रं स्वाधिष्ठानमपि तदिदं द्वयं तामिस्राख्यं भवेत् । तामिस्र-लोकात्मकं भवेदित्यर्थः । तथा हि ब्रह्माण्ड इव पिण्डाण्डेऽपि सूर्यचन्द्रयोः संचरणं प्रागभिहितम् । तत्र हठयोगिनामाज्ञाचक्रे सूर्यचन्द्रयोः स्थानम् । तन्त्रमतेऽनाहतोपरि सूर्यस्थानमाज्ञोपरि चन्द्रस्थानम् । सर्वथापि ताविडा-

पिङ्गलाभ्यां संचरत एव। तदुक्तं प्राक्—"इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ" । इति । यदा तावाज्ञाचक्रसदेशं प्राप्नुतस्तदा पूर्णिमा भवति । मूलाधारसमागमे त्वमावास्या भवति । ततः शुक्लप्रतिपदमारभ्यैकैका कला सूर्यान्निर्गत्य चन्द्रमायातीति पञ्चदश्यां पूर्णिमायां पञ्चदश कलाश्चन्द्रे । कृष्णप्रतिपदमारभ्यैकैका कला चन्द्रात्सूर्ये विलीना भवतीत्यमावास्यायां पञ्चदशकलाविलयादमावस्या तामिस्राख्या । तत्र शुक्लपक्षः कृत्स्नः पूर्णिमैव, कृष्णपक्षः कृत्स्नोऽमावास्यैवेत्येकं मतम् । परे तु शुक्लपक्षे आपञ्चमीतिथि कृष्णपक्षे चैकादश्या आदर्शं च तामिस्रमेव अन्धकाराधिक्यात् । तत्रैकादश्यां कृष्णपक्षे स्वाधिष्ठाने चन्द्रसूर्ययोः प्रवेशः । क्रमेण मूलाधारे ततः शुक्लपञ्चमीपर्यन्तं स्वाधिष्ठान एव ततो मणिपूरं प्रति तयोः प्रस्थानम् । तथा च मूलाधारस्वाधिष्ठानयोर्द्वयोरपि तामिस्रत्वमेव ।

ननु तामिस्रलोकत्वात्तत्रान्धकार एवेति तत्रोपासनैव दुर्घटा भवेदित्यत आह— **शिखिकिरणेति** । स्वाधिष्ठानोपरि वह्निमण्डलं प्राक् प्रतिपादितम् । तदीयकिरणानां संमेलनं मूलाधारे स्वाधिष्ठाने च भवति । अत एवोभयोर्वह्निखण्डत्वप्रसिद्धिः । तथा च शिखिनोऽग्नेः किरणानामष्टोत्तरशतसंख्याकानां संमेलनवशादनुष्ठेयमिति सम्बन्धः । इदमुपलक्षणम् । वह्नेरष्टोत्तरशतं ये किरणास्तेषु षट्पञ्चाशदिअतौ मूलाधारे संयुज्यन्ते । शेषाः मणिपूरे । तत्रैव जलतत्त्वस्वीकारात् । स्वाधिष्ठानेऽग्नितत्त्वे तु सौरा एव किरणाः । तत्र षोडशोत्तरशतकिरणेषु हुताशे द्वाषष्टिरित्युक्तेर्द्वाषष्टिः सूर्यकिरणा एव । न चैवं सूर्यकिरणसम्बन्धात्स्वाधिष्ठानं प्रकाशलोक एव भवेदिति वाच्यम् । अनाहतमणिपूरयोर्व्यवधानेनाल्पप्रकाशत्वात् । वस्तुतस्तु तामिस्रत्वं प्रकाशत्वं वा न सूर्यकिरणसद्भावतदभावाभ्याम् । किन्तु पञ्चमीपर्यन्तं चन्द्रे कलानामल्पत्वादन्धकारापाकरणासामर्थ्यात् । तदूर्ध्वं कलाधिक्यान्मणिपूरादेर्मिश्रत्वम् । पञ्चमीपर्यन्तं च मूलाधारस्वाधिष्ठानयोश्चन्द्रभ्रमणमित्यवोचाम । इयं हि चन्द्रकलाविद्येत्यभिधीयते श्रीविद्या । अत एव चन्द्रकलासत्त्वासत्त्वाभ्यामेव तामिस्रत्वप्रकाशत्वयोर्निर्णयसंभवः । तथा च चन्द्रकलाया अल्पीयस्त्वादग्निकिरणसंयोजनेनैव प्रकाशाधिक्यं संपाद्य पूजानुष्ठेयेति भावः । शिखिकिरणसंमेलनवशाद् द्वयं तामिस्राख्यमित्यन्वयस्तु न सम्यग् भाति । किरणसंयोगस्य तामिस्रत्वाऽप्रयोजकत्वाद् । स्वाधिष्ठानस्य शिखिकिरणसंमेलनविरहेण तामिस्रत्वानापत्तेश्च । मणि-

पूरस्य शिखिकिरणसंयोगवशेन तामिस्रत्वापत्तेश्च। मिश्रत्वोपगमेऽपि शिखिकिरणवशादधिकतामिस्रत्वं मणिपूरेऽल्पतामिस्रत्वं च स्वाधिष्ठान इत्यभ्युपगम्येतेति भगवत्याः मणिपूरे पूजनं न स्यात्। स्वाधिष्ठाने च स्यात्।

अत एव शिखीति सावधारणम्, शिखिमात्रकिरणसंमेलनवशात्तामिस्राख्यमिति व्याख्यापि न घटते। स्वाधिष्ठाने सूर्यकिरणसंपर्कस्याप्युक्तत्वात्। मणिपूरे तद्विरहाच्च। यत्तु मणिपूरे जले सूर्यकिरणप्रतिबिम्बसंपतनान्मिश्रलोकत्वमिति। तदपि न साधु। प्रतिबिम्बापेक्षया साक्षात् किरणस्य स्वाधिष्ठाने एव सत्त्वेन तस्यैयाधिकप्रकाशत्वान्मणिपूरे प्रोक्तपूजायाः स्वाधिष्ठाने कर्तव्यतापत्तेः। न च स्वाधिष्ठाने केवलसूर्यकिरणाः सन्ति, मणिपूरे तु सूर्यकिरणप्रतिबिम्बाः अग्निकिरणाश्चेति द्वैगुण्यमिति वाच्यम्। अनाहते केवलसूर्यकिरणसत्त्वेन पूजाविरहापत्तेः। न चाऽव्यवधानादनाहतस्य प्रकाशत्वमिति वाच्यम्। वास्तविकव्यवधाने स्वीक्रियमाणे कथं स्वाधिष्ठाने प्रकाशस्यैव प्रवेशः। कथं च मणिपूरं व्यवधायाग्रे प्रसर्पतां किरणानां मणिपूरेऽभावश्च। यदि चानाहतोपरिगतसूर्यस्यानाहते चतुःपञ्चाशत् किरणाः संपतन्ति। शेषा द्विपञ्चाशत् किरणा अनाहतं मणिपूरं चास्पृशन्त एव स्वाधिष्ठानं बहिष्ट एवागच्छन्तीत्युच्यते तदा कथं स्वाधिष्ठानस्य तामिस्रत्वम्। व्यवधानविरहात्। कथं च मणिपूरे तत्प्रतिबिम्बाः। न ह्यसंयुक्तस्य किरणैः प्रतिबिम्बसंभवः। यदि च किरणानामुपकिरणैर्मणिपूरे सम्बन्ध उच्येत तदाऽग्नेरपि किरणानां मूलाधारं गच्छतां कथं नोपकिरणैः स्वाधिष्ठाने सम्बन्धाभावः? तथा च तत्रापि द्विगुणकिरणसत्त्वेन प्रकाशत्वं कुतो न भवति? अनाहतोपरिदेशात् स्वाधिष्ठानस्य दवीयस्त्वात्सूर्यकिरणानामनुत्कृष्टत्वेन तत्र तामिस्रत्वमपि न बुद्धिपथमारोक्ष्यति कोटियोजनदूरस्थितस्यापि सूर्यस्यास्यां स्थूलपृथिव्यां विपुलं प्रकाशदर्शनादित्यलं बहुलालापेनेति विरम्यते।

तदेतदिति। तदेतद् भवत्याश्चक्रद्वयं शिखिकिरणसंमेलनवशात् कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेयमुदितमुक्तम्। न त्वमावास्यायापि पूजाविरह इत्याशयेन प्रतिदिनमित्युक्तम्। चक्रपूजनं द्विविधम्। आभ्यन्तरं बाह्यं च। तत्र समयिनामाभ्यान्तरमपि मूलाधारस्वाधिष्ठानपूजनं नास्ति। मणिपूरमारभ्यैव पूजायाः प्रागुक्तत्वात्। कौलाः पुनराधाराधिष्ठानयोरेवान्तरपूजामपि कुर्वन्ति न तु मणिपूरादौ। कुण्डलिनीप्रबोधनायाधारादौ

पूजनावश्यकत्वात्। कुण्डलिन्युत्थाने च सद्य एव मुक्तिरिति न तदुत्तरं मणिपूरादौ पूजनप्रसक्तिरेव। कुण्डलिनीप्रबोधेनैव गतार्थत्वाल्लक्षणमुक्ताः कौला इति व्यवहारः। तथा बाह्यपूजार्मापि। तथा हि द्विविधा भवन्ति कौलाः। पूर्वकौला उत्तरकौलाश्च। तत्र पूर्वकौला भूर्जपत्रादौ चक्रं लिखित्वा तत्र त्रिकोणे भगवतीं बिन्दुरूपां बिन्दुस्थानीयां वा पूजयन्ति। उत्तरकौलास्तु प्रत्यक्षं त्रिकोणं योनिरूपं तत्र बिन्दुं च पूजयन्ति। मूलाधारे बिन्दुरिति च प्रसिद्धम्। एवं सति कौलानां मूलाधारो हि न गुदस्थानं नापि किंचित्तदुर्ध्वस्थानमपि।तु तरुणोत्रिकोणबिन्दुर्यत्र तदेव मूलाधार-स्थानमित्यायाति। तथा च बाह्यपूजायां तरुण्याः प्रत्यक्षत्रिकोणस्य तदन्तरधोबिन्दोश्च यत् पूजनं तदेव परमपुरुषार्थसाधनभूतपूजनम्।

कौलानां यन्मूलाधारस्त्राधिष्ठानयोरान्तरपूजनं तत्तामिस्रलोकविषय-कत्वात्त्याज्यमिति सूचितम्। तदीयं बाह्यपूजनमपि त्याज्यमेवेत्युभयं समुच्चित्य त्याज्यत्वमाह—**तदीयमिति**। तदीयं कौलीयं। वामाख्यं मतं—बाह्यपूजालक्षणम्। तत्र तरुणीयोनिबिन्दुपूजाया निषिद्धाचारत्वा-त्त्याज्यत्वं समनन्तरश्लोके निरूपयिष्यते। भूर्जपत्रादौ चक्रं लिखित्वा या बाह्यपूजा क्रियते सापि कौलमतप्रविष्टत्वेन त्याज्यैव। तथाहि कौला न लिखितचक्रध्यानादिमात्रं कुर्वन्ति। किन्तु पञ्चमकारेण पूजनमाचरन्ति अतस्तदपि निषिद्धाचारान्तर्गतत्वात्त्याज्यमेव।

तदेतदुभयं मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रद्वयं कौलपूज्यं तथा कौलीयं वामाख्यं मतं तदपि च परित्याज्यमित्यपि योजना सुशका। अत्रापिकार उभयमित्यनन्तरं योज्यः स्यात्॥ ४२॥

अमीषां कौलानां भगवति भवेत् पूजनविधि—
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने
ततो बाह्या पूजा भवति भवरूपेण च ततो ।
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते ॥ ४३ ॥

हे भगवती ! इन कौलों की पूजाविधि प्रथम स्वाधिष्ठान में आपकी होती है। फिर मूलाधार में होती है। फिर बाहर चक्रपूजा होती है। फिर पांच मकार मैथुनमद्यादि से होती है। यह निषिद्ध आचार है। प्रमाणशून्य है। हे भगवती ! आप तो केवल शुभाचार संपन्न होने से यह आप को प्रिय नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे भगवति ! अमीषां कौलानां तव पूजनविधिः = पूजनकरणं **स्वाधिष्ठाने** प्रथमं **भवेत्**। **तदनु च** = तत्पश्चाच्च पूजनकरणं **मूलसदने** = मूलाधारे **भवेत्**। **ततः** पश्चात् **बाह्या**—भूर्जपत्रादौ च **पूजा भवति**। **ततो भवरूपेण** = मैथुनमद्यसेवनादिरूपेण **च भवति**। **हे अनिन्द्यचरिते !** = अनिन्दिताचरणे, **अयमाचारो निगमविरहः** = विधिशास्त्राऽविषयः **निषिद्धश्च** = निषेधशास्त्रविषयश्च ॥ ४३ ॥

अमृतझरिका

उक्तमेव प्रपञ्चयति—**अमीषामिति**। हे भगवति ! तव पूजनविधिरमीषां कौलानां प्रथमं स्वाधिष्ठाने भवेत्। तदनु तत्पश्चात् मूलसदने मूलाधारे पूजनविधिर्भवेत्। ततस्तदनन्तरं स्वाधिष्ठानमूलाधरयोरान्तरपूजानन्तरमिति यावत्। बाह्या पूजा भवति तेषामेव कौलानाम्। भूर्जपत्रादिलिखितश्रीचक्रगतत्रिकोणबिन्द्वोर्बाह्यपूजा तैः क्रियत इत्यर्थाद् गम्यम्। भवरूपेण चेति समुच्चयार्थकचकारदर्शनात्। तथा च आन्तरपूजानन्तरं बाह्यपूजा चक्ररूपेण च भवति, भवरूपेण भवतीत्यार्थिकी योजना कार्या। **भवरूपेणेति**। भवत्यस्मात्प्रजा भवो ग्राम्यक्रिया। अयमेव समुपसृष्टः संभवशब्दस्तां समभवदित्येवं श्रुतौ प्रयुक्तः। भगरूपेणेति कोशान्तरे पाठः। तदा च स्पष्टोऽर्थः। योनिवाचकत्वाद्भगशब्दस्य।

अयमत्राभिसन्धिः। आधारक्रमेव श्रीचक्रे त्रिकोणमित्युक्तम्। आधारे बिन्दुस्तिष्ठतीति च प्रसिद्धम्। त्रिकोणे स बिन्दुराराध्य इति कौला नित्यं त्रिकोणे बिन्दुमर्चयन्ति। त्रिकोणं च द्विविधम् श्रीचक्रगतत्रिकोणं तरुणीयोनिरूपत्रिकोणं चेति प्रागवोचाम। वस्तुतो विन्दुगता कौलिनी कुण्डलिनीशक्तिरेवाराध्येति। बिन्दुगतत्वाद्बिन्दुरूपिणी सा। निद्राणैव पूज्यते।

नन्वेवं स्वाधिष्ठानपूजा किमिति क्रियत इति चेदुच्यते। स्वाधिष्ठानध्यानचिन्तनपूजनादिना तद्गतवह्निः प्रज्वलितो भवति। तत्सहकृतादेव मूलाधारपूजनात् कुण्डलिनीप्रवोधः संभवतीति स्वाधिष्ठानमपि पूज्यत इति। बाह्यपूजायां तु स्वाधिष्ठानपूजयं नास्ति। कुण्डलिनीप्रबोधानुपयुक्तत्वादिति हेतोर्बाह्ये श्रीचक्रे त्रिकोणं तद्गतबिन्दुरेव च पूज्यते तथा तरुण्या इति।

यद्यपि मूलाधारस्य गुदस्थानत्वं लोके प्रसिद्धम्। तथापि न वस्तुतस्तत्स्थानत्वम्। तथा स्वाधिष्ठानं लिङ्गप्रदेश इत्यपि प्रसिद्धिमात्रं न तु वस्तुतः। तदेतदेव स्फुटयितुं समयिकौलादिसकलोपयोगितया चक्रस्थानं किंचिद्विचार्यते। तत्र मूलाधारस्थानमाह तत्त्वचिन्तामणौ षट्चक्रे—

'अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।' इति।

निर्वाणपद्धत्यामप्युक्तं—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन् मनः।
गुदमेढ्रान्तरं योनिस्तमाकुञ्च्य प्रबोधयेत्॥ इति।

गुदमेढ्रान्तरे योनिमेवाधारत्वेनात्र निर्दिश्यते। मायातन्त्रादौ च षण्णां स्थानानि—

मूलादिषट्सरोजातं चित्रिणीग्रथितं प्रिये।
लिङ्गाधोर्ध्वनाभिवक्षःकण्ठभ्रूमध्यदेशजम्॥ इत्यादि।

स्वच्छन्दादौ च—

"आधारपङ्कजस्योर्ध्वे सार्धद्वयङ्गुलकोपरि।
तैजसं साष्टपत्रं च",। इत्याधारस्य

एतस्माद् द्वयङ्गुलस्योर्ध्वे स्वाधिष्ठानं षडस्रकम्॥ इति।
ततश्च भावयेद् देवि नाभिमष्टाङ्गुलोपरि।
तत्पद्मं मणिपूरं च दशपद्मं सुशोभितम्॥ इति।

चतुर्दशाङ्गुलादूर्ध्वे मणिपूराख्यपङ्कजात् ।
पङ्कजं काकिनीमध्यं वायव्यं द्वादशारकम् ॥
एकादशाङ्गुलादूर्ध्वं विशुद्धं षोडशच्छदम् ।

इत्यादिना दौर्यं च प्रदर्शितम् ।

ननु तरुणीत्रिकोणबिन्दुर्लिङ्गस्थानमेव, न तु तदधो मूलाधारबिन्दुपूजनं कौलानामिति चेन्न । लिङ्गाध इत्यत्र पुरुषलिङ्गग्रहणात् । अत एव पूर्णानन्दैर्ध्वजाध इत्युक्तं न तु लिङ्गाध इति । पुरुषलिङ्गं ध्वज उच्यते योनिस्थानं गुदमेढ्रान्तर इति प्रदर्शितमेव । स्त्रीपुंसयोर्लिङ्गस्थानमत्यन्तभिन्नमेव पश्वादौ दृष्टम् । मानुषेष्वपि नैकं स्थानमिति । तथा च मूलाधारपूजनं च तरुणीत्रिकोणादावुपपन्नमेव । एवं स्वाधिष्ठानमपि लिङ्गात् किंचिदूर्ध्वमेव । अन्यानि तु यथा प्रसिद्धानि ।

ततः बाह्यपूजा भवरूपपूजा यतो भवति ततः । अयमाचारो निगमविरह्हो वेदप्रमाणरहितो निषिद्धाचारश्च ।

ननु परमेश्वरेण शम्भुना प्रोक्तत्वात् कथं निगमविरहत्वम् । स्मृत्या हि मूलश्रुतिरनुमीयते । अष्टकश्राद्धादिवच्च ततः समूलमेवेति चेन्न । श्रुतिविरोधात् । "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि", "न सुरां पिबेत्", "न मांसमश्नीयादि" त्यादिनिषेधश्रुविरोधात् । "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" इति न्यायात् । न च "अध्वरे पशुं हिंस्यात्" "अग्नीषोमीयं पशुमालभेते" त्यादिदर्शनात् अध्वरीयपशुहिंसाद्यतिरिक्तविषयं मा हिंस्यादिति वचनमभ्युपगतम् । तथा श्रीचक्रपूजादिप्रयोजकहिंसातिरिक्तविषयतयाप्यहिंसाशास्त्रं संकोच्यमिति वाच्यम् । यतः

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

इति मनुवचनाच्छ्रौतोभयवचनस्य प्रामाण्यात्तत्रागत्याऽग्नीषोमीयपश्वादीतरविषयकतया संकोच्यत्वेऽपि इह तदभावात् । शांभवं हि वचनं स्मार्तम् । तेन हि यावच्छ्रुतिरनुमीयते ततः प्रागेव निषेधश्रुतेः प्रवृत्तत्वात् प्रवृत्तायाश्च बाधसंकोचाद्यसंभवात् । तथा च न हिंस्यादित्यनेन बाधितत्वाद्धेतोर्हिंसानुमानमेव न संभवति । न चास्मदाद्यविषयश्रुतीनामपि सर्वज्ञेन शम्भुना नित्यदृष्टत्वात्तदनुस्मृत्य पञ्चमकारोपदेशादत्र श्रुत्यर्थसंकोच एव । "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादि"ति न्यायस्तु असर्वज्ञानुमानविषयक इति वाच्यम् ।

मिश्रकं कौलकं चैव परित्याज्यं हि शंकरि ।

इति शिवेनैव स्वयं तत्परित्याज्यत्वोक्तेः । तथा च निषेधशास्त्रमेवात्र प्रबलं प्रवर्तते । अपि च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधदर्शने नास्त्येव प्रामाण्यं तन्त्रवचनस्य । तथा चोक्तं देवीभागवते—

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
एतत्त्रयोक्त ऐव स्याद्धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥
विरोधो यत्र तु भवेत्त्रयाणां च परस्परम् ।
श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा ॥
श्रुतिद्वैधं भवेद्यत्र तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद्विषयः कल्प्यतां पृथक् ॥
पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्रदृष्टं यथातथम् ।
धर्मं वदन्ति तं धर्मं गृह्णीयान्न कथंचन ॥
वेदाविरोधि चेत्तन्त्रं तत्प्रमाणं न संशयः ।
प्रत्यक्षश्रुतिरुद्धं यत्तत्प्रमाणं भवेन्न च ॥
सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः ।
तेनाविरुद्धं यत्किंचित्तत्प्रमाणं न चान्यथा ॥

अत्र च स्पष्टमेव प्रत्यक्षवेदरुद्धस्य प्रामाण्याभाव उक्तः । तन्त्रदृष्टमिति वेदविरुद्धं तन्त्रदृष्टमित्यर्थः । तत्र "न हिंस्यात्सर्वाभूतानी"ति "न सुरां पिबेत्" "न मांसमश्नीयादि"त्यादयः प्रत्यक्षनिषेधाः । न परदारान् गच्छेदिति च । नापि पूजाकाले स्वदारगमनादिकमपि युक्तम् । शौचविधिलभ्यत्वात्तन्निषेधस्य । तथा च वचनम्—

तैलाभ्यङ्गे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि ।
तावद्भवति चाण्डालो यावत् स्नानं न चाचरेत् ॥ इति ।

केचित्तु भूर्जपत्रादिलिखितश्रीचक्रादिविषयकबाह्यपूजामपि निषिद्धां वदन्ति । "ततो बाह्या पूजा भवति भवरूपेण च ततो निषिद्धाचारोऽयम्" इत्येवमत्रत्यवचनस्यावयुत्यान्वये तथाविधार्थलाभश्च प्रतीयते । तथा च वचनान्तरम् —

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः ।
सा क्षुद्रफलदा नृणामैहिकार्थैकसाधनम् ॥

बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः ।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः ॥
अन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥ इति ।

तत्र कौलाः प्राग व्याख्यातास्तरुणीत्रिकोणपूजका अधोमुखं त्रिकोणमधोमुखमेव च च्छत्रं पूजयन्ति । क्षपणककापालिकदिगम्बरास्तु स्त्रियमुत्तानां कृत्वोर्ध्वं त्रिकोणं पूजयन्तीति विशेषः । तेषां तु निषिद्धत्वं प्रागुपपादितम् । भूर्जपत्रादिलिखितश्रीचक्रपूजापि बाह्यपूजासामान्यरूपेण बाह्यपूजा न कर्तव्येत्यनेन निषिध्यत इति ।

तत्रेदं वक्तव्यम् । बाह्यपूजानिषेधस्य वेदेष्वनुपलम्भात्कथं निषिद्धत्वम् । न च बाह्यपूजा न कर्तव्येति प्रकृतस्मार्तनिषेधान्निषिद्धत्वमिति वाच्यम् । बाह्यपूजाविधेरपि स्पष्टमुपलम्भात् । तथा च सति—

"स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्वाद्विषयः कल्प्यतां पृथक् ।"

इत्युपदर्शितवचनविषयत्वमेव । न च कर्तव्या बाह्यजातिभिरित्यनेन विषयव्यवस्थापि संपादितैवेति ब्रह्मणादीनां बाह्यपूजानिषेध इति वाच्यम् । पूजाङ्गतया विहितसंध्यावन्दनादीनां वैदिकानां बाह्यजातिभिः कर्तुमशक्यत्वात् । शिवविष्ण्वादीनामिव देव्या अपि बाह्यपूजाया विषेद्धुमशक्यत्वाच्च । निषेधः खलु निषिध्यमानस्य नरकसाधनत्वं ब्रूते । यथा **"न कलञ्जं भक्षयेदि"**त्यादौ प्रत्ययार्थेष्टसाधनत्वघटकीभूतेनेष्टेन नञर्थान्वयात्कलञ्जभक्षणस्यानिष्टनरकसाधनत्वबोधः । न हि भूर्जादिपत्रलिखितचक्रादिपूजने नरकप्राप्तिः कथंचिदपि शक्यसंभावना । शिष्टैर्वामाचारादिरहितदेवीबाह्यपूजाचरणस्य दर्शनाच्च । तस्मादत्र बाह्यपूजा न कर्तव्येत्यादिकं न निषेधवचनम् । किन्तु निन्दावचनम् । सा क्षुद्रफलदेत्युत्तरत्रोक्तेः । न हि निषिद्धस्य क्षुद्रमपि कामफलं संभवितुमर्हति । तथा च **"न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं किन्तु विधेयं स्तोतुमि"**तिमीमांसकसिद्धान्तात् 'अन्तराराधनपरा' इत्युत्तरत्रवक्तव्यान्तराराधनरूपविधेयस्तुतिपरकमेव बाह्यपूजा न कर्तव्येत्यादिवचनम् । वाक्यार्थं एवं वर्णयितव्यः—बाह्यपूजा न कर्तव्या अस्ति ब्रह्मवादिनाम् । नञोऽध्याहर्तव्यास्तिपदार्थेन वा प्रत्ययार्थेष्टसाधनत्वेन वाऽन्वयः । जीवन्मुक्ताश्चरन्तीति परमेष्टप्राप्तावविष्टान्तरविरहेण तत्साधतत्वस्य बाह्यपूजायामयोगात् ।

विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ।"

इति न्यायात्। बाह्यजातिभिरित्यनेन वेदाध्ययनादिविरहेण जीवन्मुक्तेरसंभावितत्वादिष्टविशेषाणां संभवात्तदभिप्रायेणोच्यते। तस्मादत्र सामान्यतो न बाह्यपूजाया निषिद्धाचारत्वमाचार्याभिमतम्। किन्तु वाममार्गे ये मांससुराभक्षणादयस्तेषां निषिद्धत्वेनैव निषिद्धचारत्वमभिमतम्।

अत्रानिन्द्यचरिते इति सम्बोधनं मांसभक्षणप्रभृतेर्भगवत्या अनभिमतत्वसूचनार्थम्। तथा हि ततः पातिव्रत्यं भजसीत्यादिता प्राक् पातिव्रत्योक्तेः परस्त्रीमैथुनादिकं भगवत्यनभिमतमिति गम्यते। तथा सहस्रारे पद्मेऽमृतरसास्वादतपराया भगवत्याः कथं नाम मद्यमांसादिभोजनप्रियत्वं स्यात्। यद्यपि महाकाल्याः क्वचिद्रुधिरमांसभक्षणादिकमुपलभ्यते। दुर्गायाश्च **"मधु यावत् पिबाम्यहम्"** इति मधुपानादिकमपि गम्यते। तथापि पराभट्टारिकायाः परमशिवपर्यङ्कनिलयाया नैतत् सर्वमिति श्रीविद्योपासकानां न तिरोहितम्। यदत्र पुनरधिकं वक्तव्यं तदग्रे निपुणतरमुपपादयिष्यामः॥ ४३॥



नवव्यूहं कौलप्रभृतिकमतं तेन स विभु-
र्नवात्मा देवोऽयं जगदुदयकृद् भैरववपुः ।
नवात्मा वामादिप्रकृतिभिरियं बैन्दववपु-
र्महादेवी ताभ्यां जनकजननीमज्जगदिदम् ।। ४४ ।।

कलाव्यूहादि नौ व्यूह हैं। उनसे भैरव भगवान् नवात्मा होकर जगत् कर्त्ता होते हैं। यह महादेवी भी वामादि प्रकृतियों से युक्त होकर विन्दु में नवात्मा है। इन दोनों से ही यह जगत् माता पिता वाला बना है ॥४४॥

अन्वयार्थबोधिनी

नवव्यूहं नवानां कलाव्यूहादीनां व्यूहानां समाहारो नवव्यूहं तत् **कौलप्रभृतिकसंमतं** **तेन** = नवव्यूहेन तादात्म्यापन्नः **भैरववपुः** = भैरवस्वरूपः **विभुः** परमात्मा शिवः **सोऽयं देवः जगदुदयकृत्** = जगत्स्रष्टा । **इयं बैन्दववपुः महादेवी वामादिप्रकृतिभिर्नवात्मा** । **ताभ्यां** नवात्मभ्यां भैरवभैरवीभ्यां **जगदिदं जनकजननीमत्** = समातापितृकम् ।। ४४ ।।

अमृतझरिका

आधारे कौलादीनां कीदृक्स्वरूपविषयकः पूजनविधिरित्येतदेव स्फुटयति समयिनां तत्परित्यागाय—**नवेति** । नवानां व्यूहानां समाहारो नवव्यूहं कौलप्रभृतिकमतं कौलप्रभृतीनां मूलाधारे पूज्यत्वेनाभिमतमित्यर्थः । कौलादीनां मूलाधार एव पूजासत्त्वात्तत्र च नवव्यूहात्मकभैरवस्य स्थितेस्तदेव रूपं तेषामभिमतमिति भावः । तेन च नवव्यूहेन स्वान्तर्गृहीतेन स विभुर्भैरववपुः भैरवनामा च देवोऽयं नवात्मा सन् जगदुदयकृद् जगदुत्पत्तिकृद् भवति । क्वचित् कोशे शैशववपुरिति पाठः । उभयोऽपि संमत एव । तन्त्रमतेनानन्दभैरवस्य तत्र स्थितेः । शिशुरूपस्तदधिष्ठातेति च मतान्तरेऽभ्युपगतम् । तथा च पूर्णानन्दयोगिनः—

चतुर्बाहुभूषं गजेन्द्राधिरूढं तदङ्के नवीनार्कतुल्यप्रकाशः ।
शिशुः सृष्टिकारी लसद्वेदबाहुर्मुखाम्भोजलक्ष्मीश्चतुर्भागभेदः ॥

इत्याधारं प्रक्रम्योचुः । अन्यत्रापि—

मूलाधारे धराबीजं तद्बिन्दौ ब्रह्मणः स्थितिः ।
तदङ्के शिशुरूपस्य गजारूढोऽमराधिपः ॥ इति ।

शिशुरूपस्य ब्रह्मणः स्थितिरित्यन्वयः । तदङ्के धराबीजाङ्केऽमराधिप इत्यादिको मतविशेषः । जगदुदयकृदिति विशेषणेन ब्रह्मणोऽभिन्नत्वमानन्द-भैरवस्य सूचितं भवति । दर्शितं च प्रागेव ब्रह्मादीनां शिवभेदविशेषत्व-मिति । नवव्यूहाश्चाभिहिताः—

कालव्यूहः कुलव्यूहो नामव्यूहस्तथैव च ।
ज्ञानव्यूहस्तथा चित्तव्यूहः स्यात्तदनन्तरम् ॥
नादव्यूहस्तथा बिन्दुव्यूहः स्यात्तदनन्तरम् ।
कलाव्यूहस्तथा जीवव्यूहः स्यादिति ते नव ॥ इति ।

तत्र कालव्यूहो नाम क्षणनिमेषपलघटिकाहोरात्रप्रभृतिकल्पपर्यन्तसकल-कालसमुदायः । न च कल्पे सर्वान्तर्भावात्कथं तत्समुदाय इति वाच्यम् । घटिकाव्यूहोऽहोरात्रं तद्व्यूहो मासादिरिति व्यूहत्वेन प्रतीयमानस्य काल-व्यूहत्वात् । कलावच्छेदकसूर्यचन्द्रयोरपि व्यूहान्तर्भाव एव ।

कुलव्यूहो नाम रूपसमुदायः रूप्यन्ते निरूप्यन्त इति रूपाणि घटपटा-दीनि पृथिवीजलप्रभृतीनि च । "नामरूपाभ्यां व्याक्रियते"त्यादिश्रुतौ सकलस्यार्थजातस्य रूपपदार्थत्वात् । न तु नीलपीतादिसमुदाय एव ।

नामव्यूहो "नामरूपाभ्यां व्याक्रियते"ति श्रुतिपरिपठितानां नाम्नां समुदायः । अर्थसृष्टेः शब्दसृष्टिपूर्वकत्वात् प्रथमं नामानि ततो रूपाणि भवन्ति । नामानि च तत्तद्वाचकशब्दविशेषा एव । तमिमं संज्ञास्कन्धमाच-क्षते विदः ।

ज्ञानव्यूहो नाम नामरूपोभयप्रयोजकानां ज्ञानानां समुदायः । "स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंचे"ति श्रुतेः । तपश्च ज्ञानात्मकमेव । तथा च श्रुतिः—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जयते ॥ इति ।

स च द्विविधः । सभागविभागभेदात् । सभागः सविकल्पः । विभागो निर्विकल्पः । एतमेव च विज्ञानस्कन्धमाचक्षते तद्विदः ।

चित्तव्यूहो नाम अहंकारादिपञ्चकसमुदायः। अहंकारश्चित्तं बुद्धिर्महत्तत्त्वं मनश्चेति। यद्यपि महत्तत्वमेव तन्त्रान्तरे बुद्धितत्त्वम्। तथापि श्रुतौ भेदेनोल्लेखो दृश्यते—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ इत्यादि।

समष्टिव्यष्टिभावेन वा शुद्धाशुद्धभावेन वा बुद्धिमहतोर्विभागो ज्ञेयः।

नादव्यूहो नाम चतुर्विधनादसमुदायः। परापश्यन्तीमध्यमावैखरीति च चातुर्विध्यम्। एतदभिव्यञ्जका रागेच्छाकृतिप्रयत्ना अपि नादान्तर्भूताः। तत्र रागस्य शब्दवासनात्मकस्य नित्यमेव सत्त्वान्नित्या परा। इच्छा पुनः प्रकटा तदवच्छिन्ननादः पश्यन्ती। कृतिर्यत्न आन्तरो येन मानसोच्चारणं भवति। प्रयत्नः प्रकट इति। न च पश्यन्तीप्रभृतयो न मूलाधार इति वाच्यम्। रागेच्छाद्यवच्छिन्ननादस्यैव विवक्षितत्वात्। स एव पश्यन्त्यादिभावेन पश्चादाविर्भवतीति।

बिन्दुव्यूहो नाम षण्णां चक्राणां संघः। न च मूलाधारस्येदं वर्णनमिति तत्र कथं षट्चक्रसंघसंभव इति वाच्यम्। समयिमते बिन्दौ सर्वचक्रसमावेशस्वीकारात्। स बिन्दुः सहस्रार इति समयिमतम्। मूलाधार इति कौलमतम्। किं च सकलजगज्जनकत्वात्सूक्ष्मरूपेण सर्वचक्रास्तित्वं भैरवे युज्यत एव।

कलाव्यूहो नाम पञ्चाशतः कलानां मातृकारूपिणीनां समुदायः। न च नादव्यूहे तदन्तर्भावः, तद्घटकीभूतवैखरीघटकत्वादिति वाच्यम्। वैखरीत्वमातृकात्वाभ्यां भेदात्। शक्तिविशेषरूपत्वाच्च।

जीवव्यूहो नाम भोक्तॄणां जीवात्मनां समुदायः। एवमेते नवव्यूहा भवन्ति। एवंविधनवव्यूहात्मकत्वान्नवात्मा देवोऽयमिति निगद्यते। एकस्यैवाद्वितीयस्य परमात्मनो भोक्तृभोग्यभोगलक्षणत्रैविध्येनावस्थानात्। तथा च श्रुतिः—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ इति।

न च मूलाधारे नामरूपादिसकलव्यूहात्मना भैरवस्य स्थितौ प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। स्रष्टुर्ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जगदुत्पत्तेस्तस्य मूलाधारस्थित-

त्वात्तद्रूपे भैरवे कारणरूपेण सर्वस्थितौ बाधकाभावात् । "तादात्म्यं हेतुहेतुमदभीष्टम्" इति पुण्यानन्दोक्तेः ।

एवं मूलाधारे नवात्मानं भैरवं प्रतिपाद्य नवात्मानं भैरवीं कौलानां तत्रैव पूज्यतया स्थितामप्याह—नवात्मा वामादीति । वामादिप्रकृतिभिरियं बैन्दववपुरियं महादेवी च नवात्मा भवति । सापि तत्र पूज्यत्वेन कौलप्रभृतीनां मता । वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञाना, क्रिया, शान्ता, परा इति नव वामादिप्रकृतयो भवन्ति इति लक्ष्मीधराद्याचार्याः । विवरणं चिद्वल्ल्यादौ तासां—

वामा विश्वस्य वमनाद् ज्येष्ठा शिवमयी ततः ।
द्रावयित्री रुजं रौद्री दोग्ध्री चाखिलकर्म्मणाम् ॥
आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला ।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता ॥
इच्छाशक्तिस्तथा ज्ञेया पश्यन्तीवपुषा स्थिता ।
ज्ञानशक्तिर्मध्यमा च क्रियाशक्तिश्च वैखरी ॥
निरंशा चिन्मयी शक्तिः शान्ता कुण्डलिनी परा ।

इत्येवं तासां स्वरूपाणि तत्र तत्र निर्दिष्टान्युपादाय कृतम् । प्रकारान्तरेण च वर्णितानि—

या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराकारेति कीर्तिता ।
हृद्बिन्दुं वेष्टयित्वा तु सुषुम्ना भुजगाकृतिः ॥
प्रबुद्धा सा निनादेन परेण ज्ञानरूपिणी ।
मथिता चोदरस्थेन बन्धनार्दपि वह्निना ॥
तावद्वै भ्रमयोगेन मन्थनं शक्तिविग्रहे ।
भेदात्तु प्रथमोत्पन्नाद् बिन्दुनादत्वमीयते ॥
समुत्थिता यथा तेन कलासूक्ष्मा तु कुण्डली ।
चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेश्चोत्तरगः प्रभुः ॥
मध्यमन्थनयोगेन ऋजुत्वं जायते प्रिये ।
ज्येष्ठा शक्तिः स्मृता सा तु बिन्दुद्वयसुमध्यमा ॥
बिन्दुनादत्वमायाता रेखाया मृतकुण्डली ।
लाकिनी नाम सा ज्ञेया उभौ बिन्दू यथागतौ ॥

त्रिपदा सा समाख्याता रौद्रीनाम्ना तु गीयते ।
रोधिनी सा समुद्दिष्टा मोक्षमार्गविरोधनात् ॥
शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्धचन्द्रिका ।
एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ॥
आभ्यां युक्ता विविक्ताभ्यः संजातो नववर्गकः ।
नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता ॥ इति ।

श्रीचक्रे ऊर्ध्वाधोभावेन व्यवस्थितेषु नवसु कोणेष्वेतन्नवाधिष्ठानत्वमपि केचिदाहुः ।

वस्तुतस्तु अम्बिकायास्त्रीणि रूपाणि--वामा, ज्येष्ठा, रौद्री च । शान्तायास्त्रीणि रूपाणि इच्छा, ज्ञाना, क्रियेति । परायास्त्रीणि रूपाणि—पश्यन्ती मध्यमा, वैखरीति । एतदेव स्वच्छन्देऽभिहितं—

वामादीच्छादिभेदेन मिथुनत्रयतां गता । इति ।

न चाम्बिका-शान्ता-पराणां तिसृणामतिरिक्तत्वात्संख्याधिक्यमिति वाच्यम् । वामादीच्छादिपश्यन्त्यादिसमष्टित्रयरूपत्वात्तासां तिसृणामतिरेकासिद्धेः । स्पष्टं च सर्वमिदं वर्णितं वामकेश्वरे—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला ।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता ॥ इत्यादिना ।

परमा कला शान्तेत्यर्थं इति केचिद् व्याख्यातारः । आत्मस्फुरणदर्शनात्मकवृत्तिरेव शान्तेत्यन्ये व्याख्यातारः । सैवाम्बिका । सैव परा वाक् च ।

बीजाकारस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी ।
वामा विश्वस्य वमनादङ्कुशाकारतां गता ॥

तस्या वामावस्थामाह—बीजेति । इयं प्रथमावस्था ।

इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्तीवपुषा स्थिता ।

शान्तायाः परायाश्च तदानीं रूपे आह—इच्छेति पश्यन्तीति च ।

ज्ञानशक्तिस्तदा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता ।

द्वितीयामवस्थामाह तिसृणां–ज्ञानेत्यादि ।

क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ।

तृतीयावस्थामाह—क्रियेत्यादि । इत्थमेकैव सा शक्तिर्नवरूपाणि धत्त इति नवात्मा वामादिप्रकृतिभिरित्यभिहितमिति ध्येयम् ।

बैन्दववपुरिति । यथोपदर्शिते श्रीतन्त्रसद्भावे या सा शक्तिः परासूक्ष्मेत्यादौ चतुष्कलमयो बिन्दुरिति बिन्दुद्वयसुमध्यमेतिचैवमादिविशेषणैर्बैन्दववपुष्ट्वम् । मूलाधारगतबिन्दुमध्यस्थत्वाद्वा बैन्दववपुरिति च भैरववपुरिति पाठान्तरम् । तत्र पक्षे भैरवीरूपत्वाद्वपुर्विशेषणं भैरवमिति युक्तमेव । भैरव एव वपुः यस्याः सा शिवशक्त्योरैक्यात् । तदुक्तम्—

नवव्यूहात्मको देवो परानन्दप्रदायकः ।
नवात्मा भैरवो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥
परानन्दपराशक्तिः चिद्रूपानन्दभैरवी ।
तयोर्यदा सामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा ॥ इति ।

अत्र परानन्दप्रदायक इत्यतः परानन्दरूपत्वं भैरवस्य । परानन्दपरेत्यनेन तद्वपुष्ट्वं च सूचितं भवति ।

ताभ्यां जनकजननीमज्जगदिदम् । ताभ्यां भैरवभैरवीभ्याम् नवात्मभ्याम् जनकजमनीमत् मातृमत् पितृमच्च । उक्तवचनादेव ।

"तयोर्यदा सामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा" इति ।

न च शिवशक्तिसामरस्ये सति मोक्ष एव भवति न तु जगदुत्पत्तिरिति वाच्यम् । संयोगात्मकसामरस्यस्य विवक्षितत्वात् । तथा चान्यत्र—

"स्त्रीपुंयोगे तु यत्सौख्यं सामरस्यं प्रकीर्तितम्"

कौलानां खल्विदमेव सामरस्यं मपञ्चकसेविनामिति नात्र किंचिदपूर्वमिव ।

ननु न कौलानामेव यथोक्तं मतम् । समयिभिरपि मूलाधारे यथोक्तरूपेणैव भैरवयोरनुसन्धानात् । तथा चोक्तं सौन्दर्यलहर्याम्—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम् ।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम् ॥ इति ।

न चायं कौलमतानुवाद एवेति वाच्यम् । मानाभावात् । समयिनामपि षट्चक्रसद्भावस्य प्रसिद्धत्वात्तन्मते रूपान्तरकल्पनाया अयोगात् । न च

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्यादि श्रुतिसहस्रेषु एकस्यैव कारणत्वोक्तेरत्र च जनकजननीमज्जगदिदं ताभ्यां जज्ञे इति श्रुतिविरुद्धार्थकथनान्नेदं समयिमतमिति वाच्यम्। शिवशक्त्योरेकत्वेन श्रुतिविरोधविरहात्। तथा चाहुः—

शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः। इति।

तन्त्रसिद्धान्ते एवंविधाद्वैतस्यैवोपगमात्। एतदेव स्वच्छन्देऽप्युक्तम्—

शिवाभिन्ना परा शक्तिः सर्वकर्मशरीरिणी।
वामादीच्छादिभेदेन मिथुनत्रयतां गता॥ इति।

तस्माद्वेदविरोधविरहात् समयिनामपीदमनुकूलमेवेति चेत्? सत्यम्। न वयं समयिनामेवंविधस्वरूपत्वं नास्तीति ब्रूमः। स च व्यूहरूपो भवतु भैरवः। नवात्मरूपिणी च भगवती। किन्तु वैन्दववपुष्ट्वं मूलाधारे नास्ति। बिन्दोः सहस्रारे एवाभ्युपगमात्। तदुक्तं प्रागेव—"सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्वैन्दवमिति"। भैरववपुरिति तृतीयपादपाठोऽपपाठ एव। तत्पाठाभ्युपगमेऽपि कौला वैन्दववपुष्ट्वमेव तत्र मन्यन्त इति तदभिमतं न समयिनामनुकूलम्। समयिनां च तत्र भैरवभैरव्योरनुसन्धानसत्त्वेऽपि पूजा नास्तीति प्रागेवोदीरितं, वक्ष्यते चेति कौलप्रभृतिकमतमित्युपपन्नमेव। भवतु वा भैरववपुरिति पाठं स्वीकृत्य कौलप्रभृतीत्यत्र प्रभृतिपदेन समयिनामपि परिग्रहः। कौलेभ्यो व्यावृत्तिरुत्तरश्लोके वक्ष्यमाणैव भवतु। सौन्दर्यलहर्यां मूलाधारे तत्स्थानकथनादत्र मतमितिपदेन पूज्यत्वेन मतमित्यर्थकरणादुत्तरश्लोकार्थानुकर्षेण यथोक्ता व्याख्या कृताऽस्माभिरिति ॥४४॥

भवेदेतच्चक्रद्वितयमतिदूरं समयिनां
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्यसदने ।
त्वया सृष्टैर्वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणै-
र्द्विधा लोके पूजां विदधति भवत्याः समयिनः ॥४५॥

समयमार्गियों के लिये मूलाधार और स्वाधिष्ठान पूजास्थान नहीं हैं। वे उन्हें छोड़कर मणिपूर में भगवती से सृष्ट जल प्रतिबिम्बित सूर्य-किरण और चन्द्र किरणों से, जो कि मणि जैसी लगती हैं, दो प्रकार से पूजा करते हैं ॥४५॥

अन्वयार्थबोधिनी

समयिनाम् एतत् चक्रद्वितयं = मूलाधारस्वाधिष्ठानलक्षणम् **अतिदूरं भवेत्** । दूरोत्सार्यमित्यर्थः । **एतद् युग्मं** चक्रद्वयं **विसृज्य तदनु**=तत्पश्चाद् **मणिपूराख्यसदने त्वया सृष्टैः वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणैः** अत एव मणिभावमापन्नैः **द्विधा लोके पूजां भवत्याः समयिनो विदधते** ॥४५॥

अमृतझरिका

भवेन्मूलाधारमित्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः स्वरूपं तत्र कौलादीनां पूजनादिकं चाभिधाय यदर्थं प्रकरणमारब्धं तां यथोक्त-चक्रद्वयपूजात्याज्यतां वर्णयन् समयिनां पूजां स्फुटीकरोति—भवेदित्यादि । समयिनामेतच्चक्रद्वितयमाधाराधिष्ठानरूपमतिदूरं भवेत् । सहस्रारे एव मुख्यतया समयिनां पूजेति वक्ष्यमाणत्वान्मणिपूरादिकमपि दूरमेव । इदं पुनराधाराधिष्ठानचक्रद्वयमतिदूरमिति भावः । प्रथमावस्थायां तु समयिनो मणिपूरादौ पूजनं विदधति । तदिदमादायाह—विसृज्येति । एतद्युग्मं मूलाधारस्वाधिष्ठानलक्षणचक्रद्वयं विसृज्य त्यक्त्वा तदनु तत्पश्चात् समयिनो मणिपूराख्यसदने पूजां विदधतीत्यन्वयः ।

ननु विसर्जनस्य पाश्चात्त्यं विसर्जनीयस्य प्रथमं ग्रहणे सति भवति । न ह्यगृहीतस्य विसर्जनं कुत्रापि प्रसिद्धम् । तथा च मूलाधारस्वाधिष्ठानयो-र्ग्रहणस्यैव विरहाद् विसृज्य तदनु इत्यसंगतम् । न च मनसा विसृज्येत्यर्थ-करणाददोष इति वाच्यम् । अन्यादृशग्रहणविसर्जनयोर्घटादिबाह्यपदार्थ-

वदत्राऽसंभवेन मनसेति विशेषणवैयर्थ्यात् । अत्रोच्यते । कुण्डलिनीप्रबोधनाद्यर्थतया समयिमतेऽपि अनुसंधानात्मकग्रहणमावश्यकमिति प्रतिपादितं प्राक् । अनुसन्धानोत्तरं पूजामकृत्वैव विसृज्य तदनुसंधानमपि त्यक्त्वा मणिपूरे पूजां विदधत इति व्याख्यानाददोषः । न हि समयिमतेऽपि सर्वथा तदनुसंधानमेव नास्तीति शक्यं वक्तुम् । तथा सति तदीयवर्णनस्यैवानर्थक्यापत्तेः ।

कथं तत्र पूजनमित्येतदुच्यते—त्वया सृष्टैरिति । योगिप्रभृतीनां मणिपूरेऽग्नितत्त्वोपगमेऽपि तन्त्रमते तत्र जलमेव वर्तते ।

मणिपूरैकवसतिः प्रावृषेण्यः सदाशिवः ।

इत्यादिप्राक्प्रदर्शितवचनात् । "महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे" इत्याचार्यवचनाच्च । कं जलम् । न केवलं वारितत्त्वमेव । अपि तु प्रावृषेण्य इति विशेषणाद् स्थूलमपि विद्यते जलम् । प्रदर्शिता च प्राक् धूमज्योतिःसलिलमरुतां तत्र सत्त्वेन मेघोत्पत्तिस्तज्जन्यजलसंपत्तिश्च । तत्र च सूर्येन्दुकिरणप्रतिफलनाद्वारिकणा एव मणिशोभामापद्यन्ते । तैरेव मणिभिः खचिता या भूषास्ताभिर्भूषाभिः समयिनः पूजां विदधति । एतदेव क्षकारः पञ्चाशत्कल इति श्लोके—भवेत्पूजाकाले मणिखचितभूषाभिरभितः प्रभाभिर्व्यालीढं भवति मणिपूरं सरसिजमित्यनेन प्रागभिहितम् । न हि नाभिमण्डलान्तःस्थितं मणिपूरसदनं बाह्यमणिखचितभूषाप्रभाव्यालीढं भवितुमर्हति ।

ननु मणिपूरे सूर्येन्दुकिरणयोरपि कथं प्रवेशः । न हि बाह्यसूर्यचन्द्रकिरणसंपर्कस्तत्र शक्यसंपादः । न चानाहताज्ञाचक्रद्वयोपरिगतसूर्यचन्द्रयोः किरणानां संपर्कस्तत्र संभवतीति वाच्यम् । तयोः सूर्यचन्द्रयोरतीन्द्रियत्वेन तदीयकिरणानामप्यतीन्द्रयत्वात् । न ह्यतीन्द्रियसूर्यकिरणप्रतिबिम्बेन मणिखचितभूषाशोभासंपादनसंभवः । न च भावनाविशेषेण सूर्यचन्द्रकिरणप्रतिबिम्बप्रयुक्तमणिशोभासंपत्तिसंभव इति वाच्यम् । भावनयैव मुक्तामाणिक्यादिमणिकल्पनाया अपि मणिपूरे संभवेन वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणप्रतिबिम्बानुधावनेनाऽयथार्थमणिशोभाप्रकल्पनपुरःसरतदीयाऽयथार्थभूषारचितपूजाकल्पनाया अत्यन्तविफलत्वापत्तेः । को वा रङ्गो राजभावं कल्पयन्नपि वास्तविकराजभावमुज्झित्वा वैदूषकराजभावं कल्पयितुं संनह्यति । तामेतामाशङ्कां वास्तविकमणिशोभासंपादनेन

परिहरति—त्वया सृष्टैरिति। अयं भावः—न खलु अनाहताज्ञाचक्रयो-रुपरिगतसूर्यचन्द्रप्रतिबिम्बेन वारिकणानां मणिपूरगतानां मणिशोभां वयं ब्रूमः। किन्तु कृपामय्या भगवत्या सृष्टैः सूर्येन्दुकिरणैर्वारिप्रतिफलितैर्मणि-शोभामुपपादयामः। तथाहि रुद्रयामले प्रोक्तं—

नमो महाबिन्दुमुखी चन्द्रसूर्यस्तनद्वया।
सुमेरुहार्धवलया शोभमाना महीपदा॥
पातालतलविन्यासा त्रिलोकीयं तवाम्बिके।
कामराजकलारूपा जागर्ति सचराचरा॥

इतिवचनात् बाह्यसूर्यचन्द्रयोर्विराड्रूपभगवत्याः स्तनद्वयत्वान्मणिपूर-गताया अपि स्तनद्वयस्य सूर्यचन्द्ररूपत्वं सिध्यतीति तदीयकिरणैः प्रति-फलितैर्मणिभावः। किंच—

चन्द्रसूर्यौ स्तनौ देव्यास्तावेव नयने स्मृते।
उभौ ताटङ्कयुगलमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।

इति वचनान्तराद्देव्याः ससूर्यचन्द्रावयवत्वं सुस्थितम्। तदीयाः किरणाश्च सूपपादा एव।

नन्वेतत्सर्वमपि भावनयैव मणिपूरे संपाद्यम्। तथा च भावनयैव मुक्ता-माणिक्यादिहारसंभवे सर्वोऽप्ययं द्रविडप्राणायामोऽनर्थक एवेति चेन्मैवम्। न हि कल्पनामात्रप्रयुक्ता भगवतीप्रतीककिरणा इति वयं मन्महे। भावना-प्रकर्षेण भगवत्या मणिपूरे साक्षात्प्रत्यक्षोपगमात्। अभिहितं च प्राक्— "यदा पश्यति पराम्" इति। "स्फुरति बहिरन्तर्भगवती" इति मणिपूरे भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरुपास्ते" इति च बहुलं प्राक् प्रदर्शितत्वात्। प्रात्यक्षिकभगवतीनयनताटङ्कस्तनादियुगलनिःसरत्किरणानामपि प्रत्यक्ष-त्वात्तत्प्रतिबिम्बानि तत्प्रयुक्तवारिकणमणिशोभा च प्रत्यक्षमेवावगम्यत इति युक्तं त्वया सृष्टैर्वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणैरिति।

इदं पुनरिहावधेयम्। यावद् भगवतीसाक्षात्कारो न भवति ताव-त्कथं पूजा संपत्स्यत इति चिन्त्यम्। न च बाह्यपूजैव तावदिति वाच्यम्। ये बाह्यपूजां न कुर्वन्ति तेषां का स्थितिरित्यस्य चिन्तनीयत्वात्। तस्मात् प्रथमं तावद् भावनामयमणिभिरेव पूजा संपादयितव्या। न च तदानीं केवलमणिभिरेव पूजेत्यपि युक्तम्। आवाहनपाद्यार्घ्यादीनामपि भाव-नामयानां संभवात् सत्त्वाच्च। तदानीं च न सूर्येन्दुकिरणप्रतिफलनभाव-नादिकमुपयुक्तम्। पुष्पादीनां भावनामयानां संभवे मणीनामपि तथा-

विधानां संभवेन किरणप्रतिबिम्बादिकल्पनाया अनुपयुक्तत्वात् । तदेतदाह—द्विधेति । लोके—उपासकलोके । अथवा आलोक इति च्छेदः । आलोकमये मणिपूरे न त्वन्धकारमययोर्मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरित्यर्थः । त्वया सृष्टैर्बिम्बात्मककिरणैस्तथा वारिप्रतिफलितकिरणैश्चेति द्विधा संपन्ने आलोके प्रकाशे पूजां विदधतीत्यपि योजना संभवति । तथापि मणिखचितभूषाभिरिति प्रागुक्तत्वात्तथाविधयोजना नादृता ।

अथवा त्वया सृष्टैर्वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणैरेव करणभूतैर्द्विधा पूजा विवक्षिता । तत्र भावनाप्रकर्षजनितभगवतीसाक्षात्कारविषयभूताः किरणा न लौकिका भवन्तीति निर्विवादम् । तथा च प्रात्यक्षिकाणामपि तेषां ज्ञानकिरणरूपत्वमेव । अत एव चिन्मयत्वमाचक्षते भगवतीशरीरस्य तन्त्रविदः । ज्ञानात्मिका पूजा द्वितीयविधेति फलितार्थः । सा च पूजा ज्ञानप्रकर्षवतां सौन्दर्यलहर्याम्—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे व्यवसितम् ॥

इति श्लोकेन प्रतिपादिता । एवंविधा पूजा वामकेश्वरादावपि प्रतिपादिता—

न ध्यानं मुखमुद्रादिकलानां परिकल्पनम् ।
ध्यानं शक्तिसमाशेशात्सुमहत्सामरस्यकम् ॥
संयतेन्द्रियसंचारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न च बाह्यजपो जपः ॥
तावदग्नौ न होतव्यं तत्तत्तन्त्रोदितं यथा ।
यावदात्ममहावह्नौ मनः पूर्णाहुतिं हुनेत् ॥
स्वसंवित् त्रिपुरादेवी लौहित्यं तद्विमर्शनम् ।
पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ ॥
शब्दस्पर्शादयो बाणा मनस्तस्या भवेद्धनुः ।
विश्वप्रतीतिजनिकाः शक्तयश्च क्रमेण याः ॥
पूर्वपश्चिमकौ द्वारौ प्राणापानात्मकौ स्मृतौ ।
कालो धामानि भूतानि नवचक्राण्यनुक्रमात् ॥
करणेन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम् ।
विश्वाहंकृतिपुष्पैस्तु पूजयेत् सर्वसिद्धये ॥ इति ।

एषां श्लोकानां संक्षेपेण व्याख्या। मुखबाह्वादीनां वराभयादिमुद्रादीनां भगवत्याः स्वमनसि परिकल्पनं ध्यानं न भवति। किं तु आणवशांभवशाक्तात्मकदोषत्रयनिरासेन शक्तिसमावेशात् शक्तिप्रादुर्भवात् ब्रह्मात्मैक्यलक्षणं यन्महत् सामरस्यं तदेव ध्यानमित्यर्थः। जपमाह—संयतेति। इन्द्रियाणां प्रत्याहारेणान्तरं नादं प्रवर्तमानमेव प्रोच्चरेत्। स सर्वमन्त्रजपः। होममाह—तावदिति। होतव्यं हव्यमित्यर्थः। बाह्याग्नौ यद् हव्यं तद् हव्यं न भवति मनोविलासत्वाज्जगतस्तस्य मनस आत्माग्नौ यावत् पूर्णाहुतिं न कुर्यात्।

"होमो विश्वविकल्पानामात्मन्यस्तमयो मतः॥"

इति तन्त्रराजोक्तेः। नन्वात्मनि हवनमिदं न तु देव्या इत्यत आह—स्वेति। स्वयंप्रकाशसंविदेव त्रिपुरादेवी। लौहित्यं नाम इतराऽविषयस्वमात्रविषयकानुसंधानं विमर्शनम्। स्पष्टं तन्त्रराजे—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना।

इति। इति भावनैव ललितोपास्तिः। देव्याः पाशाङ्कुशौ तु निजात्मनि यौ रागद्वेषौ तावेव। शब्दादयो बाणाः। मनो धनुः। मनोवृत्तयश्चक्रदेवताः शक्तयः। अन्यत्रापि—

रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका॥ इति।
अन्यास्तु शक्तयश्चक्रगामिन्यो याः समन्ततः।
तास्तु विश्वविकल्पानां हेतवः समुदीरिताः॥

अत्र भावनान्तरमपि चतुःशत्याम्—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वला॥ इति।

द्वारद्वयस्यैव मुख्यत्वात्पूर्वेत्यादि द्वारद्वयकथनम्। काल एकः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्त्रीणि धामानि, पञ्च भूतानीति नवचक्राणि। करणेत्यन्तःकरणानि चत्वारि इन्द्रियाणि पञ्च। ज्ञानकर्मेन्द्रिययोरुपादानाकाशादीनां पञ्चत्वादिति मिलित्वा नव। एतेषां चक्रं समुदाय एव चक्रं श्रीचक्रं तत्र स्थितां संवित्स्वरूपिणीं देवीं विश्वाहंकृतिपुष्पैः विश्वस्मिन् षट्त्रिंशत्तत्वसमूहे या अहंकृतिः पूर्णाहंता "अहमेवेदं सर्वं" इति तथाविधैः पुष्पैः

पुष्पपदं सर्वोपचारोपलक्षणाय। तैः पूजयेत् सर्वसिद्धये सर्वात्मत्वसिद्धये सर्वतन्त्रोक्तफलसिद्धये चेति।

इदं तु बोध्यम्। द्विविधा मानसपूजा भवति। तत्तदुपचारविषयकमानसभावनया तत्तदर्थविषयकसंपत्त्या च। यथा भगवत्पादैः शिवमानसपूजायां प्रथमं "रत्नैः कल्पितमासनं हिमजलैः स्नानं च दिव्याम्बरमि"-त्यादिना सकलोपचारभावनात्मकमानसपूजाऽभिहिता। अन्ते तत्तदर्थविषयकसंपत्त्या—"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहमि"त्यादिरूपा। न हि आत्मैव शम्भुश्चेत्तदुपरि हिमजलस्नानादिकं मनसापि शक्यते कल्पयितुम्। तस्माद् भावनारूपा संपत्तिरूपा चेति द्विधैव मानसी पूजा। तत्र प्रथमावस्थायां भावनात्मकोपचारकृतपूजा भवति। लब्धज्ञानानां जीवन्मुक्तानां तु संपत्तिरूपा मानसी पूजा स्यात्। एवंविधा द्विधा पूजैवात्र द्विधा लोके पूजामित्यनेन दर्शिता।

किं चैवंविधा पूजाद्वय्यपि पुनर्द्विधा भवति। भगवतीप्रत्यक्षकालीना तदीयपरोक्षकालीना च। परोक्षज्ञानकाले तु सर्वथा भावनामय्येव। भगवतीसाक्षात्कारानन्तरं तु त्वया सृष्टैरित्यादि प्रकृताभिहिता पूजेति। इत्थं च साक्षात्कारोत्तरभविष्यज्जलकणमणिभिरेव तत्पूर्वमपि भावनामयी पूजेति सर्वं चतुरस्रम् ॥४५॥



अधिष्ठानाधारद्वितयमिदमेवं दशदलं
सहस्राराज्जातं मणिपुरमितोऽभूद्दशदलम् ।
हृदम्भोजान्मूलान्नृपदलमभूत् स्वान्तकमलं
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम् ॥४६॥

स्वाधिष्ठान और मूलाधार को मिलाकर दस दल होते हैं। ये सहस्रार से पैदा हुए। उन्हीं दस दलों से दस दलवाला मणिपूर हुआ। हृदय-कमल के बारह दल और मूलाधार के चार दल मिलाकर सोलह दलों से विशुद्धिचक्र का षोडषदल पद्म हुआ। इस प्रकार एक ही बिन्दु जगत का उत्पत्तिकारण सिद्ध हुआ ॥४६॥

अन्वयार्थबोधिनी

अधिष्ठानाधारद्वितयम् = अधिष्ठानं चाधारश्चेतिद्वयं मिलितम् **इदमेवं दशदलं**=दशानां दलानां समाहारः। चत्त्वार्याधारदलानि षट् स्वाधिष्ठान-दलानीति, तदेतत् **सहस्राराज्जातम्**। **इतो** दशदलसमुदायाद् **मणिपुरं दशदलम् अभूद्**=उत्पन्नम्। **हृदयम्भोजाद्** = द्वादशदलाद् **मूलाद्**= मूलाधारीयचतुर्दलाच्च मिलिताद् **नृपदलं** = षोडशारं **स्वान्तकमलं**= विशुद्धिपद्म **अभूद्**। **तदेव** = तस्मादेव **एको बिन्दुरयं** पूर्वोक्तक्रमेण **जगदुत्पतिकृत्** = जगज्जन्महेतुः ॥४६॥

अमृतझरिका

इतः परं कौलानां प्राकृतजनत्वं वर्णयिष्यंस्तदीयं मतं मतान्तरैक्या-भासं दर्शयन्नेव त्याज्यतास्फोरणाय प्रतिपादयति श्लोकैः—**अधिष्ठाने-त्यादिभिः**। क्षितौ वह्निर्वह्नौ वसुदलजल इत्यादि प्रागुक्तं स्वमतम्। इदं तु कौलमतम्। किं तत्? अधिष्ठानाधारद्वितयं मूलाधारः स्वाधिष्ठान-मितीदं द्वयमेव मिलितं दशदलं भवति। मूलाधारे चतुर्णां दलानां स्वाधिष्ठाने षण्णां दलानां च सत्त्वान्मेलनेन दशदलानि भवन्ति। तदिदं दशदलं सहस्राराज्जातम्।

ननु कथं मूर्धस्थितात् सहस्रारान्मूलाधारस्वाधिष्ठानगतदलानामु-त्पत्तिः सहसा भवति? मध्ये बहूनां कमलानां व्यवधानदर्शनादिति

चेन्न। मूलाधारेऽप्यधः सहस्रदलकमलसत्त्वात्। एतच्च प्रागेवोपपादितं स्वच्छन्दवचनेन।

"अधश्चोर्ध्वं सुषुम्णायाः सहस्रदलसंयुतम्"। इत्यादिना
"पङ्कजद्वयमीशानि स्थितं शाश्वतमव्ययम्।"

इत्यन्तेन। ननु सिद्धान्तेऽपि सहस्रारादेव साक्षात्परम्परया वा चतुर्दलषड्दलादिजन्म। चक्रोत्पत्तिकथनवेलायां "त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारमि"त्यादिकथनात्। श्रीचक्रषट्चक्रयोश्चैक्यात्। "त्रिकोणं चाधारं त्रिभुवननुतेऽष्टारमनघे भवेत्स्वाधिष्ठानमि"त्यादिना तदैक्योपवर्णनात्। न च मूलाधारे सहस्रारविरहात्कथं सहस्रारात्तच्चक्रोत्पत्तिरिति वाच्यम्। सहस्रारस्यैव बैन्दवतायाः प्राक्कथनात्। न च सहस्रारे पद्मे यच्छिशिरमहसो बिम्बमपरं तदेव बैन्दवमुक्तमिति वाच्यम्। एवमप्याधाराधेयैक्यविवक्षया यथोक्तार्थोपपत्तेः। स च बिन्दुर्वस्तुतो व्यापक इति मूलाधारेऽपि तदस्तित्वं सुवचमेव। अभिव्यक्तिस्तावत्सहस्रारे एवेत्यन्यदेतत्। अत एव श्रीचक्रेऽपि बिन्दौ शिवरूपे शिवचक्राणां चतुर्णामन्तर्भावोपपत्तिरित्यपि प्रागेवावोचाम। एवं स्थिते कथमत्र कौलमते सिद्धान्तविरोध इति चेत्। सत्यम्। अत एव मतान्तरैक्याभासमिति प्रथममवादिष्म। सिद्धान्ते बिन्दुस्थानं सहस्रारमेव मेरुदण्डोर्ध्वस्थमभिव्यक्तिस्थानम्। कौलमते मूलाधार एव। तत्रैव तदभिव्यक्तिः। तरुणीत्रिकोणबिन्द्वभिन्नं च स इति सिद्धान्तविरुद्धमतम्। मूलाधारावच्छिन्नबिन्दुरूपसहस्राराद्दशदलाद्युत्पत्तिरित्यपि समयिमतप्रतिकूलम्। मूलाधारावच्छिन्नबिन्दुरूपसहस्रदले हि मेर्वधःस्थितसहस्रदलमेव यतो भवति तत इति। विशेषमनन्तरश्लोकयोर्वक्ष्यामः।

इत्थं सहस्रारात्प्रथमं चतुर्दलं मूलाधारं षड्दलं स्वाधिष्ठानं चाभवतामिति मिलित्वा दशदलानामुत्पत्तिः सहस्रारात्समभवदित्यायातम्। तदनन्तरं मणिपूरोत्पत्तिमाह—**मणीति**। इतोऽस्माद्दशदलात् सहस्रारोत्पन्नमूलाधारस्वाधिष्ठानसंमिलितदशदलादित्यर्थः। मणिपूरं दशदलमभूदुत्पन्नम्। विशुद्ध्युत्पत्तिमाह—**हृदम्भोजादिति**। हृदम्भोजमनाहतकमलचक्रं द्वादशदलम् तस्मादित्यर्थः। **मूलादिति**। मूलाधाराच्चेत्यर्थः। समुच्चयोऽत्र विवक्षितः। हृदम्भोजं द्वादशदलं मूलाधारं चतुर्दलमिति मिलित्वा षोडशदलं तस्मात् स्वान्तकमलं विशुद्धिकमलं षोडशदलमुत्पन्नमित्यर्थः। ननु—

"चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः"

इति कोषानुसारेण हृत्पिण्डं यदि गृह्यते तदा तदनाहतस्थानमेव। यदि मनस्तत्त्वं गृह्यते तदा तत्स्थानमाज्ञाचक्रमेव। तथा च स्वान्तपदेन कथं विशुद्धिचक्रं गृह्यत इति चेत्? सत्यं, दलसंख्यासामान्यमादायादोषात्। किं च—

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः॥

इति माण्डूक्यवचनान्मनःस्थानत्वं तैजसस्योक्तम्। स्वप्नस्थानश्च तैजसः

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः।
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥

इति प्रक्रमात्। स्वप्नस्थानत्वं च कण्ठेऽभिहितं नारदपरिव्राजके

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥ इति।

तथा चात्र स्वान्तकमलमित्यनेन कण्ठदेशस्थविशुद्धिचक्रग्रहणं सुगममेव।

अथवा स्वान्तकमलमित्यनेनानाहतचक्रग्रहणमेव भवतु। हृदम्भोजान्मूलादित्यत्र हृदम्भोजं न द्वादशदलम्। तस्योत्पत्त्यनुक्तेः। किन्तु स्वच्छन्दे द्वात्रिंशत्कमलानामभिहितत्वात्

"तयोर्मध्ये सुषुम्नान्तस्त्रिशदाधारपङ्कजम्"

इति तद्वचनादूर्ध्वाधोद्वयमिलनेन द्वात्रिंशत्संख्याकत्वात्तदन्तःपातिहृदयगतमष्टदलमेव हृदम्भोजमित्यनेन ग्राह्यम्। द्वादशदलपद्मस्याधोदेशे रक्तवर्णाष्टदलपद्मोपगमात्। तथा चोक्तम्—

तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं तत्र कल्पतरुं तथा।
इष्टदेवासनं चारु चन्द्रातपविराजितम्॥ इत्यादि।

अत एवाचार्या लिङ्गाष्टकस्तुतौ—

"अष्टदलोपरिवेष्टितलिङ्गं सर्वसमुद्भवकारणलिङ्गम्"

इत्यगासिषुः। योगिनोऽप्याहुः—

अतिरम्यं हि भूतानां पद्मच्छिद्रमधोमुखम्।
वितस्तिमात्रतो देशे नाभेरूर्ध्वमवस्थितम्॥

यथैवाष्टदलं पद्मं सुरक्तं मुकुलीकृतम् ।
एवं हृदयपद्मं तल्लम्बते हृदयस्य के ॥
सोमाग्निरविनक्षत्रविद्युद्वत्तेजसा युतम् ।
भाति विश्वस्य कृत्स्नस्य ह्याश्रयो योगिनां सदा ॥ इति ।

तस्माद् हृदम्भोजमष्टदलकमलम् । मूलादित्यनेन मूलाधारपद्मग्रहणम् । तयोर्दलमेलने द्वादशसंख्याकानि भवन्ति दलानि । ततोऽनाहतपद्मं द्वादशारं भवतीति ।

अत्र व्याख्यायां नृपपदेन द्वादशसंख्या बोध्या ।

"नृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः"

इति मण्डलेश्वरस्य नृपत्वात् ।

"स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च"

इति विश्वप्रकाशोक्तेः द्वादशराजकेश्वरस्य द्वादशसंख्यत्वोपपत्तेः । न च प्रथमव्याख्यापक्षेऽनाहतकमलाऽकथनेन न्यूनता । द्वितीयव्याख्याने विशुद्धिचक्राऽकथनेन न्यूनता । व्याख्याद्वयेऽपि आज्ञाया अस्पर्शान्न्यूनत्वमेवेति वाच्यम् । कौलैः प्रकृतिरिह मूलाधारस्वाधिष्ठाने इति विवक्षितम् । तदर्थं सर्वकथनं नोपयुक्तमिति न्यूनत्वाभावात् । भवतु वा तन्त्रेण व्याख्याद्वयपदार्थसंग्रहः श्लोके । आज्ञाचक्रोत्पत्तिश्च वक्ष्यमाणाऽत्रोपलक्षणीयेति न न्यूनत्वापातः । न च द्वितीयव्याख्यायां हार्दमण्डलं कुत उत्पन्नमित्यकथनाद् दुर्बोधतेति वाच्यम् । मुख्यषट्चक्रकमलोत्पत्तेरेव वक्तव्यत्वादष्टदलोत्पत्त्यकथनेऽपि न्यूनत्वविरहात् । न चैवमाधाराधिष्ठानद्वयप्रकृत्यनुत्पन्नाष्टदलत उत्पत्तिकथनात् कथं द्वादशारस्याधाराधिष्ठानप्रकृतिकत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अष्टदलेन सार्धं मूलाधारचतुर्दलस्योक्तत्वात्तावतैव तत्प्रकृतिकत्वसिद्धेः । जलसहकृतमृत्तिकाजन्यस्यापि घटस्य मृत्प्रकृतिकत्वमुपेयत एवेति ।

तदेवेति । तत्तस्मादेव कारणादेको बिन्दुरयं जगदुत्पत्तिकृद् भवति । ननु चात्र षडब्जोत्पत्तिरेवाभिहितेति बिन्दोर्जगदुत्पत्तिकृत्त्वे हेतुत्वं तदित्यनेनोक्तं नोपपद्यत इति चेन्न । षट्चक्राभेदस्य श्रीचक्रे पूर्वं व्यवस्थापितत्वात् । श्रीचक्रस्य च ब्रह्माण्डस्वरूपतायाः स्वीकृतत्वात् । अथवा मूलाधारे पृथिवीतत्त्वं, स्वाधिष्ठानेऽग्नितत्वं, मणिपूरे जलतत्त्वम्, अनाहते वायुतत्त्वं विशुद्धावाकाशतत्त्वमिति बहुशः प्रागुपपादितम् । तथा च

तत्तच्चक्रोत्पत्तिकथनेन तत्तत्तत्त्वोत्पत्तिरप्युक्तप्रायेति जगदुत्पत्तिकृत्त्वं सिद्धम् । पञ्चभूतात्मकत्वाद्विश्वस्य । तथा च वामकेश्वरे भैरववचनम्—

पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सनातनी ॥ इति ।

बिन्दुः सहस्रारमिति वक्ष्यते । तेन सहस्रारादेतेषां जन्म निरूपितमिति कथं बिन्दोर्जगदुत्पत्तिकृत्त्वमत्र सिद्धमिति नाशङ्कनीयम् ।

नन्वेवंविधप्रतिपादने कोऽत्र समयिनां विरोधः । न च समयिनां बिन्दुर्मूर्धनि सहस्रारे कौलानां मूले इति विरोध वाच्यम् । समयिमतेऽपि बिन्दोर्व्यापकत्वेन मूलाधारे स्वीकारावश्यकत्वात् । प्राकट्यं मूर्धन्येवेति तु स्वीयोपासनाभेदपरिणाम एव । कौलानां मूलाधारे स्वीयोपासनावशाद्बिन्दोः प्राकट्यमिति सोऽयं विरोधोऽकिंचित्कर इति चेन्न । बिन्दोरुत्पन्नयोर्मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः पृथिवीजलात्मकत्वे पृथिवीवह्न्यात्मकत्वे वा सर्वथापि वाय्वाकाशयोस्तदुत्पन्नत्वं श्रुतिविरुद्धमेव । श्रुतिर्हि—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।
आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः ।
अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः ।

इत्येवमुत्पत्तिक्रमं ब्रवीति । न तु पृथिव्या जलमित्यादि । अत एव भगवत्पादैः सौन्दर्यलहर्यां तवाज्ञाचक्रस्थमित्यारभ्य मूलाधारपर्यन्तं हेतुहेतुमद्भावं सूचयद्भिराज्ञाविशुद्धिहृदयादिकमलानां वर्णनं कृतम् । एतस्मादात्मनः—मायाविशिष्टादात्मनः इत्यर्थः । माया चाविद्या च मन एव ।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन् विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन् सकलं विजृम्भते ॥

इति मनस एवाविद्यात्वस्य जगज्जनकतायाश्चोक्तेरिति आज्ञायां प्रथमं मनसः कथनं पश्चादाकाशादिरूपविशुद्ध्यादिकथनं चोपपद्यते । तस्माच्छ्रुतिविरुद्धत्वादिदं मतमनुपादेयमेव ।

नन्वयं दोषो भवन्मतेऽपि प्रसज्यते । समयिमते त्रिकोणमूलाधारयोः अष्टकोणादिस्वाधिष्ठानादीनां चैक्यस्योक्तत्वात्तेषां परस्परहेतुहेतुमद्भावस्य च—

त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुदभूत ।

इत्यादिना प्रपञ्चितत्वादिति चेन्न । त्रिकोणत्वाष्टारत्वदशारत्वादिधर्मावच्छिन्नतया पूर्वपूर्वस्य हेतुत्वमुत्तरोत्तरस्य हेतुमत्त्वमिति स्वीकारेऽपि पृथिवीत्वजलत्वतेजस्त्वादिधर्मपुरस्कारेणोत्तरोत्तरस्य हेतुत्वं पूर्वपूर्वस्य

हेतुमत्त्वमित्यत्र बाधकाभावात् । घटो हि मृत्त्वधर्मपुरस्कारेण कपालं प्रति हेतुः घटत्वधर्मपुरस्कारेण कपालं प्रति हेतुमानित्येवं स्थितिसत्त्वेऽपि मृद्घटयोरैक्यमस्त्येव । तथा चाकाशत्वाज्ञात्वादिधर्मपुरस्कारेणाज्ञाचक्रादेः कारणत्वमेव वायुत्वविशुद्धित्वादिपुरस्कारेण कार्यत्वं चेति क्षितौ वह्नि-र्वह्नौ वसुदलजल इत्यत्र प्रदर्शितसमयिसिद्धान्त एव श्रुत्यनुकूल इति ।

ननु च कौला वयमपि पृथिवीत्वजलत्वतेजस्त्वादिपुरस्कारेण बिन्दु-जन्यत्वं न व्याचक्ष्महे । किं नाम । चतुर्दलमूलाधारत्व-षड्दलस्वाधिष्ठा-नत्व-दशदलमणिपूरत्वादिनैव । तथा चास्माकं मतेऽपि न श्रुतिविरोधः प्रसज्यत इति चेन्न । एवं सति जगदुत्पत्तिकृदयं बिन्दुरित्येतन्नोपपादितं भवति । षट्चक्रोत्पत्तिमात्रस्य निरूपितत्वात् । मूलाधारादीनां पृथिव्यादि-तत्त्वरूपत्वेन ततो जलादितत्त्वात्मककमलोत्पत्त्यसंभवाच्च । न हि मृत्त्वेन घटत्वेन कार्यकारणभाववत् गन्धवत्त्वेन स्वर्शवत्त्वेन च मृदः कार्य-कारणभावसंभवः । यथा कथंचिदेवंविधोपपादनं क्रियेतापि, नहि तावता जगदुत्पत्तिकृत्त्वं बिन्दोः सेद्धुं प्रभवति । मा सिध्यतु, का नो हानिः ? बिन्दुं प्रकारान्तरेण जगद्धेतुं ब्रूमः । तदेवैको बिन्दु-रित्यत्र तदिति न हेतुबोधकः । किन्तु सामान्ये नपुंसकप्रयोगात् स एवैको बिन्दुर्जगदुत्पत्तिकृदिति विवक्षितार्थोऽस्तु । एतच्च तत्त्व-कथनं न तु पूर्वोक्तोपपत्त्युपपाद्यमिति चेद् ? मैवम् । प्रकृत्यु-पासका वयं कौला इति हि प्रतिपिपादयिषितम् । सकलजगत्प्रकृतिभूते च मूलाधारस्वाधिष्ठाने, तयोरपि प्रकृतिर्बिन्दुरिति हि विवक्षितम् । एतामेवोपपत्तिं कृत्वा तरुणीत्रिकोणपूजनं कौलैर्विधीयते । तरुणीत्रिकोणा-त्मयोनेः सबिन्दोः प्रजोत्पत्तिदर्शनात् । व्यष्टिपूजनेन समष्टिपूजनभावनो-पहितेन सर्वकार्यसिद्धिरिति हि कौलरहस्यम् । तदेतद् बिन्दोः केवलं तत्तच्चक्रत्वावच्छिन्नषट्चक्रजनकत्वमात्रेण कथमुपपद्येत । बिन्दोर्यथा-कथंचिदुपपादनेऽपि उपक्रान्तं यन्मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः पूजनं तत्कथं संगच्छेत । न हि बिन्दुत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावन्मूलाधार-त्वाद्यवच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावत्त्वं विश्वस्य संभवति । मूलाधारा-दिकं यदि पृथिवीत्वादिना गृह्येत तदापि पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्नजनकता-निरूपितजन्यतावत्त्वं जलादौ नास्त्येवेति कथंचिदपि मूलाधारस्वाधिष्ठा-नयोः प्रकृतित्वं न घटते । तस्मात्प्रकृत्युपासकत्वेन स्वीयं महीयस्त्वं न शक्यते कौलैः प्रदर्शयितुं श्रुतिविरुद्धार्थत्वादित्यलं विस्तरेण ॥४६॥

•

सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहम्
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं सकरणम् ।
ततो मूलाधारद्वितयमभवत्तद्दशदलं
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुरभवत् ॥४७॥

सहस्रार ही बिन्दु है। उससे त्रिकोणरूपी बैन्दवगृह उत्पन्न होता है। उसी बैन्दवगृह से इन्द्रियादि सहित समस्त जगत् उत्पन्न होता है। उसी बैन्दवगृह मे मूलाधार और स्वाधिष्ठान हुए जो दश दल होते हैं। वह सहस्रार से हुआ। अत एव बिन्दु दस रूपका हुआ ऐसा कहा जाता है ॥४७॥

अन्वयार्थबोधिनी

सहस्रारमेव बिन्दुः। ततो बैन्दवगृहं त्रिकोणं भवति। **तदेतस्माद्** = तस्मादेतस्माद् बैन्दवगृहात् **सकरणमशेषमिदं जगद् जातम्**। तत एव बिन्दोर्बैन्दवगृहाद्वा **मूलाधारद्वितयम्**=आधाराधिष्ठानद्वयम् अभवत्। तच्च मिलित्वा **दशदलमभवत्। तत् सहस्राराज्जातमिति** हेतोर्बिन्दुरेव **दशधा**-दशदलात्मना**ऽभवदिति** ॥४७॥

अमृतझरिका

ननु सहस्राराद्दशदलं ततो मणिपूरादिकं च भवतु तावता बिन्दुः कथं जगदुत्पत्तिकृद्भवेदित्याशङ्कां बिन्दुसहस्रारयोरैक्यप्रतिपादनेन परिहरन् बिन्दोरेव दशदलोत्पत्तिमपि व्यत्ययेन स्फोरयति—सहस्रारमिति। सहस्रारमेव बिन्दुर्भवति न तु बिन्दुसहस्रारयोर्भेद इत्यर्थः। परैरपि तयोराधाराधेयभावोपगमादत्यन्तभेदस्य तैरप्यस्वीकारादिति भावः। भवति च ततो बैन्दवगृहं ततः सहस्रारात्मकाद् बिन्दोर्बैन्दवगृहं त्रिकोणं भवति च। बिन्दोर्नात्यन्तभिन्नं बैन्दवगृहम्। किन्तु तस्यैवोच्छूनावस्था त्रिकोणं भवति। तस्य बैन्दवत्वमागमेषु प्रसिद्धम्—

त्रिकोणरूपा योनिस्तु बिन्दुना बैन्दवं भवेत् ॥ इति।

बिन्दुत्रिकोणयोश्चाभेदः प्रागपि प्रदर्शितः—

"त्रिकोणे बैन्दवे श्लिष्टम्"

इत्यादिवचनात् । अत एव वामकेश्वरे चक्रोत्पत्तिकथनवेलायां त्रिकोणस्य पृथग्वर्णनाभावः । अनुपदमेव सर्वं स्फोर्यते । तदेतस्मादिति । तस्मादेतस्माद् बैन्दवगृहाद् बिन्दोर्वा सकरणमशेषं जगदिदं जातम् । तथा च वामकेश्वरे—

शून्याकाराद्विसर्गान्ताद्बिन्दुप्रस्पन्दसंविदः ।
प्रकाशपरमार्थत्वात्स्फुरत्तालहरीयुतात् ॥
प्रसूतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम् ।
बैन्दवं चक्रमेतस्य त्रिरूपत्वं पुनर्भवेत् ॥

अस्यार्थः—प्रथमं महाबिन्दुमाह—यत्र बिन्दुत्रयं वर्तते । बिन्दुत्रयस्वरूपं तावत्–शून्याकाराद्विसर्गान्तादित्यनेनाह । शून्योऽविद्यमान आकारो यस्य सः निराकार इत्यर्थः । विसर्गो विविधसर्गस्तस्यान्तः प्रलयो यत्र स एवंविधः स महाबिन्दुस्तस्मादिति स्वरूपकथनम् । किं च शून्याकारादित्यूर्ध्वबिन्दुकथनम् । शून्यमेवाकारो यस्य । दशशतादिसंख्यादिलेखनकाले बिन्दुरूपेण हि शून्यं लिख्यत इति । शून्यरूपो बिन्दुरूपोऽकारः प्रथमवर्णात्मको यस्मिन्निति वा । विसर्गान्तादित्यनेनाधोबिन्दुद्वयमुच्यते । विसर्गो हि बिन्दुद्वयरूपेण लिख्यते । सोऽन्ते बिन्दुलेखनोत्तरं नीचैरिति यावत् । तथा विसर्गो हकारः सोऽन्ते यस्य सः । तथा च त्रिबिन्दोरिति अकारहकाररूपाऽहंकारादिति चार्थः ।

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ॥

इति संकेतपद्धत्याम् । एतत्त्रितयमिलितरूप एव परो बिन्दुः पूर्णाहंतारूपः । अत्र च विविधसर्गान्तनिराकारोक्तेः अर्थात्मकसकलप्रपञ्चाश्रयत्वमभिहितं भवति । अहेति प्रत्याहारेण सकलमातृकावर्णसंग्रहात् वागात्मकसकलप्रपञ्चाश्रयत्वं चाभिहितम् । प्रलये सकलार्थानां विलीनतत्त्वात् प्रत्याहारे च सर्ववाचां विलीनत्वाद् विलीनवागार्थप्रपञ्चात्मकबिन्दुस्वरूपमुपक्षिप्तं भवति । तदेतत्स्वरूपमेवाह—प्रकाशपरमार्थत्वादिति । प्रकाश एव परमार्थता पारमार्थिकं स्वरूपं यस्य स तस्मात् । तदुक्तं कामकलाविलासे—

सकलभुवनोद्यस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥ इति ।

ऊर्ध्वबिन्दुः प्रकाशरूपः। अधोबिन्दू विमर्शरूपौ। तथापि तयोर्मिलित-स्वरूपबिन्दुरन्तर्लीनविमर्शः प्रकाशमात्रतनुः। यद्यपि बिन्दुत्रयमपि तत्र लीनमेव तथा चन्तर्लीनप्रकाशविमर्शोभयरूप एव सः। तथापि प्रकाशो लीन इति न वक्तव्यमस्तीत्यतोऽन्तर्लीनविमर्श इत्येतावन्मात्रमुक्तम्। सकलशिवविषयकत्वेन वा। तस्य च पूर्णाहंकाररूपत्वेन सकलवाग्रूपत्वं विसर्गान्तत्वाज्जगल्लयाश्रयत्वं च स्पष्टमाह—

चित्तमयोऽहंकारः सुव्यक्ताहार्णसमरसाकारः।
शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति॥ इति।

चित्तमयः ज्ञानमयः प्रकाशमय इति यावत्। अहंकारः अहमित्युद्भूतस्य प्रत्ययस्य कारः कारणम्। कथमिव? सुव्यक्तयोरकारहकारयोर्यः प्रलये समरसभावस्तदाकार इत्यर्थः। शिवशक्तिमिथुनस्य पिण्ड एकलोलीभूतं रूपम्। एतदेवाह—स्फुरत्तालहरीयुतादिति। स्फुरत्ता अहमिति स्फूर्तिः सैव लहरीव तद्युतात्।

स्वपरावभासनक्षम आत्मा विश्वस्य यः प्रकाशोऽसौ।
अहमिति स एक उक्तोऽहंतास्थितिरीदृशी तस्य॥

इति श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्। प्रत्यभिज्ञायामपि—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ इति।

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति" इति श्रुतिरपीममर्थमाह। अस्य परबिन्दोर्बिन्दुत्रयत्वं कथमित्युच्यते बिन्दु-प्रस्पन्दसंविद इति। शून्याकाराद् विसर्गान्तादित्यनेन प्रथमदर्शितार्थे निराकारत्वं सर्वविधसर्गप्रलयरूपत्वं चोक्त्वा निष्कलो निर्गुणो निराकारः परः प्रोक्तः। द्वितीयार्थेन तदभिन्नः सकलः शिवः प्रतिपादितः। उभयो-रैक्यात्त्वैकरूप्येण वर्णनं कृतम्। तत्र सकलपरमेश्वरात् प्रथमं शक्तिप्रादु-र्भावो भवति। एतच्च प्राग्दर्शितम्—

"सच्चिदानन्दविभवात् सकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिः" इत्यादिना।

तयोः शिवशक्त्योः समवाये सति शिवाच्छुक्लबिन्दुरूपादंशात्मकशुक्ल-बिन्दुरुद्भवति शक्तेः शोणबिन्दुरूपाया अंशात्मकरक्तबिन्दुरुद्भवति। तयोः संश्लेषणान्मिश्रात्मकोऽयं तृतीयो मिश्रबिन्दुर्जायत इति।

अत्र चोदारणं लौकिकम् । यथा लोके स्त्रीपुंससामरस्यदशायां ब्रह्मगत-बिन्दुः किलांशेन काममन्दिरं प्रविश्य शोणबिन्द्वेकदेशबिन्दुना परस्परानु-प्रविष्टविस्पष्टो भवति । न हि सर्वोऽपि शुक्लबिन्दुः शोणबिन्दुश्चैकीभवति कालान्तरे सामरस्याभावापत्तेः । इत्थं च पुरुषे शुक्लबिन्दुः स्थित एव । स्त्रियामपि शोणबिन्दुः स्थित एव । किन्तु तदेकदेशाभ्यां मिश्रबिन्दुस्तृतीयः संपद्यते । स पुनः स्त्रियामेव वर्तत इति शोणबिन्दुमिश्रबिन्द्वोस्तदवयवत्वं भवति । एतावांस्तु विशेषः । लोके स्त्रीपुंसौ प्रथममसंपृक्तौ पश्चान्मिलितौ भवतः । इह पुनः शक्तिशिवौ नित्यमिलितौ । प्रलयकाले निर्भेदौ सृष्टिकाले पृथगिव प्रादुर्भूतौ मिलितौ च तयोश्चांशबिन्दुद्वयप्रस्पन्दश्च । तथाविधो बिन्दुप्रस्पन्दो भवति यत्र सा तादृशी संविद्यत्र तस्मात् बिन्दुप्रस्पन्दसंविदः । बिन्दुरित्युक्त्या सद्रूपत्वम् । संविदुक्त्या चिद्रूपत्वम् । बिन्दुप्रस्पन्दश्चानन्द-रूपः इत्यानन्दरूपत्वं चेति सच्चिदानन्दविभवत्वं सिद्धम् । तदेव "सच्चिदा-नन्दविभवादि"ति शारदायामुक्तम् । अयमेव बिन्दुस्त्रिबिन्दुसमाहाररूप-त्वान्मातृत्रयात्मक इति बैन्दवमिति चोच्यत इत्येके व्याख्यातारः । प्राञ्चस्तु बिन्दोरुच्छूनावस्थायां त्रिकोणमेव मातृत्रयात्मकमिति मन्यन्ते । अस्माकं तु नोक्तव्याख्याभेदप्रयुक्तः कश्चन विशेषः । इह तु "सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहमिति बैन्दवगृहत्वेन त्रिकोणं गृह्यते । त्रिकोणपूर्वावस्था वा । सर्वथापि विश्वलहरीस्थानमस्त्येव । तदेतदाह—तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं सकरणमिति । तत्र श्रीचक्रीयबिन्दुबैन्दवात् नवयोन्यात्मकचक्रोत्पत्तिः प्राग्व्याख्याता ।

एवं पिण्डाण्डमुत्पन्नं तद्वद् ब्रह्माण्डमुद्बभौ ।
पञ्चभूतानि शाक्तानि मायादीनि शिवस्य तु ॥
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ ।
पञ्चविंशतितत्त्वानि तत्रैवान्तर्भवन्ति हि ॥ इति ।

तत्र शक्तिपञ्चकं त्रिकोणवसुकोणदशारद्वयमन्वाश्राणि पृथिवीजलतेजो-वाय्याकाशात्मकानि । अष्टदलषोडशदलमेखलात्रयभूपुरत्रयाणि मायाशुद्ध-विद्यामहेश्वरसदाशिवा इति । कोणत्वेन त्रिकोणाष्टकोणाद्युत्पत्तिक्रमसत्त्वेऽपि तत्त्वत्वेन सदाशिवमहेश्वरादिक्रम इति प्रागुक्तं स्मरणीयम् । सकरणमित्य-नेनान्तःकरणानां ग्रहणम् । अन्ये पुनरन्यथापि वदन्ति । त्रिकोणं मातृ-त्रयात्मकम् । अष्टकोणमष्टप्रकृतिः । अन्तर्दशकोणं ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियदश-कम् । बहिर्दशारं भूतप्राणदशकम् । तन्मात्रास्तु प्रकृत्यन्तर्गताः । चतुर्दशारं

चतुर्दश भुवनानीति । अष्टदलादि पूर्ववत् । एतदाशयेनापि सकरणं जगदिदमिति व्याख्यातुं शक्यम् ।

समयिमते नैतावता कोऽपि महान् विशेषः । एतस्य सर्वस्याप्युपगमे क्षतिविरहात् । कौलाः पुनः सूक्ष्मतत्त्वमेतत्स्थूलेऽपि लौकिके योजयन्ति । ते किल तरुणीयोनिमेव प्रत्यक्षमहाबिन्दुमाहुः । ग्राम्यक्रियया बिन्दुत्रयसमावेशस्तत्र । तत्र शुक्लबिन्दुः पुंसो रक्तबिन्दुः स्त्रियाः । न च कृत्स्नौ बिन्दू संयुञ्जाते । किन्त्वेकदेशौ तत्रापोति । तत्रापि शुक्लरक्तमिश्राणां त्रयाणां सद्भावः । तत एव प्रजोत्पत्तेर्जगदुत्पत्तिश्च । करणानामिन्द्रियाणामुत्पत्तिश्च । स क्रमो गर्भोपनिषदादौ प्रसिद्धः । न च मिश्रबिन्दोरेव प्रजोत्पत्तिर्न तु बिन्दुत्रयादिति वाच्यम् । शुक्लरक्तयोरंशिनोर्मिश्रपोषकत्वात् । इत्थं च ग्राम्यक्रियां स्वतः सपर्यात्मिकामुपगच्छन्ति कौलाः । तदनन्तरं बिन्दुत्रयसमावेशान्मूलबिन्दुं स्त्रीयोनिलक्षणमपि ते पूजयन्ति । अयमेव कौलमते वेदविरुद्धार्थो न तु कृत्स्नः ।

चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि ।
पञ्चभूतात्मकं चैव तन्मात्रात्मकमेव च ॥
इन्द्रियात्मकमेवं च मनस्तत्त्वात्मकं तथा ।
मायादितत्त्वरूपं च तत्त्वातीतं च बैन्दवम् ॥
बैन्दवे जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी ।
सदाशिवेन संपृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी ॥

इत्यादिवचनव्रातैर्बैन्दवाज्जगदुत्पत्तिप्रतिपादनात् ।

कला विद्या परा शक्तिः श्रीचक्राकाररूपिणी ।
तन्मध्ये बैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी ॥
सदाशिवेन संपृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती ।

इत्यादि वचनान्तरेष्वपि बैन्दवे परमेश्वर्याः स्वीकारेण तत्र पूजासिद्धेः ।

न केवलं चक्रात्मनैव बैन्दवपरिणामः । अपि तु मूलाधारादिपद्मात्मनापीत्याह—तत इति । ततो बिन्दोरेव, बैन्दवगृहाद्वा । मूलाधारद्वितयं मूलाधारस्वाधिष्ठानद्वयमभवदुदपद्यत, मिलित्वा यत्तद्दशदलम् । बिन्दुसहस्रारयोरैक्यात् । फलितमाह—सहस्राराज्जातं तदिति । तद्दशदलं सहस्रारादेव ततो जातमिति । इति हेतोर्बिन्दुर्दशधाऽभवत् । दशदलं सहस्राराज्जातमिति पूर्वश्लोकोक्तमपि तथा लोके प्रसिद्धमपि सत् बिन्दोरेव

दशदलमपि सिद्धमेव। कुतः? बिन्दुसहस्रारयोरैक्यादिति भावः। ततश्च किमुक्तं भवतीति चेत्? सहस्रारं पूज्यमिति शास्त्रसिद्धान्तोपगमेऽपि बिन्दुपूजनं सिद्धमेव। स च बिन्दुः स्त्रीयोनिलक्षणः सहस्रारत्वेनाऽप्रतीयमानोऽपि यथोक्तयुक्त्या सहस्राररूपत्वात्पूज्य एवेति कौलाभिसन्धिः।

दशधा बिन्दुरभवदित्यस्य दशदलरूपमूलाधारस्वाधिष्ठानात्मको बिन्दुरभवदित्यर्थः। एतदुक्तिश्चोत्तरश्लोके इतरकलानां तत्प्रकृतिकत्वसाधनेन प्रकृतिभूतमूलाधारस्वाधिष्ठानयोरपि पूज्यत्वसिद्ध्यौपयिकीति द्रष्टव्यम्। न च योनिपूजैव बिन्दुत्रिकोणविषयिणी कौलानां वक्तव्या। किमिति तदुपरिगतमूलाधारस्वाधिष्ठानयोरपि पूजा वक्तव्येति वाच्यम्। कामिनीनामधिकयौनपूजनस्याधिकसुखदत्वोपपत्तेः। बिन्दुत्रिकोणयोरपि शास्त्रप्रतिकूलत्वे किंचिदधिकपूजने का व्यथा। साधकस्य स्वीयशरीरे स्वाधिष्ठानाधारयोर्मानसपूजनोपपत्तेश्च।

अत्र श्रीचक्रक्रमेण या जगदुत्पत्तिः पूर्वार्धेनोक्ता तत्रापि दशधा बिन्दुरभवदिति शक्यं योजयितुम्। परबिन्दुरेव त्रिसमुदायात्माऽभवदिति प्रथमः। त्रिकोणादयश्च नवयोनयः इति दश। एवं दशधा मूलबिन्दुरभवत्। उत्तरार्धे तु बिन्दुरेव सहस्राररूप आधाराधिष्ठानदशदलात्मकोऽभवदिति दशधाऽभवदित्युक्तिसंगतिः।

ननु स्त्रिया बिन्दुत्रिकोणयोः सद्भावेऽपि पुरुषस्य तदभावात् कथं बिन्दोर्दशदलोत्पत्तिकथनसंगतिरिति चेन्न। पुरुषस्यापि प्रत्यक्षबिन्दुत्रिकोणविरहेऽपि तत्स्थानसत्त्वेन तदुभयस्वीकारोपपत्तेः। अत एव कुण्डलिन्युत्थानादिप्रसङ्गे निर्वाणपद्धत्याम्—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत्॥

इत्यादिवचने गुदमेढ्रान्तरे योनिवर्णनम्। शारदादौ च—

गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद् द्व्यङ्गुलं विदुः—इत्यादि।

कन्दमेव योनिस्थानमुच्यते। मायातन्त्रे च—

तत्कर्णिकान्तरे पृथ्वी चतुष्कोणा सुपीतिमा।
तन्मध्ये योनिमध्ये च वह्निवाय्वोः समाश्रये॥ इति।
कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरि।
अपानाख्यं हि कन्दर्पमाधारे तत्त्रिकोणके॥ इति श्रीक्रमादौ च।

तस्मादस्त्येव पुरुषस्यापि बिन्दुत्रिकोणस्थानम्। प्रात्यक्षिकं तु योषित इति पूजां कौलास्तत्रैव कुर्वन्तीत्यन्यत्। सर्वथापि च सहस्रारं मूलाधारादधःस्थितमेव कौलमते ग्रहीतुं युक्तम्। स्थूलदृशां तेषां मूर्धगतसहस्रारेण मूलाधारगतबिन्दोरेकत्वकल्पनाया असंभवात्। मायातन्त्रे—

मध्ये सुषुम्ना तन्मध्ये वज्राख्या लिङ्गमूलतः।
तन्मध्ये चित्रिणी सूक्ष्मा बिसतन्तुसहोदरा॥
मूलमूलात् सहस्रारस्तदन्तर्ब्रह्मनाडिका॥

इत्येवं मूलाधारस्यापि मूलरूपेण सहस्रारस्थितिकथनाद्बिन्दुसहस्रारयोरैक्यं सुगममेव। न च मूलाधारमूलमारभ्य सहस्रारपर्यन्तमन्तर्ब्रह्मनाडिकेत्यर्थ इति वाच्यम्। एवमर्थाऽप्रतीतेः। प्रथमार्थे पञ्चमी। अपरोक्षाद्ब्रह्मतिवत्। प्रागुक्तस्वच्छन्दवचनैकवाक्योपपत्तेश्चेति।

यद्यपि बिन्दुरेव शुक्लरक्तमिश्राख्यत्रिबिन्दुरूपो भवतीति त्रयः। त्रिकोणं चतुर्थं चतुर्दल-षड्दल-दशदल-द्वादशदल-षोडशदल-द्विदलानि षडिति मिलित्वा दश। मूलबिन्दुरेवैवंक्रमेण दशधाऽभवदिति शक्यं व्याख्यातुम्। तथा च पूर्वार्धोत्तरार्धयोरैकरूप्येण दशधाऽभवदित्यन्वयोऽपि सुकरः। पूर्वार्धे कृत्स्नं श्रीचक्रमादाय बिन्दोर्दशधात्वम्। उत्तरार्धे कृत्स्नं शरीरगतं बिन्दुत्रयत्रिकोणषट्चक्रमादाय बिन्दोर्दशधात्वम्। अन्यथा दलदशकमेकदेशमादायोत्तरार्धे दशधात्वोपपादनं कर्तव्यं भवति। न च श्रीचक्रेऽपि बिन्दुत्रयपरिगणनायां द्वादशसंख्यापत्तिरिति वाच्यम्। तत्रैकस्यैव बिन्दुचक्रस्य प्रत्यक्षत्वात्। भवतु वा ऊर्ध्वाधःसहस्रारद्वयेन बिन्दुत्रिकोणाभ्यां च षट्चक्रमेलनेन दशधात्वम्। तथाप्युत्तरश्लोके दलदशकस्यैव परामर्शदर्शनाद्बिन्दोर्दशधात्वमिह दशदलमादायैवेति निश्चीयते। युक्तं चैतत्। कौलानां प्रकृत्युपासनोपवर्णनाय प्रक्रान्तत्वादिति द्रष्टव्यम्॥४७॥

तदेतद्बिन्दोर्यद्दशकमभवत्तत्प्रकृतिकं
दशारं सूर्यारं नृपदलभूत्स्वान्तकमलम् ।
रहस्यं कौलानां द्वितयमभवन्मूलसदनं
तथाधिष्ठानं च प्रकृतिमिह सेवन्त इह ते ॥४८॥

पूर्वं प्रतिपादित बिन्दु से उत्पन्न जो मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान के दस दल हैं उन्हीं से दशदल मणिपूर कमल, द्वादशदल हृदय कमल एवं षोडशदल विशुद्धिकमल उत्पन्न हुए। ये जो दो (मूमाधार तथा स्वाधिष्ठान) कौलों का रहस्यमय स्थान हैं उन्हीं (मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान-रूपी) प्रकृति की वे कौलामार्गी पूजा करते हैं ॥४८॥

अन्वयार्थबोधिनी

तदेतत्—पूर्वप्रतिपादितं **बिन्दोः**=सहस्राराभिन्नबिन्दोः **यद्दशकं**=मूलाधारस्वाधिष्ठानदलदशकम**भवत् तत्प्रकृतिकं**=तद्दशदलं प्रकृतिर्यस्य तत् तादृशं सर्वम्। तदेवाह—दशारमित्यादि। **दशारं**=दशदलं-मणिपूरकमलं **सूर्यारं**=द्वादशदलं—हृदयकमलं **नृपदलं**=षोडशदलं **स्वान्तकमलं**=विशुद्धिचक्रकमलमित्येतत्सर्वं **तत्प्रकृतिकं** सद् **अभूत्**=भूत-मुत्पन्नम्। तदिदं **कौलानां रहस्यं**=पूज्यत्वेन रहसि स्थितं **द्वितयमभवत्**। तदिदं द्वितयं **मूलसदनं**=मूलाधारं तथा **अधिष्ठानं**=स्वाधिष्ठानं **चेह** मणिपूरादिकं प्रति **प्रकृतिम्**=एतद्द्वितयस्वरूपिणीं प्रकृमिह **ते**=कौलाः **सेवन्ते** ॥४८॥

अमृतझरिका

ननु बिन्दोर्दशदलं भवतु, ततः किं कौलानामागतमित्याशङ्कायां तत्प्रकृतिकत्वादपरेषां चक्राणां दशदलस्य मूलत्वात्तदेवोपासनीयमित्याशयेन समाधत्ते—तदेतदिति। तदेतदिति दशकमित्यस्य विशेषणम्। मूलाधार-स्वाधिष्ठानयोः पूर्वोक्तं संख्यावत्त्वमेव परामृशति। समस्तत्वेन बिन्दु-विशेषणमपि भवितुमर्हति। तस्मादेतस्माद्बिन्दोरिति। यद् दशकं दशसंख्यापरिमाणं दलवृन्दमभवदुद्भूतम्। मूलाधारस्य चत्वारि दलानि स्वाधिष्ठानस्य षड् दलानि च बिन्दोरेव संजातानि, न तु बिन्दोः प्रथमं

मूलाधारोत्पत्तिस्तस्मान्मूलाधारात्स्वाधिष्ठानोत्पत्तिरिति क्रमः कौलानाम्। तत्प्रकृतिकं चतुर्दलषड्दलमिलितदशदकप्रकृतिकम्। दशारं—मणिपूरकमलमित्यर्थः। ततः सूर्यारं द्वादशदलं हृदयकमलमभूत्।

ननु दशारात् कथं द्वादशारोत्पत्तिः। संख्यावैषम्यादिति चेन्न। संख्यासाम्यस्याऽप्रयोजकत्वात्। न हि द्वित्रादिपल्लवदलसमुद्भूतपुष्पादेर्द्वित्रादिदलत्वमेव भवतीत्यस्ति नियमः। एवमपि यदि संख्यासामान्येऽभिनिवेशो विद्यते तदा बिन्दुर्बैन्दवगृहमिति द्वे आधाराधिष्ठानयोर्दशेति मिलित्वा द्वादशेति द्वादशदलं हृत्कमलमेवमभूदिति व्याख्येयम्।

नृपदलं षोडशदलं स्वान्तकमलं विशुद्धिकमलमभवत्तत्प्रकृतिकमित्यनुवर्तते। अत्रापि पूर्ववत् संख्यासामान्ये नास्ति चेदाग्रहस्तदा यथोक्तदशदलादेव नृपदलमभवदिति सुगमा व्याख्या। संख्यासामान्याग्रहस्त्वे तु बिन्दुर्नाम त्रिबिन्दुसमुदाय इति प्राग् व्याख्यातम्। त्रित्वेन रूपेण तद्ग्रहणं कर्तव्यमिति ते त्रयः। त्रिकोणमपि कोणत्रयात्मकं रेखात्रयात्मकं वा। तदपि त्रित्वेन ग्राह्यमिति षट् ते। दश चाधाराधिष्ठानयोर्दलानीति षोडशसंख्यापूर्तिः। ततः कण्ठस्थं षोडषदलमुत्पद्यत इति। न च द्वादशदलं हृत्कमलं चतुर्दलं मूलाधारकमलं च मिलित्वा षोडशदलोत्पत्तिः कुतो नोच्यत इति वाच्यम्। समयिनां तथा संभवेऽपि तत्प्रकृतिकमिति विशेषणस्वारस्येन यथाव्याख्यातरीत्या संख्यासंयोजनोपपत्तेः। न च तत्प्रकृतिकमित्यत्र पूर्वोक्तपरामर्शात् नृपदलमित्यत्रावर्तमानतत्प्रकृतिकपदघटकतत्पदस्य पूर्वोक्तयथासंभवप्रकृतिग्रहणसंभवान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्। तत्प्रकृतिकमिति पदावृत्तिं विनैव युगपत् दशारं सूयारं नृपदलमिति त्रयेण तदन्वये सर्वत्रैव पूर्वोक्ताधाराधिष्ठानदशदलप्रकृतिकत्वस्यैव सिद्धेः। तत्र संख्यापूर्तिमात्रार्थतया समस्तयोर्बिन्दुत्रिकोणयोर्व्यस्तयोर्बिन्दुत्रिकोणयोश्च प्रवेशात्। युक्तं चैतदेव। सर्वपद्मप्रकृतिर्मूलाधारस्वाधिष्ठानदशदलमित्यस्यैव कौलानां विवक्षितार्थत्वात्। उत्तरार्धे मूलाधारस्वाधिष्ठानमात्रसेवने हेतुविधया प्रकृतिसेवनस्य वक्तव्यत्वात्। अस्माभिः प्राग् यद् व्याख्यातमष्टदलचतुर्दलाभ्यां द्वादशदलं द्वादशदलचतुर्दलाभ्यां षोडशदलमित्यादि तन्मतान्तराभिप्रायेण बोध्यम्।

नन्वेवमप्याज्ञाचक्रोत्पत्त्यकथनान्न्यूनत्वमेव। सर्वप्रकृतित्वासिद्धेरिति चेन्न। मूलाधारस्वाधिष्ठानाभ्यामेव तस्याप्युत्पत्तेः प्रकृतिकथनेनानुमेयत्वात्। संख्यासामान्यस्य पूर्ववद्देवानपेक्षत्वे न कापि विप्रतिपत्तिः।

तत्सापेक्षतायां च मूलाधारत्वस्वाधिष्ठानत्वाभ्यां धर्माभ्यामवच्छिन्नतया द्वित्वसंख्योपपत्तिः। अत एव तृतीयपादे द्वितयमभवदिति द्वितयशब्दस्य विशेषतात्पर्यकतया प्रयोगसंगतिः।

यद्यपि बिन्दुरेक उच्छूनभावमापद्य कोणत्रयरूपेण रेखात्रयरूपेण वा परिणमत इति एकत्वत्रित्वयोः प्रत्यक्षत्वात्संख्यासामान्यात्तन्मेलनेन चतुर्दलं मूलाधारकमलमभूत्। बिन्दुं त्रिकोणं च द्वित्वेनोपादाय मूलाधारचतुर्दलं च योजयित्वा षड्दलं मणिपूरकमलमितिरीत्या प्रथमपद्मद्वयस्याप्युत्पत्तिः शक्यते प्रतिपादयितुम्। तथाप्येवंविधोत्पत्तिः कौलानां नाभिमतं प्रतीयते। तथा सति पद्मत्वेन रूपेण प्रकृतिर्मूलाधारपद्ममेव भवेन्न तु स्वाधिष्ठानम्। अभीष्टं च मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरुभयोरपि प्रकृतित्वम्। अत एव संख्यासामान्यादरश्च परित्यक्त एव।

यदि पुनः स्वाधिष्ठानस्यापि मूलाधारदलमिलितरूपेण दशारादिप्रकृतित्वसत्त्वान्न प्रकृतित्वमनुपपन्नम्। न चैवं द्वादशारादेरपि मूलाधारमिलिततया षोडशारप्रकृतित्वात्प्रकृतित्वपूज्यत्वयोरापत्तिरिति वाच्यम्। द्वादशारस्य प्रकृतित्वानभ्युगमात्। न चैवं परम्परया प्रकृतित्वेनापि पूज्यत्वे बिन्दुत्रिकोणयोरपि तत्त्वं स्यादिति वाच्यम्। इष्टत्वात्। मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः पद्मत्वेन रूपेण प्रकृतित्वमिति विशेष इति विभाव्यते तदा बिन्दुत्रिकोणाभ्यां मूलाधारचतुर्दलं बिन्दुत्रिकोणचतुर्दलैः षड्दलं ततो दशारमित्यपि शक्यं व्याख्यातुम्। किं तु तद्दशदलं सहस्राराज्जातमिति पूर्वश्लोकवचने पारम्पर्येण दलोत्पत्त्यप्रतीतेर्न तथास्माभिर्व्याख्यातमिति ध्येयम्।

ननु बिन्दुसमुद्भूतदशदलप्रकृतिकं मणिपूरादिशेषसकलपद्मवृन्दमित्यतः किमायातं प्रकृत इत्यत आह–रहस्यमिति। कौलानामिदं रहस्यमित्यर्थः। मूलसदनं–मूलाधारं मूलात्मकं सर्वस्य। तथाधिष्ठानं स्वाधिष्ठानमधितिष्ठत्यत्र सर्वं जगदित्यधिष्ठानमिति शब्दबलेनैव तयोः कारणत्वमाश्रयस्थानत्वं च सिद्धमिति तन्माहात्म्यं स्वत एव व्यक्तम्। कौलानामेतद् द्वितयं रहस्यभूततत्त्वमिति वा। तत्प्रकृतिकं दशारादीति पूर्वार्धमावृत्य बोध्यम्। तेन हेतोरिति च। ते कौला इह मणिपूरादि प्रति प्रकृतिं तां मूलाधारस्वाधिष्ठानरूपामिह संसारे उपासनासरणौ वा सेवन्ते पूजयन्ति। यद्वा यद् द्वितयमभवत् तत् मूलसदनं स्वाधिष्ठानं च प्रकृतिमित्यन्वयः। तदा मूलसदनं स्वाधिष्ठानं चेति द्वितीयान्तपदद्वयम्।

अत्रायमभिसन्धिः कौलानां भवति—

त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जाता महेश्वरी।
स्थूलसूक्ष्मविभागेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका॥
कवलीकृतनिःशेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी।
यस्यां परिणतायां तु न किंचिदवशिष्यते॥

इति वामकेश्वरवचनात् सर्वजगन्निदानं सकलप्रपञ्चप्रकृतिभूता त्रिपुरसुन्दरी भगवती। सा स्थूलसूक्ष्मविभागेन द्विधा स्थिता। तत्र स्वीये मूलाधारे त्रिकोणबिन्दुमध्ये सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति। सैव कुण्डलिनी कौलिनी नाम। तस्या सूक्ष्मपूजनं ध्यानमानसपूजनादिलक्षणं स्वाधिष्ठानमूलाधारत्रिकोण-बिन्दुषु क्रमेण क्रियते। एते एव सर्वप्रकृतिभूताः। तथा प्रदर्शितमधस्तात्। न च त्रिकोणबिन्दावेव कौलिन्याः स्थितेस्तत्रैव पूजेति वाच्यम्। प्रबुद्धा-यास्तस्याः स्वाधिष्ठानपर्यन्तं साक्षात्कारोपगमात्। समयिनां मणिपूरमार-भ्येत्यन्यत्। तथा चात्र चतुर्ष्वपि स्थानेषु तद्दर्शनोपपत्तेश्चतुर्णामपि प्रकृति-त्वमेव। यद्यपि त्रिपुरैव प्रकृतिस्तथापि तदवस्थानस्थानत्वादेतेऽपि प्रकृतय उच्यन्त इति। तस्याः स्थूलस्वरूपं तु श्रीचक्रबिन्दुप्रभृतिस्तरुणीत्रिकोणा-दिश्च। तत्र च तस्या स्थूलरूपेण पूजनं क्रियते। यद्यपि स्थानमात्रं तत्रापि स्थूलं न तु भगवती स्थूला। स्थूलभगवत्याः स्वरूपमिदं ब्रह्माण्डमेव। तथापि त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका इत्युक्त्वादुत्पन्नस्य भगवतीस्वरूपत्वेन प्रकृतेऽनुपात्तत्वात्पूज्यत्वेन रूपेण प्रतिपादितस्वरूपं नैतत् स्थूलं जगत्। तत्तु श्रीचक्रबिन्दुत्रिकोणतरुणीबिन्दुत्रिकोणात्मकमेव। अधिष्ठानाभिन्नत्वा-दुपास्यायाः। यथा विष्ण्वभिन्नः शालग्रामः स्थूल इति विष्ण्वाश्रयोऽपि स्थूलविष्णुरूपतया पूज्यत इति। तस्मात् कौला यथोक्ते स्थूलसूक्ष्मे पूजयन्तीति कौलरहस्यमिति ॥४८॥

अतस्ते कौलास्ते भगवति दृढं प्राकृतजना
इति प्राहुः प्राज्ञाः कुलसमयमार्गद्वियविदः ।
महान्तः सेवन्ते सकलजननीं बैन्दवगृहे
शिवाकारां नित्याममृतझरिकामैन्दवकलाम् ॥४९॥

चूं कि कौल प्रकृतिसेवक हैं अत एव वे प्राकृतजन हैं। उनके आचारों से भी प्राकृतपना झलकता है ऐसा कौलमार्ग तथा समयमार्ग दोनों के वेत्ता पण्डितों का कहना है। महापुरुष प्रकृति के सेवक नहीं होते। वे बैन्दवगृह सहस्रार में मङ्गलमयी अमृतवर्षिणी सकलजननी नित्या षोडशी चन्द्रकला की उपासना करते हैं ॥४९॥

अन्वयार्थबोधिनी

यतः प्रकृतिमिह सेवन्त इह ते अतस्ते = पूर्वोक्ताः ते = तव कौलाः = कुलकुण्डभजनपरा हे भगवति ! दृढं = निश्चयं प्राकृतजना इति कुलसमयमार्गद्वयविदः = कुलमार्गं समयमार्गमिति द्वयं विदन्तः प्राज्ञाः = पण्डिताः प्राहुः। महान्तस्तु शिवाकारां सकलजननीम् अमृतझरिकां नित्यामैन्दवकलां बैन्दवगृहे = सहस्रारे त्वां सेवन्ते ॥४९॥

अमृतझरिका

एतावत्पर्यन्तं कौलमतं व्युत्पाद्य तत्त्याज्यत्वं वदन्नुपादेयां सात्त्विकीं सपर्यामाचष्टे—अत इति। यतो मूलाधारस्वाधिष्ठानयोर्बिन्दुत्रिकोणयोश्च प्रपञ्चं प्रति मणिपूरचक्रादिकं प्रति च प्रकृतिभूतयोः सेवनं कौलाः कुर्वतेऽत इत्यर्थः। कौला इति। कुं पृथिवीतत्त्वं लातीति कुलं मूलाधारं तज्जनकत्वेन बिन्दुत्रिकोणे अपि कुले तत्सम्बन्धित्वात् स्वाधिष्ठानमपि तत्र भक्तिर्येषां ते कौलाः। ते तव कुले यथोक्ते बिन्द्वादौ भक्तिं कुर्वाणाः सेवमाना इत्यर्थः। द्वितीयं ते पदं प्राक्प्रदर्शितपरम्। ते प्राक् प्रपञ्चिताः कौला हे भगवति ! दृढं सुनिश्चयं प्राकृतजनाः। प्राकृतपदमुभयार्थकम्। प्रकृतौ मूलाधारादौ भक्तिर्येषां ते प्राकृता इति। अज्ञानिनश्च प्राकृता उच्यन्त इति। पञ्चमकारसेवनं तरुणीत्रिकोणपूजनादिकं च प्राकृता एव जनाः अनुष्ठातुमर्हन्तीति भावः। नन्वेतदज्ञानां वचनं स्यादित्यत आह—

इति प्राज्ञा प्राहुरिति। ननु यत्किंचित्प्रज्ञावत्त्वेऽपि कौलादितत्त्वज्ञानरहिताः स्युरित्यत आह—**कुलसमयमार्गद्वयविदः** इति। कुलमार्गं समयमार्गं चेति द्वयं विदन्ति परिच्छिन्दन्तीति तथाभूताः।

ननु मार्गद्वयज्ञानसत्त्वेऽपि तदीयमाहात्म्यज्ञानाभावात् प्राकृतत्त्वं तथाविधप्राज्ञैरभिधीयत इति युक्तम्। न तु माहात्म्यविद्भिः। माहात्म्यविदश्चान्ये एव। तथा चोक्तं—

जानन्ति कुलमाहात्म्यं त्वद्भक्ता एव नापरे।
चकोरा एव जानन्ति नान्ये चन्द्ररुचां रुचिम्॥

इत्यादिप्रकारेण महेश्वरेण स्वयमेव कुलमाहात्म्याभिधानात्। यद्यपि चन्द्ररुचां दर्शकाः सर्वे जानन्ति किन्तु तदीयां रुचिं तु चकोरा एव जानन्ति। तथा प्राज्ञा जानन्तु नाम कुलसमयमार्गद्वयं तथापि चकोरवद्भक्तिविरहान्न माहात्म्यं जानन्तीति हि तेनार्थो लभ्यते। न च महेश्वरेणैव कौलधर्मनिन्दापि कृतेति वाच्यम्। तस्यास्तात्पर्यान्तरगर्भितत्वात्। तदुक्तं कुलार्णवे—

कुलधर्ममिदं ज्ञात्वा मुच्यन्ते सर्वमानवाः।
इति मत्वा महेशानि मया कौलं विगर्हितम्॥ इति।

न हि सर्वमुक्तिः परमेश्वरस्याप्यभीष्टा। तथा सति संसारविलयप्रसङ्गेन महेश्वरस्य महेश्वरत्वविरहापत्तेः। ईशितव्यविरहेणेश्वरत्वायोगात्। न तु वस्तुतो निन्दा कृता। तथा चोक्तं—

कुलमार्गो महादेवि न मया निन्दितः क्वचित्।
आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते न चेतरे॥ इति।

वस्तुतो न निन्दित इत्यर्थः। निन्दाभासस्तु प्रतीयते। तदपि आचाररहितानुद्दिश्य निन्दाकरणात्तदारोपमात्रं कुलधर्मे इति भावः। किं च—

कुलशास्त्राणि सर्वाणि मयैवोक्तानि पार्वति।
प्रमाणानि न सन्देहो न हन्तव्यानि हेतुभिः॥
चतुर्वेदी कुलाज्ञानी श्वपचादधमः प्रिये।
श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते॥

इत्येवं प्रामाण्यपूर्वकं बहुशः प्रशंसितं कौलमतं भगवता महेश्वरेण। भगवतो महेश्वरस्य प्राकृतजनवदज्ञानसंशयभ्रमविप्रलिप्सादिदोषविरहेण

मूलश्रुत्यनुमानसंभवेनाऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्करहितत्वाच्चेति चेद् ? अत्र ब्रूमः—

लोके व्यवयामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ—
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

इति श्रीभद्भागवतवचनाद् व्यवायामिषमद्यसेवानां नित्यप्राप्तत्वेनानुभवसिद्धत्वाच्च न तत्सेवनविधिः संभवति। न च त्यक्तव्यवायादीनां जनानां व्यवयादेर्नित्यप्राप्तिविरहाद्विधिसंभव इति वाच्यम्। सर्वत्रैवं यत्किचिदप्राप्तिमादाय विधित्वकथनसंभवादनुवादकथाभङ्गापत्तेः। तथा च रागतः प्राप्ता इमे नैव विधेयाः। तथा च—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

इत्यादि वचनं न विवाहमैथुनविधिः। किन्तु गुर्वननुमतत्वास्नातत्वाऽसमावृत्तत्वादिमकर्तृकविवाहनिवृत्तिपरमेव। न हि विवाहविधिमाश्रुत्य पशु-पक्षिप्रभृतयः पुत्रपरम्परामुत्पादयन्ति। रागत एव तत्प्राप्तेः।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

इत्यादावपि प्रमाणान्तरप्राप्तानुवादमात्रम्। विद्यानध्ययने ब्रह्मबोधासंभवात्कर्माकरणाच्च प्राप्तं पतनम्। पुत्रोत्पादनाभावे कामपरवशं चेन्मनस्तदा ज्ञानानुत्पत्तेः श्राद्धादिकर्तुश्चाभावात्पतनं प्राप्तम्। अत एवाऽकामहतस्य ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजनवचनोपपत्तिः। यज्ञाकरणेऽन्तःकरणशुद्धिविरहेण ज्ञानानुत्पादात्स्वर्गादिप्रयोजकसत्कर्मविरहाच्च पतनं प्राप्तमिति। मांसभक्षणविषये च—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।

इत्यादिवचनान्यादाय चिन्तितम्। किमपूर्वविधिर्वाऽन्यो वा इति। रागतः प्राप्तिमादाय चापूर्वविधं निरस्याऽपञ्चनखभक्षणानिवृत्तिपरतया परिसंख्या सिद्धान्तिता च।

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति॥

इत्यप्यनुमतिमात्रं न नु मांसभक्षणविधिः। यत्तु—

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्॥

इति नियुक्तमांसभक्षणावश्यकर्तव्यतावचनाद् विधिरिति। तदसत्।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि न च खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥

इति वचनविरोधेनोक्तस्याप्यदोषमात्रपर्यवसानात्। रागतः प्राप्ते नियोग-वैयर्थ्यात्। अन्यथा जटिलोदररोगपराक्रान्तस्यापि नियुक्तस्य तद्भक्षणा-वश्यंभावेन मरणामन्त्रणापत्तेः। यदि च रुग्णादीतरविषयकतया संकोच्यते तदानिच्छुकेतरविषयकतया न संकोचनीयमिति केयं राजाज्ञा। तथा चानियुक्तः सन् न भुञ्जीतेत्यत्रैव तात्पर्यम्। मांसभोजी सन्निच्छायां सत्यां नियुक्तो यदि न भुञ्जीत तदा नियोक्त्रवमानकर्ता नियोगविषयानुरूपपशुयोनिं प्राप्नोतीति हि तत्रार्थः। न हि मांसवर्जनप्रयुक्तशतहयहोमपुण्येच्छुकं बलान्नियुज्य मांसभक्षणे तत्पुण्यफलाच्च्यावयितुं शक्यते। न चैवं "यजमान-पञ्चमा इडां भक्षयन्ति" इत्यादेरपि विधित्वं न स्यात्। रागतः प्राप्तत्वात्। प्राप्तस्यापि यज्ञसम्बन्धित्वेन क्रत्वर्थतया विधेयत्वमभिप्रेयते तदा नियुक्त-मांसभक्षणादेरपि वैधत्वं दुर्वारमिति वाच्यम्। रागतः प्राप्तस्यापि प्रति-षिद्धत्वे परिसंख्यार्थत्वेन वचनविनियोगोपगमात्। प्रतिषिद्धप्रतिप्रसवन-विधानोभयकरणे वाक्यभेदापत्तेः। मांसभक्षणं च प्रतिषिद्धं शास्त्रेषु। तथा च वचनम्—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

इत्यादिषु वचनेषु मांसभक्षणप्रतिषेधावगमात्। न च प्रतिषेधशास्त्रेणाऽ-प्राप्तं मांसभक्षणं विधत्तां वचनमिति वाच्यम्। रागतः प्राप्तत्वेन प्रति-

षेधेनाऽप्राप्त्ययोगात् । तथा सति प्रतिषेधस्य विधेश्च समानाविषयत्वेनाप्रामाणिकत्वं वचनस्य स्यात् । तस्मात् **अन्यत्र तीर्थेभ्यः**" इति तीर्थेतरविषयकत्वेन प्रतिषेधशास्त्रस्य संकोचमात्रं प्राप्तिस्तु रागत एवेति न तत्र विधिसंभवः। एषैव गतिः सुराग्रहणादावपि। तस्माद्युक्तमुक्तं "**नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदने**"ति ।

नन्वेमपि प्रतिषेधशास्त्रस्य संकोचाद्यज्ञादितीर्थेषु मांसभक्षणस्यानुमतत्वादेव तद्भक्षणे न दोष इति वाच्यम् । अदोषस्यास्माभिरेवोक्तस्य पुनःशङ्कावैयर्थ्यात् । एतदेवाभिहितं मनुना—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ इति ।

यज्ञादितीर्थे मांसादिभक्षणे विवाहे मैथुने न दोषः। रागतः प्राप्तत्वेन प्रवृत्तिरेषा भूतानां, प्रतिषेधस्य तीर्थविवाहादीतरस्थानविषयता संकोचात् । तथापि निवृत्तिर्महाफलैवेति मन्वर्थः । पूर्वापरसंगतेः । एवं सतीदमत्र विचारणीयम् । यज्ञादौ मांसभक्षणादेर्दोषाभावमात्रं कथितम्, न तु विहितम्, तादृशभक्षणान्निवृत्तिस्तु महाफलैव शताश्वमेघादिफलसमानत्वात् । एवं स्थिते सत्यपि किमिति मांसभक्षणादिकं क्रियत इति । परिसंख्यामात्रत्वेन तद्भक्षणाद्यकरणेऽपि क्रियापौष्कल्योपपत्तेः । तत्र तवेदमेव समाधानमायास्यति रागतः प्राप्तं क्रियते । सत्यमुच्यते । अत एव त्वां प्रूमो—**दृढं प्राकृतजन** इति । न तु प्रतिषिद्धाचरणशील इति ।

यत्त्वत्र सेतुबन्धकारेणोक्तम् । कौलमतनिन्दा "न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं किन्तु विधेयं स्तोतुमि"ति न्यायाद्यत्र तन्त्रे सा श्रुता सा तत्तन्त्रार्थविधेयवस्तुस्तवनपर्यवसायिनी । "**चतुर्वेदी कुलाज्ञानी**"त्यादिना कुलप्रशंसाया अपि बहुशः कृतत्वात् । तस्मात् सौन्दर्यलहरीव्याख्याने लक्ष्मीधरीयं चतुःषष्टितन्त्रावैदिकत्वप्रतिपादनं प्रतारकभ्रान्तान्यतरजल्पितमित्यादि । **तदुक्तन्यायेन प्रत्युक्तम्** । निन्दावचनं यदि न निन्दापरकं तदा प्रशंसावचनमपि न तत्त्वार्थपरकम् । सर्वेषु शास्त्रेषु स्वस्य स्वस्य श्रैष्ठ्यकथनाद् बहूनां श्रेष्ठानामसंभवात् । एकस्य सर्वोत्तमत्वेऽपरस्य न्यूनत्वावश्यंभावात् । अत एव प्ररोचनार्था प्रशंसेति मीमांकसिद्धान्तः । एवं च प्रशंसामात्रेण विधेयत्वासिद्धौ निषिद्धप्रतिप्रसवार्थतया गतार्थस्य मांसाद्यशनवाक्यस्य मांसाद्यशनविधानेऽपि सामर्थ्यपरिकल्पनायोगात्तथा सति वाक्यभेदापत्ते रागादिप्राप्तमांसाद्यदनानुमतिमात्रपर्यवसानाद् सेतु-

बन्धकारेण स्वीयमांसादिप्रियत्वप्रदर्शनेन प्राकृतजनत्वमेवोट्टङ्कितं भवति। न च "अग्नीषोमीयं पशुमालभेते"ति विशेषशास्त्रेण "मा हिंस्यादि"ति सामान्यशास्त्रं यथा बाध्यते तथा पूजादौ मांसभक्षणादिविधायकविशेषशास्त्रेण सामान्यशास्त्रं बाध्यतां न तु संकोच्यतामिति वाच्यम्। बाधे सत्यांशिकाऽप्रामाण्यस्य दुरुद्धरत्वाद् विशेषशास्त्रेण संकोचस्यैवोचितत्वात्। अग्नीषोमीयपश्वालम्भने प्रापकविरहात् क्रियाऽनिष्पत्तेः शास्त्रवैयर्थ्यापत्तिप्रसङ्गेनाऽगत्या सामान्यशास्त्रबाधपरिकल्पना। न त्वेवं प्रकृते। प्रकृते मांसाशनादे रागतः प्राप्तत्वस्यासकृदावेदितत्वात्। न ह्यग्नीषोमीयपशुहिंसापि रागतः प्राप्ता। सुखदुःखाभावान्यतरानात्मकत्वात्। मांसाद्यशनं तु सुखरूपमिति रागतः प्राप्तम्। रागतः प्राप्तं प्रतिषेधेन वार्यते। प्रतिषेधसंकोचने तु अनुवर्तमानरागात्स्वयमेव संप्रवृत्तेरिति न तस्य विधेयत्वमस्ति। एतावन्मात्रेणानुमत्तिरित्युच्यते। तस्मान्मांसादिभक्षणादियुक्तमवैदिकमेव कौलादिमतम्।

लक्ष्मीधरीयादौ बाह्यपूजनसामान्यमवैदिकमित्यभिहितं तत्तु न समीचीनम्। शिवविष्ण्वादिविषयकबाह्यपूजाया इव देवीपूजाया अपि वेदाऽप्रतिषिद्धायाः स्मृत्यादिसिद्धत्वात्। प्रतिपादितं च तदधस्तात्। न च मद्यमांसादिभक्षणाभावेऽपि पूजायां तदुपयोगादवैदिकत्वमिति वाच्यम्। तत्र विशेषशास्त्रेण सामान्यशास्त्रबाधसंभवात्। न हि भक्षणवत् पूजनमपि रागतः प्राप्तम्। येन प्रतिषेधे सति प्रापकं किंचित् स्यात्। तथा च तत्र सामान्यशास्त्रबाध एव। तत्रापि मांसादिभुजामेव प्रायः पूजापि तद्युक्ता। अन्येषां तु प्रतिनिधिनैव पूजा कार्या। न च प्रधानाऽलाभ एव प्रतिनिधिना पूजेति वाच्यम्। द्विधा हि प्रधानाऽलाभः। अलभ्यत्वादस्पृश्यत्वाच्च। यथा राजन्यस्य सोमप्रतिषेधे प्रतिनिधिपानम्। अत्रापि—

सुरादर्शनमात्रेण कुर्यात्सूर्यविलोकनम्।
तत्समाघ्राणमात्रेण प्राणायामत्रयं चरेत्। इत्यादि।
मांससंदर्शनं कृत्वा सूर्यदर्शनमाचरेत्।

इत्यादि च प्रायश्चित्तं दर्शनादावपि विहितमिति प्रतिषिद्धत्वात् प्रधानालाभ एव। क्रयणादिनैव मांसादेः प्राप्तव्यत्वेन तद्विरहेण प्रधानलाभविरहाच्च। न हि विधिबलेनार्थापत्तिसिद्धं क्रयणमिति शक्यं विधातुम्। मांसभुजां गृहे पशुसद्भावे विनापि क्रयणं मांसादिसंभवेन क्रयणस्य व्यभि-

चरितत्वात्। ये पुनर्मांसभुजस्तेषां भक्षणमपि रागतः प्राप्तमनुमतमिति तत्र का परिदेवना। ते पूजामपि प्रधानेनैवाचरेयुर्नात्रास्माकं विवादः। अत एवाद्यत्वेऽपि बलिप्रसङ्गे कुष्माण्डेन बलिमाचरन्ति शिष्टाः।

"कुष्माण्डं मांसवज्ज्ञेयम्"

इति हि भावचूडामणौ मांसानुकल्प उक्तः। तथा च मद्यमांसाद्यस्पृशां पूजापि तैस्तत्त्वैर्नास्त्येव।

सर्वमपीदमभ्युपगम्याभिहितम्। यदि च प्रागुक्तरीत्या स्मृत्या वेद-बाधस्यासंभवात् यावच्च स्मृत्या वेदः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या मांसादिनिषेधप्रत्ययोत्पत्तेर्बाधस्य कर्तुमशक्यत्वान्नास्त्येव मांसादिभिः पूजा स्मार्तरूपा। एवं सति कौलिकानां पञ्चमकारपूजनमवैदिकमेव सिद्धं भवति। बाह्यपूजनसामान्यं तु प्रतिषेधाविषयत्वाद् वैदिकमेव। किं च वैदिकप्रतिषेधविषयत्वान्मांसादेः स्मार्तो वा तान्त्रिको वा तद्विधिर्यत्र तत्र मांसादिपदं तदनुकल्पलाक्षणिकमेव। एकशब्देन सकलसंग्रहार्थं मांसादिशब्दप्रयोगः। न च "न विधौ परः शब्दार्थः" इति वाच्यम्। तस्याऽप्रतिषिद्धार्थविषयकत्वात्। कथमन्यथाऽनुयाजव्यतिरिक्तयजति लाक्षणिकत्वं "यजतिषु ये यजामहं करोती"त्यादौ यजतिपदस्य स्यात्। "पशुना यजेते"त्यादौ च तत्तदवयलाक्षणिकत्वं कथं भवेत्। तस्मान्मां-सादिपदं तदनुकल्पत्वेन प्रसिद्धवस्तुलाक्षणिकमिति प्रधानेनैव सर्वत्र पूजा। वास्तविकमांसादिपूजनमेव "निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहः" इति प्रागुक्तवचनविषयः। इत्थं च श्रुतिद्वैधे उभयप्रामाण्यवत् स्मृतिद्वैधे उभय-प्रामाण्याऽकथनाद् व्यवस्थामात्रस्य कर्तव्यतायाः प्रागुपपादनात् अनु-कल्पलाक्षणिकतयैव मांसादिपदानां सर्वसामञ्जस्ये "प्रधानलाभे प्रधाने-नैव पूजा कार्ये"ति सेतुबन्धकारोक्तमपि परास्तं वेदितव्यम्।

नन्वेवं मांसादिभिः पूजनस्य प्रतिषिद्धत्वे फलमेव नोत्पद्येत। तथा च "तदेतत् कौलानां फलमिह ही"त्याद्युत्तरवचनविरोध इति चेन्न। आधाराधिष्ठानद्वयपूजनस्य मारणस्तम्भनादिप्रयोगस्य चेह हि फलमित्ये-तदभिप्रायात्।

नन्वेवं प्रसिद्धानां कौलानां पामरत्वे विदुषां कीदृशी नाम पूजेति जिज्ञासायामाह महान्त इति। सकलजननीं वस्तुतः। न तु मूलाधारादि-प्रकृतिम्। तस्याः सर्वजननीत्वविरहात्। बैन्दवगृहे श्रीचक्रे सहस्रारलक्षणे आज्ञाचक्रोपरिस्थिते, न तु मूलाधारादावेव। शिवाकारां परशिवाकारां

न तु बिन्द्वादिरूपिणीम्। अपि च नित्यां नित्यकलारूपिणीं षोडशीम्। अमृतझरिकाममृतपात्रभूताममृतं झरत्यस्यास्तामिति वा। अमृतझरणं प्राग् व्याख्यातम्। ऐन्दवकलां सहस्रारगतापरचन्द्रबिम्बकलां व्याख्या-ताम्। एवंविधां भगवतीं महान्तः सेवन्ते। समयिनां हि केवलं सहस्रार एव मुख्यं पूजनं नान्येषु पद्मेषु। न च प्राङ् मणिपूरादावपि समयिनां पूजा समभिहिता प्रत्यक्षदर्शनं च तत्र भगवत्या उक्तमिति वाच्यम्। साधनदशायां तदावश्यकत्वेऽपि क्रमेण तत्परित्यागेनान्ते सहस्रारकमले एव महद्भिः सद्भिः पूजाकरणात्। तथा च साधनदशायामेव प्राथमिकावस्थायां बाह्य-पूजनमविरुद्धमेव। तथैव शिष्टाचारदर्शनात्।

अत्र च "विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दवगृहमि"ति "सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्बैन्दमिती"ति च प्रागुक्तत्वादाज्ञोपरिचन्द्रबिम्बादतिरिक्तं तदुपरिस्थितसहस्रारकमलगत-मेव बैन्दवगृहमाचार्याभिप्रेतम्। न तु कौलस्वीकृतमूलाधारत्रिकोणगत-बिन्दुस्तदीयबैन्दवगृहं वेति पूर्वार्धकृतकौलनिरसान्निश्चितं भवति। वक्ष्यति चाग्रे "सहस्रारे पद्मे सुभगसुभगोदेती"ति। एतदाक्षिप्तानि च पूर्वाणि षट् कमलानि। तत्पूर्वकत्वात्सहस्रारसेवनस्य।

तत्र मूलाधारादौ चतुर्दल-षड्दल-दशदल-द्वादशदल-षोडशदल-द्विद-लानि षट् पद्मानि वादिसान्त—बादिलान्ताद्यक्षरसमेतानि व्याख्यातानि। तान्यधोमुखानि तिष्ठन्तीति केचित्। लक्ष्मीधरायां तूर्ध्वमुखानीति प्रति-पादितम्। कोऽत्र निर्णय इति चेद्? भावनानुसारेणेति गृहाण। भावना च प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गभेदाद् द्विधा। तथा चोक्तं मायातन्त्रे—

तत्सर्वं पङ्कजं देवि सर्वतोमुखमेव च।
प्रवृत्तिभावचिन्तायामधोवक्त्राणि चिन्तयेत्॥
निवृत्तिभावमार्गेषु सदैवोर्ध्वमुखानि च॥ इति।

एतेषां षण्णां पङ्कजानां डाकिन्यादयः षडधिपतयः। तथा चोक्तम्—

डाकिनी राकिणी चैव लाकिनी काकिनी तथा।
शाकिनी हाकिनी चैव क्रमात् षट्पङ्कजाधिपाः॥ इति।

एतानि षट्कमलानि मेरुदण्डस्थितानि। तत्रैव इडापिङ्गलासुषुम्णाख्यानां नाडीनां स्थितिः प्राक् प्रतिपादिता। मेरोर्मुखे ब्रह्मनाडीमुखं मोक्षमार्गं पिधायाऽङ्गुष्ठवलयाकारा स्थिता कुण्डलिनी नाम शक्तिर्भुजगाकारा प्रसुप्ता।

प्राणायामेन तदुद्बोधनं क्रियते। तत्र प्रथमं तावदिडया प्राणमाकृष्य मूलाधारपर्यन्तं नीत्वा कुण्डलिनीमाहृत्य ततः पिङ्गलया विरेचयेत्। ततः पिङ्गलया प्राणमाकृष्य मूलाधारं नीत्वा कुण्डलिनीमाहृत्येडया विरेचयेत्। इत्येकश्चिन्तनक्रमः। पुनः योनिमाकुञ्च्यापानं प्राणे प्राणमपाने च योजयेत्।

कन्ददेशे वसेत्प्राणो ह्यपानं गुदमण्डले।

कन्दो गुदादूर्ध्वं ध्वजादध इति प्राक् प्रदर्शितम्।

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्॥ इति।

गोरक्षसंहितायां किंचिदन्तरम्।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥ इति।

किमत्र ग्राह्यमिति चेत्? प्राणायामकाले गोरक्षोक्तं चिन्तयेदिति। कुत इति चेत्? तस्यैव प्रायः स्वाधिष्ठानस्थानत्वेन वह्निमण्डलत्वात् प्राणापानवायुसंयोगेनाग्निप्रज्वलनोपपत्तेः। तेन कुण्डलिनीप्रबोधोपयोगात्। "दहनमपि संज्वाल्य शिखया" इति प्रागुक्तत्वात्। एतस्मिन्नेव समये सुषुम्णायां प्राणसंचारणाभ्यासमपि कुर्यात्। एवमभ्यस्यतः कियता कालेन सुषुम्णायां प्राणसंचारे इडापिङ्गलयोर्निरोधाद् वाय्वाघाताग्निज्वालाघाताभ्यामुद्बुद्धा कुण्डलिनी दण्डाकारमापन्ना ऊर्ध्वं क्रामति। प्रथममनुसंधानात्मकमूर्ध्वक्रमणमभ्यासपरिपाकवशात्तु वस्तुतस्तदिति विशेषः। ततः षट्चक्रभेदनानुसन्धानम्।

षट्चक्रभेदनचिन्तनकाले पद्मानामनुसंधानं तत्त्वचिन्तामण्यादौ बहुविस्तरेण प्रपञ्चितम्। तद् यद्यपीहाचार्यैर्न प्रदर्शितं तथापि संक्षेपेण कथ्यते। मूलाधारं चतुर्दलं रक्तवर्णं वं शं षं सं वर्णैः स्वर्णाभैर्युक्तम्। तत्कर्णिकायां चतुष्कोणं धरामण्डलं पीतवर्णम्। तन्मध्ये 'लं' इति धराबीजम्। तदीयबिन्दुमध्ये शिशुरूपो ब्रह्मा वा स्वमते भैरवो वा भैरवीसहितः। तस्यामेव कर्णिकायां रक्तपद्मोपरि डाकिनीशक्तिः। कर्णिकामध्ये विद्युदाकारं त्रिकोणम्। तन्मध्ये कामवायुः कामबीजं च क्लीं इति। तदुपरि स्वयंभुलिङ्गः श्यामवर्णः। तद्वेष्टिनी कुण्डलिनीशक्तिः सार्धत्रिवलयाकारा। लिङ्गाग्रे चित्कला। एवं विचिन्त्य तत्पद्मं भिन्दानामूर्ध्वक्रमणीं कुण्डलिनीशक्तिमनुसंदध्यात्।

एतदुपरि स्वाधिष्ठानचक्रम् । षड्दलं पद्मं सिन्दूरवर्णम् । तद्विर्णैः बं भं मं यं रं लमित्येतैर्वर्णैर्युक्तम् । तत्कर्णिकायां यद्यपि परमतेनाम्भोज-मण्डलं, तथापि स्वमतेन त्रिकोणं तद्बहिः स्वस्तिकयुक्तं रक्तवर्णं वह्नि-मण्डलम् । तन्मध्ये रं बीजम् रक्तवर्णमेव । तत्र वृषारूढो रुद्रो वृद्धरूपः । पद्मकर्णिकायां रक्तपद्मोपरि लाकिनीशक्तिः । एवं ध्यात्वा तच्च चक्रं भिन्दाना कुण्डलिन्यूर्ध्वं क्रामति इति संचिन्त्यम् ।

एतदुपरि मणिपूरचक्रं दशदलं मेघवर्णं डं ढमित्यादि फमित्यन्तवर्णै-र्नीलवर्णैर्युक्तम् । तन्मध्येऽम्भोजमण्डलं शुक्लवर्णमष्टदलपद्माकारम् । तन्मध्ये वं बीजम् । तत्क्रोडे परमते विष्णुः स्वमते प्रावृषेण्यस्तडित्वान् सशक्तिः । पद्मकर्णिकायां रक्तपद्मोपरि राकिणीशक्तिः । एवं ध्यात्वा तच्च चक्रं भिन्दाना कुण्डलिन्यूर्ध्वं क्रामति इत्यनुसंन्धातव्यम् ।

एतदुपरि अनाहचक्रं बन्धूकपुष्पवर्णं द्वादशदलं हृत्पद्म सिन्दूरवर्णैः कंखमादि टं ठं पर्यन्तद्वादशवर्णैर्युक्तम् । तदुपरि सूर्यमण्डलम् । तत्र त्रिकोणं तदूर्ध्वं यं वायुबीजं तत्क्रोडे हंसाभो महेश्वरः । कर्णिकायां रक्तपद्मोपरि काकिनीशक्तिः । मध्यत्रिकोणे बाणलिङ्गशिवः । तदधो दीपकलिकाकारो हंसरूपी जीवात्मा । एतत्कर्णिकाधोऽष्टदलं रक्तवर्णं मानसपूजास्थानं पद्मम् । एवं ध्यात्वा तचच चक्रं भिन्दाना कुण्डलिन्यूर्ध्वं व्रजतीति संचिन्त्यम् ।

एतदुरि कण्ठमूले विशुद्धिचक्रं षोडशदलं धूमधूम्रमारक्तकेसरम् अं आं इत्यादि शोडशस्वरैः संयुतं रक्तवर्णैः । कर्णिकायां नभोमण्डलं वृत्तरूपं शुक्लवर्णम् । तन्मध्ये त्रिकोणे हं इति गगनबीजम् । तत्क्रोडे वृषभोपरि सदाशिवोऽर्धनारीश्वररूपः पञ्चवक्त्रः शुक्लवर्णः । एतत्कर्णिकायां शाकिनी-शक्तिः । एवं सचिन्त्य तद् भिन्दाना कुण्डलिनीशक्तिरूर्ध्वं गच्छतीति ध्यातव्यम् ।

एतदुपरि ललाट आज्ञाचक्रं द्विदलं शुक्लवर्णं कर्बुरवर्णाभ्यां हक्ष-वर्णाभ्यां युक्तम् । कर्णिकायां हाकिनीशक्तिः । तदूर्ध्वत्रिकोणे विद्युदाकारः शुक्लवर्णः इतरलिङ्गः । तदूर्ध्वत्रिकोणे प्रणवाकृतिरन्तरात्मा प्रदीपाभः । तदूर्ध्वे सूक्ष्मं मनः । तदूर्ध्वं चन्द्रमण्डलम् । तत्र हंसक्रोडे परशिवः शक्तिसहितः । एवं संचिन्त्य तद् भिन्दाना कुण्डलिन्यूर्ध्वमाक्रामतीति संचिन्त्यम् । इत ऊर्ध्वं तु सहस्रारात्प्राक्—

इन्दौ तदर्धे बोधिन्यां नादे नादान्त एव च।

इति योगिनीहृदयवचनात्—इन्दुः बिन्दुः तत ऊर्ध्वं तदर्धमर्धेन्दुः। तत ऊर्ध्वं रोधिनी बोधिनीनामान्तरा कला ततो नादोऽर्धचन्द्राकृतिः।

तदूर्ध्वे भाति नादोऽसावर्धचन्द्राकृतिः परः।

इति संमोहनवचनात्। तदूर्ध्वं नादान्तः। महानादमन्ये प्राहुर्लाङ्गलाकृतिम्।

तदूर्ध्वे च महानादो लाङ्गलाकृतिरुत्तमः। इति।

एतदूर्ध्वमाञ्जीं कलामाहुः

तदूर्ध्वे च कला प्रोक्ता आञ्जीति योगिवल्लभा।

कलाशक्तिराञ्जी तिर्यग्रेखारूपमात्राकारा। ततो व्यापिका, समना उन्मना च। एतदनन्तरं महाबिन्दुः सहस्रारमिति वदन्ति। केचिदुन्मनीं सहस्रारे वदन्ति।

सहस्रारकर्णिकायां चन्द्रमण्डलमध्यगा।
सर्वसंकल्परहिता कला सप्तदशी भवेत्॥
उन्मनी नाम तस्या हि भवपाशनिकृन्तनी॥

इति कङ्कालमालिनीतन्त्रवचनात्। आचार्याः पुनरेतत्सर्वं न वर्णयामासुः। अधिकस्याधिकं फलमिति रीत्यैतत्सर्वचिन्तने फलाधिक्यसत्त्वेऽपि षट्चक्रसामान्यचिन्तनतद्भेदनचिन्तनादिमात्राभ्यासेनापि फलोपपत्तेः। अतोयत्किंचिदिदमस्माभिः प्रदर्शितम्। डाकिन्यादीनां रूपाद्यायुधादिविशेषवर्णनं तु न कृतम्। तदधिकफलेच्छुभिराकरग्रन्थेभ्योऽवगन्तव्यामिति। एवं षट्चक्रभेदनपुरःसरं कुण्डलिनीं सहस्रारं प्रापय्य तत्र प्राग्व्याख्यातरीत्या श्रीचक्रात्मकमपरं चन्द्रबिम्बं चिन्तयेत्। तस्यैव भूपुरमेखलादेः सुधासिन्ध्वादिरूपेण चिन्तनं प्राक् प्रतिपादितम्। तत्र मध्ये परात्परबिन्दौ परमशिवं च चिन्तयेत्। यद्यपि तत्र प्रथममपि विद्यते पराशक्तिस्तथापि कुण्डलीनीं तत्र तद्रूपेण ध्यायेत्। तत्र शिवशक्तिसामरस्यममृतप्रादुर्भावं तेन परदेवतासंतृप्तिं तेनैव षट्चक्रदेवतासंतर्पणं द्वासप्ततिसहस्रनाडीसेचनं च विभाव्य पुनस्तेनैव मार्गेण कुण्डलिनीं मूलाधारे समानीयमानां भावयेदिति प्रथमा कुण्डलिन्युद्बोधनभावनारीतिः। सहस्रार-

स्वरूपं प्रागभिहितमपि किंचिद्विशदीक्रियते। शिरोमध्ये सहस्रारं सर्ववर्णमयं भवति। तथा चोक्तं कङ्कालमालिन्याम्—

सहस्रारं महापद्मं शुक्लवर्णमधोमुखम्।
अकारादिक्षकारान्तैः स्फुरद्वर्णैर्विराजितम्॥

तत्र ळकारत्यागेन क्षकारत्यागेन वा पञ्चाशल्लिपीनां विंशत्यावृत्त्या सहस्रे दलेषु सर्ववर्णसमावेश इति द्रष्टव्यम्। तत्र श्रीचक्रमेवास्मन्मते। मतान्तरे तु एतत्कर्णिकायां हंसः, ततः परमगुरुः। ततः सूर्यमण्डलम्, ततश्चन्द्रमण्डलम्, ततो महावायुः। ततो ब्रह्मरन्ध्रम्। ततो महाशङ्खिनी। चन्द्रमण्डले त्रिकोणम्। तत्र चन्द्रस्य षोडशी कला। तत्क्रोडे निर्वाणकला। निर्वाणकलाक्रोडे परबिन्दुः शिवशक्त्यात्मकः। तन्मध्ये निष्कलं ब्रह्मेति। एतत्समयचक्रमातृकैक्येन षोढैक्यभावनापि बोध्या।

एवं निरन्तरमभ्यस्यतो वस्तुतः कुण्डलिनीप्रबोधयोग्यत्वं संपत्स्यते। तत्रावश्यकानि कानिचित्साधनानि—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश॥
जपः संतोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च तपो हुतम्॥
दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।

इत्येवं गौतमीयादिवचनोक्तयमनियमाभ्यासरतः आसनसिद्धो भवेत्।

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिशं प्रोत्सारयन् पूरयन्
प्राणं मुञ्चति मोक्षमेति शनकैः शक्तिप्रभावाद् यतः॥

इत्युक्तरीत्या प्राणायामं समभ्यसेत्।

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत्॥

तत्क्रमश्च प्रागभिहितः। यदा तौ चन्द्रार्कावित्यादौ। तथा च—

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता हुता।

इति रीत्या प्रबोधे जायमाने हुंकारेणोर्ध्वमुत्थापयेत् ।

हुंकारेण समुत्थाप्य शक्तिं स्वाधारसंस्थिताम् ॥ इति ।

अन्ये तु हंसमन्त्रेणोत्थापनमिच्छन्ति । तथा चागमकल्पद्रुमे—

ततो हंसमनुस्मृत्य शनैराकुञ्चयेद् गुदम् ॥ इति ।

परे तु उभयं मेलयन्ति । हुं हंस इत्यस्य कुण्डलिनीचालने विनियोगमाहुः ।

हृदयाद्धंसमनुना नीत्वा जीवं मुखाम्बुजे ।
हुंकारेण समुत्थाप्य कुण्डलीं परदेवताम् ॥

इति विभागः कालीकुलामृते । कङ्कालमालिन्यां तु—

आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे ।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः ॥
सोऽहं तु मनुना देवीं स्वाधिष्ठानं प्रवेशयेत् ॥ इति ।

एतन्निष्कर्षेण च प्रणवेन जीवात्मानं मूलाधारे नीत्वा हुंकारेण कुण्डलिनीमुत्थाप्य सोऽहमिति स्वाधिष्ठाने प्रवेश्य हृदयपर्यन्तमानीय हंस इति मन्त्रेण मुखाम्बुजे मुख्यकमले सहस्रारे नयेदिति परे कल्पयन्ति । यथासंप्रदायमिति सर्वसमाधानम् । अत एव केषांचिज्जीवात्मनो मूलाधारे समानयनमस्ति केषांचिन्नास्ति । तेषां हृदयमागतया कुण्डलिन्या सह जीवात्मन ऊर्ध्वनयनम् । विशेषो निर्वाणपद्धत्यां—

भ्रमद् योनिगतं ध्यायेत्कामं बन्धूकसंनिभम् ।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तडित्कोटिसमप्रभम् ॥
तदूर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ इति ।

कला चिद्रूपा कुण्डलिनी । तथाऽऽत्मन ऐक्यविभावनाविशेषः ।

अथ कुण्डलिन्या ऊर्ध्वप्रणयनसमये लयचिन्तनमुच्यते । तदेतद्विस्तरेण कङ्कालमालिनीतन्त्रे प्रदर्शितम्—

त्रिकोणाख्ये तु देवेशि लंकारं चिन्तयेत्ततः ।
ब्रह्माणं तत्र संचिन्त्य कामदेवं च चिन्तयेत् ॥
जीवं तत्रैव निश्चिन्त्य प्रणवोच्चारणेन च ।
पदे च गमनं पत्यौ विसर्गंनाशिकामिति ॥

घ्राणं संचिन्त्य देवेशि महेशि प्राणवल्लभे।
डाकिनीं परमाराध्यां शक्तिं च भावयेत्ततः॥
एतानि गिरिजे देवि पृथ्वीं नीत्वा गणेश्वरि।

पृथ्वीं नीत्वा पृथिवीतत्त्वे विलाप्येत्यर्थः। एतानि—लंकार ब्रह्मकामदेव-घ्राणडाकिनीसंज्ञानि। उपलक्षणमिदम्। घ्राणेन्द्रियस्य पादेन्द्रियस्य पृथिवीप्रपञ्चसमुदायस्य चापि पृथिवीतत्त्वे विलापनं बोध्यम्।

ततश्च पृथिवीं धन्यां गन्धं नीत्वा महेश्वरि।
आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे॥
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः।
सोऽहं तु मनुना देवि स्वाधिष्ठाने प्रवेशयेत्।

गन्धे गन्धतन्मात्रां नीत्वा तत्र विलाप्य। प्रवेशयेत्

तत्कर्णिकायां वरुणं तत्रापि भावयेद्धरिम्।
युवानं राकिणीं शक्तिं चिन्तयित्वा वरानने॥
रसनेन्द्रियकूपस्थं जलं च कामलालसे।
एतानि गन्धं च शिवे रसं नीत्वा वरानने॥
जीवात्मानं कुण्डलिनीं रसं च मणिपूरके॥

तत्कर्णिकायां स्वाधिष्ठानकमलकर्णिकायाम्। एतानि—गन्धतन्मात्रा-वरुण-हरि-राकिणी-जलानि। उपलक्षणमेतत्। रसनेन्द्रिय-पाणीन्द्रिय-जल-प्रपञ्चानाम्। एतानि सर्वाणि रसं नीत्वा रसतन्मात्रायां विलाप्य रसतन्मात्रामपि मणिपूरके प्रवेशयेत्। एतच्च स्वाधिष्ठाने जलतत्त्वाभिप्रायेण। अन्यथा मणिपूरे विलयनम्—

तत्कर्णिकायां सुश्रोणि वह्निं संचिन्त्य साधकः।
तत्र रुद्रः स्वयंकर्ता संहारे सकलस्य च॥
लाकिनीशक्तिसंयुक्तं भावयेत्तं मनोहरम्।
तत्र चक्षुरिन्द्रियं च ध्यात्वा तेजोमयं शिवे॥
एतद्रसानि सुभगे रूपे नीत्वा महाभगे।
जीवात्मानं कुण्डलिनीं रूपञ्चानाहते नयेत्॥

एतद्रसानि एतानि रसतत्त्वं च। रूपे रूपतन्मात्रायाम्। व्यत्ययः पूर्ववत् स्वाधिष्ठानमणिपूरयोः। उपलक्षणं च पायुचक्षुरिन्द्रिय-वह्नि-प्रपञ्चानामपि विलापनम्। रूपतत्त्वमनाहते नयेत्।

तत्कर्णिकायां वायुं च जीवस्थाननिवासिनम्।
तत्र योनिमण्डलं च बाणलिङ्गविराजितम्॥
काकिनीशक्तिसंयुक्तं तत्र वायुं त्वगिन्द्रियम्।
एतानि रूपं संयुज्य स्पर्शे त्वमलकारिणि॥
जीवं कुण्डलिनीं स्पर्शं विशुद्धे स्थापयेत्ततः।

वायुं त्वगिन्द्रियं सांचत्यैतानि रूपतत्त्वं च स्पर्शतन्मात्रायां विलापयेत्। उपस्थवायुप्रपञ्चानामप्युपलक्षणाद्विलापनम्।

तत्कर्णिकायामाकाशं शिवं च शाकिनीयुतम्।
वाचः श्रोत्रं च आकाशे संस्थाप्य नगनन्दिनि।
एतानि सर्वं शब्दे वै नीत्वा शंकरि मत्प्रिये।
जीवं कुण्डलिनीं शब्दं चाज्ञाचक्रे निधापयेत्॥

सर्वत्र प्रणवेन सोऽहं मन्त्रेण वा जीवप्रणयनम्। एतदनन्तरम् तन्त्रान्तरे—

अहंकारे हरेद् व्योम सशब्दं तन्महत्यपि।
महच्च सर्वशक्तीनामव्यक्ते कारणे परे॥
सच्चिदानन्दरूपं यद् वैष्णवं कारणं परम्।
पृथिव्यादि क्रमात् सर्वं तत्र लीनं विचिन्तयेत्॥

अहंकारे इति मनोलाक्षणिकम्। सशब्दं व्योम मनसि तच्चाहंकारे इति व्याख्येयम्। अव्यक्तं च सहस्रारे नीत्वा परे कारणे वैष्णवे पदे प्रवेशयेत्। अव्यक्तं हैरण्यगर्भं तत्त्वम्। वैष्णवमिति परबिन्दुः। तत्र सर्वं विलापयेत्। किं च मातृकाणामपि विलयः कर्तव्यः।

संकल्प्यैवं ततो न्यासस्थानाद् वर्णांश्च संहरेत्।
प्रतिलोमे ळे क्षलयो ळकारस्य हकारके॥
हलयश्च सकारे च सलयश्च षकारके।
क्रमेणैव मपर्यन्तं लयमुत्पाद्य यत्नतः॥ इत्यादि

एवं सर्वा मातृकाः उत्तरोत्तराः पूर्वस्यां मातृकायां विलाप्य पुनः—

तदर्णौ संहरेद् बिन्दौ कलायां तं नियोजयेत् ।
तां नादे नान्तरं नादं नादान्ते संहरेत् पुनः ॥
तमुन्मन्यां समायोज्य विष्णुवक्त्रे नयेच्च ताम् ।
तं पुनर्गुरुवक्त्रे च योजयेत्साधकोत्तमः ॥
ततश्च योजयेद्वर्णाल्लिलयेत् परमे शिवे ।

एवं वर्णसंहारेण षट्चक्राणामपि विलयः । चक्राणां वर्णमयत्वात् । तदर्णौ इत्यनेन हृक्षवर्णावुक्तौ । तत्तु मूलाधारदलानां स्वाधिष्ठानदलवर्णेषु इति क्रममादृत्य । पूर्वोक्तक्रमे तु क्षकारादीनां पूर्वपूर्ववर्णे प्रविलाप्यान्ते अकारं बिन्दौ संहरेदिति द्रष्टव्यम् । अयमेकः प्रकारः । प्रकारान्तरं तु—

वादिसान्तान् दलस्थार्णान् संहरेत्कमलासने ।
तं षट्पत्रमये बादिलान्ताक्षरान्विते ॥

इत्यादिरीत्या विलाप्य—

द्विपत्रे हृक्षलक्षिते योजयित्वा ततः सुधीः ।
तदर्णौ संहरेद्बिन्दौ तं कलायां नियोजयेत् ॥

इत्यादिरीत्या बोध्यम् । शिष्टं प्रागुक्तमेव ।

समाधिकालात् प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः ।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात् सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ॥

एतेषां विलयनचिन्तनमेव विलापनम् । न पुनर्दण्डप्रहारेण घटस्य मृत्तिकायां विलापनवद्विलापनम् । असंभावात् । एवं विलयचिन्तनपुरःसरं कुण्डलिनीमूर्ध्वं नयेत् । कियत्पर्यन्तमित्याह—

हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत् ।
सदाशिवो महादेवो यत्रास्ते परमेश्वरि ॥

ततश्च— सदाशिवेन देवेशि क्षणमात्रं रमेत् प्रिये ।
अमृतं जायते देवि तत्क्षणात्परमेश्वरि ॥

क्षणमात्ररमणमात्रेणामृतं जायते प्रादुर्भवतीत्यर्थः । न तु क्षणमात्रमेव रमेदिति । अत एवान्यत्र प्रादुर्भावमकथयित्वा सिद्धवन्निर्देशः

गच्छन्ती ब्रह्ममार्गेण लिङ्गभेदक्रमेण च।
अमृतं यद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ॥
द्रुतरक्तं तेजसाढ्यं धारापातप्रवर्षणम्।
पीत्वा कुलामृतरसं पुनरेव कुलं विशेत् ॥ इति।

अत्रैव विशेषमाहान्यत्र—

तदुद्भवामृतरसं लाक्षारससमायुतम्।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत्परदेवताम् ॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र संतर्प्यामृतधारया।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ॥

सौन्दर्यलहर्यां ततोऽपि विशेषः—

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ॥ इति।

प्रपञ्चमित्यनेन स्वतनुस्थसकलनाडीप्रपञ्चो बोध्यः। नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणीत्येके। गौतमीये—

तिस्रः कोटयस्तदर्धेन शरीरे नाडयः स्मृताः। इति।

तदर्धेन अर्धेन सहेत्यर्थः। सार्धचतुष्कोटिनाड्य इत्यर्थः शारदायां तु—

"नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णा पञ्चपर्वसु।
मूलाधारोद्गतास्सर्वास्ताभिर्व्याप्नोति तत्तनुम्" ॥ इति।

तनुगतसकलनाडीप्रपञ्चसेचनमेवेत्यत एवात्राप्याचार्यैः "सुधाधारासारैः स्नपयसि तनुम्" इत्येवाभिहितम्। नन्वेवं प्रपञ्चपदप्रयोगे किं तात्पर्यमिति चेत्? सर्वस्य प्रपञ्चस्यामृतरूपेण स्वानुभववेद्यत्वम्। तथा च वासिष्ठे—

चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयं सखे ते दुःखदः कथम्।
किमिन्द्रवारुणी राम सितया कटुकी कृता ॥

सितया कृता इन्द्रवारुणी किं कटुकीत्यन्वयः। कुण्डलिनी शिवसंयोगेन स्वरूपसाक्षात्कारात् प्रपञ्चोऽमृतमयोऽनुभूयत इति भगवत्पादानां भावः। एवं कुण्डलिनीनयनानयनाभ्यां किं स्यादित्युच्यते—

एवमभ्यस्यमानस्तु अहन्यहनि पार्वति ।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ इति ।

कथं जरामरणदुःखबन्धविमुक्तिरिति चेदुच्यते । एवमभ्यस्यतः समाधियोगो भवति । समाधियोगेन च पुनः पूर्वोक्तसकललयचिन्तनादिपरिसमाप्तिः । तदुक्तम्—

समाधियोगात् प्रागेवं विचिन्त्यतिप्रयत्नतः ।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात् सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ॥ इति ।

प्रागेवमित्यनेनैतदभ्यासस्य समाधियोगसाधनत्वं व्यज्यते । समाध्युत्तरं चैवंविधनयनाऽऽनयने कुण्डलिन्या न स्त इति च गम्यते । तथा च परमाभ्यासवशात् कुण्डलिन्याः शिवेन मिलने सति तत्रैव चिरं समाधिस्थो भवति । एवं समाधिसंपत्त्यनन्तरं मन्त्रचक्राणां चिन्तनं च नास्ति समाधिर्हि

यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्मृतम् ।
स्वरूपशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते ॥ इति निर्दिष्टः

"स्वरूपशून्यमिव समाधिरि"ति भगवान् पतञ्जलिश्च । तथा च प्राप्तसिद्धिरुपविशन् प्रथममेव सहस्रारे परमशिवं ध्यायन्समाधिमग्नो भवति । व्युत्थानेऽपि तत्स्मृतिरेवेति न कुण्डलिन्या अधोनयनं प्रसज्यते । तामिमां बहुचिराभ्यासलभ्यसमाधिमतामवस्थामधिकृत्याह भगवान् गौडपादाचार्यः—"महान्तः सेवन्ते सकलजननीं बैन्दवगृहे शिवाकारां नित्याममृतझरिकां बैन्दवकलाम्" इति । पदव्याख्यानमुक्तव्याख्यानचरितार्थम् ॥४९॥

इदं कौलोत्पत्तिस्थितिलयकरं पद्मनिकरं
त्रिखण्डं श्रीचक्रं मरनुपि च तेषां च मिलनम्
तदैक्यं षोढा वा भवति च चतुर्धेति च तथा
तयोः साम्यं पञ्चप्रकृतिकमिदं शास्त्रमुदितम् ॥ ५० ॥

कुण्डलिनि का प्रबोध, शिवमिलन, पुनः मूलाधार प्रवेश इन तीनों को संपादित करने वाले छः मूलाधारादि पद्म, तीन खण्ड वाला श्रीचक्र, मन्त्र तथा इनका तादात्म्य, इनका छः प्रकार का ऐक्य या चार प्रकार का ऐक्य एवं शिव और शक्ति का परस्पर पाँच प्रकार का साम्य इन सबको प्रतिपादित करने वाला समयमार्गियों का यह सात्त्विक शास्त्र बताया गया ॥ ५० ॥

अन्वयार्थबोधिनी

इदं कौलोत्पत्तिस्थितिलयकरं—कुले भवः कौलः सर्पराजः कुण्डलिनीरूपस्तस्य प्रबोधन-शिवमिलन—प्रत्यावृत्तपुनःस्वपनरूपोत्पत्तिस्थितिलयान् करोति संपादयतीति तथाविधं पद्मनिकरं = षट्चक्रं, त्रिखण्डं श्रीचक्रं, मनुः = मन्त्रः अपि च तेषां मिलनं तादात्म्यम्, तदैक्यं—तेषामैक्यं षोढा भवति, अपि वा चतुर्धा भवति इति च, तथा तयोः = शिवशक्त्योः क्रियाऽवस्थादि पञ्चप्रकृतिकं साम्यमित्येतत्सर्वंप्रतिपादकमिदं शास्त्रं—समयिनां सात्त्विकं शास्त्रमुदितम् = उक्तं मया श्री गौडपादाचार्येणत्यर्थः ॥ ५० ॥

अमृत झरिका

अधुना कौलमतगुणदोषवर्णनौदासीन्येन तन्मतमपि कस्यचिदुपकाराय चेद् भवेद् भवेन्नामेति तदुपादायैवोपसंहरन्नाह—इदमिति । कौलस्य कौलमतस्योत्पत्तिस्थितिलयकरं पद्मनिकरं षट्चक्रम् । मूलाधारस्वाधिष्ठानयोरेव प्रकृतित्वेऽपि छत्रिन्यायेन षट्चक्रग्रहणम् । कौलमतानुसारेण जगदुत्पत्तिस्थितिलयकरमिति वा । अथवा नात्र कौलमतोपसंहारः । व्याख्यान्तराश्रयणात् । तथा प्रतिपादितं वस्तूपसंजिहीर्षन्नाह—इदमिति । कौलेति । कुले कुलकुण्डे भवः कौलः सर्पराजः कुण्डलिनीसंज्ञः । तस्योत्पत्तिरुद्बोधः । स्थितिः सहस्रारे शिवेन सह । लयः पुनः कुलकुण्डप्रवेशेनेति

तदेतत्त्रयं करोतीति तथाभूतं पद्मनिकरम्। मूलाधारादिषट्कम्। तच्च त्रिखण्डं हरिहरविधिग्रन्थिभिस्त्रिविभागत्वादग्निसूर्यसोमात्मकत्वाच्च। तथा श्रीचक्रम्। तदपि त्रिखण्डम्। सोमसूर्यानलात्मकत्वादेव। मनुरपि च। त्रिखण्ड इति लिङ्गव्यत्ययेनान्वेति। मनौ ह्रींकारत्रयस्य विधिहरिहर ग्रन्थिरूपत्वात्। सोमसूर्यानलात्मकखण्डत्रययुक्तत्वाच्च। मातृकामन्त्र-ग्रहणेऽपि तासां त्रिखण्डत्वं व्याख्यातम्। एवमेषां मिलनं तादात्म्यापत्तिः। अत्र स्वगततादात्म्यं द्रष्टव्यम्। "क्षितौ वह्निवह्नौ वसुदलजलमि"त्यादि "त्रिकोणं ते वृत्तत्रितयमि"त्यादि च यदभिहितम्। ऐक्यस्य पृथगत्र वक्त-व्यत्वात्। यद्यपि मनौ साक्षात् स्वगततादात्म्यं नोक्तम्। तथापि तत्रापि षोडशनित्यातादात्म्यादिकमभिहितमिति तावन्मात्रेण मिलनं बोध्यम्। किं च तदैक्यं तेषां नादबिन्दुकलानामैक्यं तच्च षोढा वा भवति समन्त्राणां तेषामेव चतुर्धा वा भवति साधनसोपानक्रमेण। प्रथमसोपाने षोढैक्यं पश्चात् साधनपरिपाके चतुर्धैक्यमिति। तथेति किं चेत्यर्थः। तयोः प्रसिद्धयोः शिवशक्त्योरित्यर्थः। साम्यं पञ्चप्रकृतिकं, क्रियाऽवस्था, रूपं, प्रकृतिर, भिधेति पश्चप्रकृतिकं पञ्चाकृतिकमित्यर्थः। पञ्चभिराकृतिभिः शिवशक्त्योः साम्यं कथितम्। पञ्चघटकीभूतप्रकृतिशब्दः स्वभावपरः। इह प्रकृतिशब्द उपादानपरः। क्रियादिभिः पञ्चभिरुपादानैः साम्यमिति। **इदमिति।** प्रथममिदंपदं पद्मनिकरेण वा प्रत्येकेन वा सम्बध्यते। चरममिदंपदं प्रकृतश्लोकोक्तसर्वार्थपरामर्शकम्। पद्मनिकर-श्रीचक्र-मनु-तन्मिलन-तदीय-षोढैक्य-तदीयचतुर्धैक्य-शिवशक्तिसाम्यानि मुख्यविषयभूतानि। तेषां परा-मर्शक इदंशब्दः। न चैवं बहुवचनान्त प्रयोगापत्तिः। विधेयमुख्यतया इदं शास्त्रमिति शास्त्रविशेषणत्वेनैकवचनोपपत्तेः। इदमेतत्पूर्वोक्तसप्तविषयक-मिति वार्थः। तदिदं शास्त्रमुदितमुद्धृतं शम्भुमुखादिति भावः। यद्वा इदं शास्त्रमुदितमुक्तं मया कृपया जगत्कल्याणहेतव इत्यर्थः। अस्मदर्थः श्रीभग-वद्गौडपादाचार्यः ॥ ५० ॥



उपास्तेरेतस्याः फलमपि च सर्वाधिकमभूत्
तदेतत्कौलानां फदमिह हि चैतत्समयिनाम् ।
सहस्रारे पद्मे सुभगसुभगोदेति सुभगे
परं सौभाग्यं यत्तदिह तव सायुज्यपदवी ।। ५१ ।।

इस श्रीविद्योपासना का फल सर्वाधिक रहा है। कौलों को तो यहीं फल मिल जाता है। समय मार्गियों के लिये तो प्रथम सुभग सहस्रारपद्म में परम सुभगा कुण्डलिनी का उद्गमन होता है, और इससे भी बढ़कर जो परम सौभाग्य है, हे माता ! वह आप की सायुज्य पदवी है। उसे भी वे प्राप्त करते हैं ।। ५१ ।।

अन्वयार्थबोधिनी

एतस्या उपास्तेः = उपासनायाः=श्रीविद्योपासनायाः **फलमपि च सर्वाधिकमभूद्दे**=भवति । **ततेतत्**–फलं **कौलानाम् इह हि च** । चकरात्परत्रापि । **समयिनाम् एतत्**–फलं भवति यत् **सुभगे सहस्रारे पद्मे सुभगसुभगा** = सुभगानामपि सुभगा–परमसुभगा कुण्डलिनी शक्तिः **उदेति** = उद्गच्छति कुण्डलिन्युत्थानं भवति यतो भगवतीप्रत्यक्षादिकं भवति । इतोऽपि **परं** = श्रेष्ठं **सौभाग्यं यत्तद्** हे **भगवति** ! **तव सामुज्यपदवी** विद्यते तदपि भवति **इह** जन्मन्येव ।। ५१ ।।

अमृतझरिका

अस्य शास्त्रस्य विशिष्टं सर्वातिशायि फलमाह—**उपास्तेरेतस्या** इति । एतस्याः एतच्छास्त्रप्रतिपाद्याया उपास्तेरुपासनायाः । यद्वा पूर्वतरश्लोकोक्ता सकलजननी नित्या ऐन्दवकलारूपिणी या भगवती तस्या एतस्या या उपास्तिस्तस्या इति व्यधिकरणषष्ठीद्वयम् । यथोक्तभगवतीविषयाया उपास्तेरित्यर्थः । फलमपि च सर्वाधिकमभूत् ।

अतः प्रधानविद्येयं त्रिपुरा परमेश्वरी ।
नैतस्याः सदृशी काचिद्विद्या लोकेषु विद्यते ।।

इति वामकेश्वरे एतद्विद्यायाः सर्वोत्तरत्वमुक्तम् । तत्रैव—

एतामेव पुराराध्य विद्यां त्रैलोक्यमोहिनीम् ।
त्रैलोक्यमोहनं रूपमकार्षीद्भगवान् हरिः ॥
कामदेवोऽपि देवेशि महात्रिपुरसुन्दरीम् ।
समाराध्याभवल्लोके सर्वसौभाग्यसुन्दरः ॥

इति फलमभिहितम् । कामस्य सर्वसौभाग्यसुन्दरत्वे को नामातिशय इति चेत् ? तेनैव कामेन स्त्रीपुंसावाकृष्टौ परस्परं पुत्रपौत्रसन्ततिं जनयत इति सकलजीवलोकसृष्टिप्रयोजकत्वलक्षणातिशयः कामदेवे सम्पन्न इति । ज्ञानार्णवे च—

एतामाराध्य देवेशि कामः सौभाग्यसुन्दरः ।

इति समानरूपेणोक्त्वा हरौ विशेषमाह—

हरिश्च परमेशानि त्रिपुराराधनात् प्रिये ॥
त्रैलोक्यमोहनो भूत्वा स्थितिकर्ताऽभवत् सदा ॥ इति ।

न च मोहनत्वं कथं स्थितिप्रयोजकमिति वाच्यम् । परस्परमोहवशाद्धि स्वीयकाम्यार्थपरिपूर्तये यतन्ते जना जिजीविषन्ति च । तथा चास्मदीयायां दिव्यरसतरङ्गिण्यां—

प्रेम्णा वाति समीरणो रविरयं प्रेम्णाम्बरे दीप्यते
प्रेम्णा भाति निशापतिर्ज्वलति च प्रेम्णा कृशानुः स्वयम् ।
प्रेम्णा वर्षति चञ्चदञ्चिततडिद्वल्लीककादम्बिनी
सर्वं च प्रकृतेर्विलासमविदुः प्रेम्णः फलं पुंस्पृशः ।
संयुज्यन्ते भुवनभवनायाणवः प्रेमहेतो—
र्भ्राम्यन्त्यन्ये विरहचलिताः सन्ततं तत्समन्तात् ।
आकृष्यन्ति द्युमणिकुमुदक्षोणयोऽन्योन्यमेते
सर्वं वर्वर्त्यनुगतपरप्रेमपाशानुबद्धम् ।

इत्यादिना विस्तरेणायमर्थः । विष्णोर्मोहनत्वं नामैवंविधप्रेमप्रयुक्तपरस्पराकर्षणवत्त्वमेव । न तु तमोरूपमिति द्रष्टव्यम् । अपि च तत्रैव ज्ञानार्णवे—

एतत्समाराधनात्तु ब्रह्मा सृष्टिकरोऽभवत् ।
चन्द्रसूर्यौ वरारोहे सृष्टिसंहारकारकौ ॥

भैरवस्य वचनं तत्रैव—

मयाप्येतद्व्रतस्थेन क्रियतेऽद्यापि सुव्रते ।
जप्यं त्रिसन्ध्यमेतस्यास्तदेतत्पदसिद्धये ॥

एतद्भैरवपदं सिद्धं त्वदीयजप्येनैव तदनुवृत्त्यर्थं कृतज्ञतार्थं वाऽद्यापि मया जप्यं क्रियत इत्यर्थः। कीदृशं भैरवपदं ? तदुक्तं बोधपञ्चदशिकायां—

स एव भैरवो देवो जगद्भरणलक्षणः।
स्वात्मादर्शे समग्रं हि यच्छक्त्या प्रतिबिम्बितम्॥
तस्यैवैषा परादेवी स्वरूपामर्शनोत्सुका।
पूर्णत्वं सर्वभावेषु यस्या नाल्पं न चाधिकम्॥
एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद्विभुः॥
अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तममेव तत्।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता॥ इत्यादि।

एवंविधं भैरवत्वं जप्येन प्राप्तमिति भावः। अपि चोक्तं वामकेश्वर एव—

परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्त्तुं न किंचन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद्यदि॥
शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते। इत्यादि।

देवीभागवते च स्पष्टमाचष्टे स्म—

शक्तिः करोति ब्रह्माण्डं सा वै पालयतेऽखिलम्।
इच्छया संहरत्येषा जगदेतच्चराचरम्॥
न विष्णुर्न हरः शक्रो न ब्रह्मा न च पावकः।
न सूर्यो वरुणः शक्ताः स्वे स्वे कार्ये कथंचन॥
तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः॥ इत्यादि।

सर्वमपीदं "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्" "तनीयांसं पांसुमि"त्यादिभिः श्लोकैर्भगवत्पादाः सौन्दर्यलहर्यां वर्णयामासुः।

एतत्सर्वाधिकं फलं ब्रह्मविष्णुमहेशसूर्यप्रभृतिषु देवेषु स्पष्टं भाति। अस्माकं पुनः कीदृशं सर्वाधिकं फलमिति जिज्ञासायां कौलानां समयिनां च विभज्य तत्प्रदर्शयति—तदेतत्कौलानामित्यादि। फलमिह हीति। तथा च वामकेश्वरे—

एवमेतन्महाचक्रं महाश्रीत्रिपुरामयम्।
क्लेदनं द्रावणं चैव क्षोभणं मोहनं तथा॥

आकर्षणं महादेवि जृम्भणं स्तम्भनं तथा।
व्याधिदारिद्र्यशमनं सर्वदुर्नीतिनाशनम् ॥
शान्तिपुष्टिधनारोग्यमन्त्रसिद्धिकरं परम्।
भोगदं मोक्षदं चैव खेचरत्वप्रवर्तकम् ॥
सर्वरक्षाकरं देवि सर्वानन्दकरं तथा।
सर्वकर्मकरं चापि सर्वकार्यार्थसाधकम् ॥

इत्यादिना ग्रन्थेनैहिकं फलं विस्तरेण प्रपञ्चितम्। न च महाचक्रमेव क्लेदनादिकरमत्रोक्तं न तूपास्तिस्तथेति वाच्यम्। महाचक्रमित्यनन्तरमर्चितमिति पूरणीयत्वात्। साध्यानुप्रविष्टरूपेणैव सिद्धानां फलदत्वस्वीकारात्। महाचक्रमित्यत्र महेतिपदं "महपूजायामि"ति धातुनिष्पन्नं पूजितचक्रमित्यर्थप्रापकं स्वीकृत्य चक्रपूजनमिति फलितार्थं व्याख्यातारः प्राहुः। एतत्सामान्यपूजनफलमुक्तम्।

सर्वतत्त्वमयं देवि सर्वज्ञानप्रदं तथा।

इत्यादिना च सत्तन्मयत्वेन पूजनस्य फलान्तराण्यभिहितानि। सर्वतत्त्वमयं, सर्वमन्त्रमयं, सर्वपीठमयं, सर्वव्रतमयं, महालक्ष्मीमयमिति पञ्च तत्तन्मयत्वेन पूजनान्युक्तानि। अत्र बाह्यपूजनस्योच्यमानतया मोक्षदमिति सालोक्यादिपरम्। ज्ञानमपि नाद्वैतपरकं किन्तु तदितरदिति द्रष्टव्यम्।

ननु कौलानां निषिद्धाचारकर्तृत्वात्कथमेवंविधफललाभसंभवः। न हि कलञ्जादिभक्षणकारिणां "न कलञ्जं भुञ्जीते"ति निषिद्धार्थकारिणां स्वर्गादिफलनिष्पत्तिसंभवः। न च निषिद्धस्यापि पूजायां विहितत्वात्फलप्रदत्वमिति वाच्यम्। निषिद्धस्य विध्ययोगात्। विहितस्य च निषेधायोगात्। मैवम्। निषिद्धमद्यमांसाद्यशनपूजनादीनां नरकफलत्वेऽपि श्रीविद्याध्यानपुष्पसमर्पणादेः फलप्रदत्वावश्यंभावात्। न हि "क्रतौ नानृतं ब्रूयादि"तिवत्क्रत्वङ्गतया मांसाद्यशननिषेधः श्रुतो येन क्रत्वङ्गवैकल्यं प्रसज्येत। प्रत्युतानुमतिं प्राग् व्याचक्ष्महि वयम्। यदि च सांख्यमतमवष्टभ्यते तदा न भिन्नाश्रितयोर्विधिप्रतिषेधयोर्विरोध एव। न हि फूत्कुर्वाणं भुजगं निघ्नति विधिप्रतिषेधयोरसमावेशः। सर्पवधजनितपापस्य ब्राह्मणरक्षणपुण्यस्य च युगपत्समावेशात्। कटुरसौषधस्य पानकाले दुःखजनकत्वमामयोपशमसुखजनकत्वमित्युभयमपि दृष्टम्। व्याख्यातं चाचार्यैः "स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इति सांख्यकारिकापदं—"यद्यपि श्रुतिस्मृति-

विहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्तः" इति । मिश्रीभावात् पशुहिंसादिपापमिश्रीभावात् । **"अशुद्धमिति चेन्न शब्दादि"**ति बादरायणीयमते यद्यपि नास्ति मिश्रीभावस्तथापि पञ्चविंशतितत्त्वादिप्रतिपादकसांख्यप्रक्रियासामान्यात् तान्त्रिकाणां तन्मतसामीप्यमेव भाति । सर्वथापि कृतायाः पूजायाः भवत्येव फलमिति युक्तमुक्तं **'कौलानां फलमिह ही'**ति । न च मोक्षदमित्युक्तेः परत्रापि फलं भवत्येवेति इह हीति निर्धारणमयुक्तमिति वाच्यम् । "दृष्टवदानुश्रविक" इत्युक्तेः सालोक्यादेरपि दृष्टसदृशत्वात् । इह हीत्यनेन परमनिःश्रेयसेतरफलविवक्षणात् ।

चैतदिति । चस्त्वर्थे । एतदिति फलपरामर्शः । किन्त्वेतत् सर्वाधिकलक्षणं फलं **समयिनां सहस्रारे पद्मे इति** । उपासनां कुर्वाणानामिति शेषः । सुभगसुभगा—सुभगानामपि सुभगा परमसुभगेति यावत् । फलपरोऽपि सायुज्यपदवीतिवक्ष्यमाणफलविशेषविशेषणत्वात् स्त्रियां प्रयोगः । सुभगः परमैश्वर्यं परमैश्वर्याणामपि परमैश्वर्यमिति वाग्विषयत्वाभावध्वननाय प्रयोगः । न हि श्रेष्ठानां श्रेष्ठमिति प्रयोगो विद्यते निरपेक्षः । एतत्स्फुटयति- **परमिति** । परं सौभाग्यं यत् तदिहैव जीवदवस्थायां तव सायुज्यपदवी जीवन्मुक्तिरूपा । हे सुभगे ! इति सम्बोधनम् । अथवा सुभगे इति सहस्रारविशेषणम् । सुभगे सहस्रारपद्मे सुभगसुभगा सुभगानामपि सुभगा परमसुभगा भगवती उदेति प्रकटीभवति प्रत्यक्षीभवति । तदिदं समयिनां सर्वाधिकं फलमित्यर्थः । फलान्तरमाह—परमिति । इतोऽपि परं सौभाग्यं फलं यद् भवति तदिदम् । किं तत् ? तव सायुज्यपदवीति योजना । भगशब्दस्यैश्वर्यवाचित्वात् सुभगसुभगायाः प्रत्यक्षे सकलैश्वर्यसिद्धिर्भवतीति सूच्यते । तथा च युक्तं तस्य सर्वाधिकफलत्वम् । अपि च सुभगा परमैश्वर्यवती या सुभगा कुण्डलिनी सा सुभगे सहस्रारे उदेति उत्थायागच्छति । तदा च परमतत्त्वसाक्षात्कारो भवति । सहस्रारे कुण्डलिनीयोगेन हि भगवतीसाक्षाकारः प्रागुपपादितः । तत्रामृतप्रवर्षणमपि प्रागेवावेदितमिति तद्दर्शनं परमानन्दरसास्वादनियतमिति परमपुरुषार्थत्वं तस्य । सायुज्यं चाहं ब्रह्मास्मीत्यपरोक्षसाक्षात्कारेणावस्थानमेव । चिदानन्दरसकलैव ब्रह्मेत्युच्यते । जीवदवस्थायां नातः परः पुरुषार्थो भवतीति युक्तं परं सौभाग्यमित्यादि । कौलानां समयिनां च स्वाभीष्टफलादप्यधिकफलप्रदत्वं विशेषः तदुक्तं—

भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं ।
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ ॥ इति ।

लोकानामित्येतेन सर्वसाधारण्यं सूचितम्। भयात्त्रातुमिति मोक्षः। वाञ्छे-त्यादिना भोगः। तदेतदभिप्रेत्य मनोहरस्तोत्रे परमेश्वरोऽप्याह—

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

भोगश्च मोक्षश्चेति संभवाभिप्रायेण समुच्चयः। समयिनां भोगेच्छाविरहात्। भोगेच्छूनां मोक्षेच्छाविरहात्। तथापि पूर्वोत्तरकालेन एकस्या उपासनाया उभयफलसमुच्चयो विशेष एव। न हि ज्ञानस्य भोगसाधनत्वम्। न च कर्मणो मोक्षहेतुत्वम्। न च कर्मणो ज्ञानद्वाराऽस्ति मोक्षहेतुत्वमपीति वाच्यम्। ज्ञानकाले कर्मानधिकारावश्यंभावात् अत्र त्वेकैवोपासना काल-भेदेन भोगं मोक्षं च प्रयच्छतीति विशेष इति॥ ५२॥

अतोऽस्याः संसिद्धौ सुभगसुभगाख्या गुरुकृपा--
कटाक्षव्यासङ्गात् स्रवदमृतनिष्यन्दसुलभा ।
तया विद्धो योगी विचरति निशायामपि दिवा
दिवा भानू रात्रौ विधुरिव कृतार्थीकृतमतिः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य भगवद् गौडपादाचार्यविरचितं सुभगोदयस्तोत्रं संपूर्णम् ।

इसलिये इस उपासना का परिपाक होने पर गुरु कृपाकटाक्ष की अमृत वर्षा से सुभगसुभगारूपी महासिद्धि सुलभ हो जाती है। उससे युक्त होकर योगी दिन-रात स्वतन्त्र-स्वच्छन्द विचरण करते हैं। दिन में सूर्य के समान और रात को चन्द्रमा के समान वे प्रकाशमान होते हैं। सर्वथा कृतार्थ हो जाते हैं। ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

यतोऽस्या उपास्तेः सर्वाधिकं फलमुक्तम् अतः अस्या उपास्तेः संसिद्धौ= संपरिपाके गुरुकृपाकटाक्षस्य व्यासङ्गः=सम्बन्धस्तस्मात् स्रवन् योऽमृत-निष्यन्दः=अमृतप्रस्रवणं तेन सुलभा सुभगसुभगाख्या सायुज्यपदवीरूपा सिद्धिर्भवति तया सिद्धया विद्धो=व्यतिकरितो योगी दिवा निशायामपि कृतार्थीकृतमतिर्विचरति। कथमिव ? दिवा भानुरिव रात्रौ विधुरिव= चन्द्र इव विरचति ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थप्रबोधाय यदाद्यं विवृतं मया ।
तदस्तु प्रीतये मन्द-मतीनामर्थसिद्धिदा ॥ १ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य-महामण्डलेश्वरकाशिकानन्द-विरचितान्वयार्थबोधिनी ।

अमृतझरिका

सकलमपीदं गुरुकृपायां सत्यामेव भवितुमर्हतीत्यवश्यवक्तव्यां तामुप-संहारव्याजेन निर्वर्णयंस्तत्प्रयुक्तसिद्धिमतां कृतार्थतां दर्शयति—अत इति। यत उपास्तेरुक्तं सर्वाधिकं फलमतोऽस्याः उपास्तेः संसिद्धौ सम्यक् परिपाके सुभगसुभगाख्या तव सायुज्यपदवीति पूर्वश्लोकोक्तविशेष्यपदान्वयः। सुभग-

सुभगाख्या सायुज्यपदवी सुलभा भवतीत्यन्वयः। संसिद्धिरिति प्रथमान्त-पाठः सुगमः। कथं सुलभा ? तत्राह—गुरुकृपाकटाक्षव्यासङ्गात् स्रवन् योऽमृतनिष्यन्दस्तेन सुलभा भवतीति। व्यासङ्गादिति पञ्चम्या स्रवदिति समासघटकेनान्वयः। गुरुकृपाकटाक्षस्रवदमृतप्रस्यन्देन सुलभेति। सुभग-सुभगाख्या सिद्धिर्गुरुकृपाकटाक्षव्यासङ्गाद् भवति। सा च सिद्धिः कीदृशी ? स्रवन्नमृतष्यिन्देन सुलभो यस्यां सेति वा शिवशक्तिसामरस्यस्रवदमृत-निष्यन्देन सकलद्वैतप्रपञ्चविस्मरणकारिणा केवलानन्दैकरसशिवशक्ति-सामरस्यस्वरूपप्रकाशिना सुलभेति तृतीयासमासो वा। अत्र शिवसूत्रं—

"गुरुरुपाय" इति।

एतदभिप्रायं वरदराज आह स्म—

सम्यग् ज्ञानक्रियाप्राणमन्त्रमुद्रा यथास्थितिम्।
गृणात्युपदिशत्यर्थं तद्वीर्यं चेत्यतो गुरुः॥
स एव मन्त्रमुद्राणां वीर्यव्याप्तिप्रकाशनात्।
उपायः कथ्यते साक्षादुपेयं परमं प्रति॥
यद्वा गुरुः पराशक्तिरीश्वरानुग्रहात्मिका।
अवकाशप्रदत्वेन सैव यायादुपायताम्॥ इति।

उपेयं परं ब्रह्म उपाययति प्रापयति चेत्युपायः। उपायैः साधनैः प्रापयतीत्यतः प्रापक इत्यनुक्त्वा उपाय इत्युक्तम्। सम्यग् ज्ञानादीनि तु साधनानि। वार्तिककारोऽप्याह—

वक्तृत्वात्तात्त्विकार्थानामुपेयपदलम्भनात्।
गुरुरौन्मनसे धाम्नि विश्रान्तिपथदर्शकः॥ इति।

वक्तृत्वात्तात्त्विकार्थानामित्यनेन गृणाति तात्त्विकार्थानिति व्युत्पत्तिलभ्यार्थ-प्रदर्शनम्। उपेयं साधनैरुपाययतीत्यर्थमुपेयपदलम्भनादित्यनेनोपायपदस्य प्रदर्शितम्। किमुपेयमित्येतद् व्यञ्जितं—औन्मनसे धाम्नीत्यादिना। कुलार्णवे गुरुलक्षणमेवमभिहितं--

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥ इति।

गुशब्दार्थो गुह्यात्मतत्त्वबोधनम्। रुशब्दार्थो रुद्रादिदेवतारूपमिति। अथ को गुरुरिति चेत् ।गृहस्थ एवेत्येके। ब्रह्मचार्यपोत्यन्ये। यतिरिति च परे—

शुचिः सुवेशस्तरुणः सर्वभूतसमानधीः ।
धीमाननुद्धतमतिः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ॥
श्रद्धावाननसूयश्च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥ इति ।

देवीमते— आचार्यः शैवतन्त्रज्ञः शिवदेशसमुद्भवः ।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा शिवभक्तिपरायणः ॥
यजमानानुकूलर्क्षजन्मा देशिक उच्यत ॥ इति ।

मोहशूरोत्तरे—चीर्णाचारव्रती मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः ।
नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद् भौतिकोऽपि च । इति ।

तत्र प्रममे तरुण इति विशेषणाद् वृद्धानां गृहस्थानां गुरुत्वं न स्यात् । तदयुक्तम् । तस्माद् विशिष्टहोमयज्ञादिनिर्वर्तनस्थलाभिप्रायेणैव तथाविध-गृहस्थोक्तिर्नत्वितरव्यावृत्त्यर्था । द्वितीये ब्रह्मचारीति तद्व्रतस्था ब्रह्मचारि-वानप्रस्थसंन्यासिनस्त्रयोऽपि गृह्यन्ते । "जटी मुण्डी शिखी वापी" त्येवम-विशेषेणातीतागमे गुरुत्वेन निर्देशात् । अन्ये तु सर्वमपि लक्षणं प्रभज्य—

संसारसागरे मग्नान् यस्तारयति देहिनः ।
तत्त्वप्लवप्रदानेन स एवेह गुरुः स्मृतः ॥

इत्यतिष्ठिपन् । पौष्करेऽप्याह—

सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुच्यते ।
ज्ञानं च तत्त्वविज्ञानं षडध्वज्ञानसंश्रयम् ॥ इति ।

ज्ञानप्रदातृत्वेनैव गुरोर्गुरुत्वोपपत्तेः । अध्वषट्कं तु—

वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च ।
इत्यध्वषट्कं देवेशि भाति त्वयि चिदात्मनि ॥

इति सौभाग्यहृदयवर्णितं द्रष्टव्यम् । "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इति श्रुतिरप्युक्तमर्थमेवोपोद्बलयति । वस्तुतस्तु समयिनां सायुज्यपदवीम-भिलष्यतां परित्यक्तमद्यमांसमैथुनादीनां मुमुक्षूणां कृते यतिरेव ध्येयः परमो गुरुः । तदलाभे एव गृहस्थो गुरुः । यदि च गृहस्थः सर्वथा वीतरागस्तदा सोऽपि यतिसम एव । सर्वथा वीतरागत्वे किमिति गृह एव स्थातव्यमित्यभि-निवेशः स्यात् । प्रबलप्रारब्धबलादेवेति चेदङ्गीकुर्मो नान्यथा । ईदृशमेव यतिमुद्दिश्याह भगवान् पतञ्जलिः—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ इति ।

एवं विधगुरुध्यानं चित्तप्रसादकारकमिति ध्येयत्वेन तादृश एव गुरुरुपतिष्ठते। ध्येयत्वं च गुरोराह—

प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।
प्रसन्नवदनं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्॥ इति।

यामले विशेषः—

सहस्रदलपङ्कजे सकलशीतरश्मिप्रभं
वराभयकराम्बुजं विमलगन्धपुष्पाम्बरम्।
प्रसन्नवदनेक्षणं सकलदेवतारूपिणं
स्मरेच्छिरसि हंसगं तदभिधानपूर्वं गुरुम्॥

न हि रागद्वेषादिदोषकलुषितो ध्यातोऽपि चित्तप्रसादकरो गुरुर्भवति। अत एव—

सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्।
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः॥
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः।
योगमार्गानुसंधायी देवता हृदयंगमः॥
इत्यादि गुणसम्पन्नो गुरुरागमसंमतः॥

इति शारदातिलके गुरुगुणाः प्रदर्शिताः। तस्मात् गृहस्थस्तरुण इत्यादि बहुकर्मकाण्डकवलितानुष्ठानकारकपुरोहितविशेषविषयक एव। एवमन्यत्रापि क्वचिद्यतिनिषेधोऽपि कर्मकाण्डविषयक एव। ये तु "न शिष्याननुबध्नीयात्" इत्यादिवचनमालोक्य यतेर्गुरुत्वमेव नास्तीति प्रतिपादयितुं प्रयतन्ते ते मूढा एव यतिदीक्षाभङ्गप्रसङ्गात्। न हि यतिदीक्षा गृहस्थेन शक्यते दातुम्। तावदंशे यतीनां गुरुत्वोपगमे न शिष्याननुबध्नीतेति वचनस्य गतिर्वक्तव्या। शिष्यान् बद्ध्वापि अनुबन्धं न कुर्यान्ममशिष्योऽयमिति चेत्तर्हि अन्यत्रापि समः समाधिः। मातृपितृपुत्रादिष्विव शिष्यादावपि अनुबन्धपरित्यागस्य यतीनां युक्तत्वात्।

अथ गुरुकृपाकटाक्षव्यासङ्गः कीदृश इति उच्यते। सप्रसादसदयसदीक्षोपदेश एव स इति। न च परमगुरोरद्वैतदर्शिनः प्रसाददयाद्यसंभव इति वाच्यम्। बाधितजगदनुवृत्त्या सर्वसंभवात्। पूर्वाभ्यासवशेन रागाभासादेरप्यभ्युपगमात्। तथा च—

दान्ताय चोपसन्नाय शिष्यायोपदिदेश च ।
दीक्षापूर्वं महेशानि विद्यामुपदिशेद् गुरुः ॥

इत्यादिवचनाद् विध्याभासेनापि गुरव उपदेशादिकर्मणि प्रवर्तन्ते । दीक्षा नाम—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुभावना ।
दानक्षपणसंयोगाद् दीक्षेपि परिकीर्त्यते ॥

अन्यत्रापि—ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम् ।
अतो दीक्षेति सा प्रोक्ता दीक्षाशब्दार्थवेदिभिः ॥

किं च— दीयते परशिवैक्यभावाना
क्षीयते सकलपापसंचयः

इत्यादिवचनवृन्दमनुसन्धेयम् । दीक्षा चोक्ता संक्षेपात्मिका—

मुहूर्ते सर्वतोभद्रे नवं कुम्भं निधाय च ।
सोदकं गन्धपुष्पाभ्यामर्चितं वस्त्रसंयुतम् ।।
सर्वौषधिनवरत्नपञ्चपल्लवसंयुतम् ।
ततो देवार्चनं कृत्वा हुनेदष्टोत्तरं शतम् ॥
शिष्यं त्वलंकृतं वेद्यामुपाग्निमुपवेशयेत् ।
मन्त्रितं प्रोक्षणीतोयैः शान्तिकुम्भजलैस्तथा ॥
मूलमन्त्रेणाष्टशतं मन्त्रितैरभिषेचयेत् ।
अथ संपादयेन्मन्त्रं हस्तं शिरसि धारयन् ॥
समोऽस्त्वित्यक्षतान् दद्यात्ततः शिष्योऽर्चयेद् गुरुम् ॥ इति ।

एवं विधदीक्षाविरहेऽपि ज्ञानप्रदानपूर्वकपशुभावनिवृत्त्या उपदेशमात्रं भवेत्

महादीक्षा तथा दीक्षा उपदेशस्ततः परम् ।
युगे युगे च कर्तव्या उपदेशः कलौ युगे ।

इति तन्त्रसारोक्तेः । अयमेव गुरुकृपाकटाक्षव्यासङ्गः । व्यासङ्गत्वं स्फुटं तैत्तिरीये—

आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् ।
विद्या सन्धिः । प्रवचनं सन्धानम् ॥ इति ।

एतस्माद् स्रवन् योऽमृतनिष्यन्दः । स्रवन्निति वर्तमानप्रयोगान्न युगपत्स्रुतत्वम् । तथा चाचार्यसम्बन्धे सति शिष्यो यथा यथोपास्तिमाचरति तथा

तथाऽमृतनिष्यन्दो भवतीति गम्यते। अमृतनिष्यन्दश्चामृतरूपिण्याश्चित्कलाया ईषदीषदनुभव एव। एवमनुभवे शनैः शनैर्वृद्धिंगते सुभग-सुभगाख्या सायुज्यपदवी सुलभा भवति।

अत्र अतोऽस्याः संसिद्धौ इत्यस्य सुभगसुभगाख्या सिद्धिः सुलभेत्यत्रैवान्वयः। न तु गुरुकृपादावपि। न ह्युपासनासिद्ध्युत्तरं गुरुकृपादिः। तथा च उपास्तिसंसिद्धौ लभ्या गुरुकृपाकटाक्षव्यासङ्गस्रवदमृतनिष्यन्दसुलभेत्येकपद एवान्वयः। सा च गुरुकृपा उपास्तेः पूर्वं य उपदेशस्ततोऽपि पूर्वतः प्रवर्तमाना।

अतोऽस्याः संसिद्धावित्यस्य गुरुकृपेत्यादावन्वये प्रकारान्तरेण व्याख्या कार्या। अस्याः उपास्तेः संसिद्धौ परिपाके सति किमित्युच्यते गुरुकृपेति। सहस्रदलकमले ध्येयो यो गुरुस्तस्य कृपाकटाक्षव्यासङ्गो भवति। गुरुश्च तत्र शिवरूपेण तिष्ठति। तथा चोक्तं—

शिरः पद्मे सहस्रारे शुक्लवर्णे त्वधोमुखे।
तरुणारुणकिञ्जल्के सर्ववर्णविभूषिते॥
कर्णिकान्तःपुटे तत्र द्वादशार्णसरोरुहे।
तेजोमये कर्णिकान्तश्चन्द्रमण्डलमध्यगे॥
अकथादित्रिरेखीये हलक्षत्रयमण्डिते।
हंसपीठे मन्त्रमये स्वगुरुं शिवरूपिणम्॥ इत्यादि।

अधोमुखे सहस्रारे कथं गुरुस्थितिरिति देवीपृष्टो दक्षिणामूर्तिराह—

अधोमुखस्य पद्मस्य कर्णिकामध्यसंस्थितम्।
चन्द्रबिम्बं चोर्ध्वमुखं तत्र हंसस्ततः स्थितिः॥ इति।

चस्त्वर्थे। ततश्चामृतनिष्यन्दस्रवणमुक्तं बृहच्छ्रीक्रमे—

सर्वोपरि ततो ध्यायेत् पश्चिमाननपङ्कजम्।
स्रवन्तममृतं दिव्यं देव्यङ्गे कमलान्तरे॥

देव्यङ्गे गुरुशक्त्यङ्गे इति तत्र टीका।

निषक्तमणिपादुकानियमिताघकोलाहलं
स्फुरत्किसलयारुणं नखसमुल्लसच्चन्द्रकम्।
परामृतसरोवरोदितसरोजसद्रोचिषं
भजामि शिरसि स्थितं गुरुपदारविन्दद्वयम्॥

इति च पादुकापञ्चके शिवः। पूर्णानन्दैरप्युक्तं—

सुधाधारासारं निरवधि विमुञ्चन्नतितरां
यतेः स्वात्मज्ञानं दिशति भगवान् निर्मलमतेः ।
समास्ते सर्वेशः सकलसुखसन्तानलहरी
परीवाहो हंसः परम इति नाम्ना परिचितः ॥

परमो हंसः परमहंसो गुरुरेव । हंसपीठत्वाद्धंसः ।

हंसपीठे मन्त्रमये स्वगुरुं शिवरूपिणम् ।
अमुकानन्दनाथान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम् । इति चान्यत्र ।

तयेत्यादि । तया सुभगसुभगाख्यया सिद्धया सायुज्यपदवीरूपया विद्धो व्यतिकरितो योगी । सुभगसुभगा स्वयं भगवत्येव, तत्प्राकट्यं प्रथममुक्तम् । तत्सायुज्यपदवी तद्रूपेणावस्थानमतः सापि सुभगसुभगाख्या भवति । तद्व्यतिकरितत्वं जीवन्मुक्तिकाले सर्वथा तदैक्यविरहमभिप्रेत्योक्तम् । विदेहमुक्तिकाले तु तद्रूपत्वमेवेति द्रष्टव्यम् । यथोक्तसिद्धिसंपन्नो विचरतीति योजना वा । कथं विचरति ? तत्राह–दिवा दिवसे भानुः सूर्य इव रात्रौ विधुरिव चन्द्र इव कृतार्थीकृतमतिर्विश्वं तर्पयन् स्वानन्दतृप्तो विचरतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीदेव्याः सुभगोदयस्तुतिरियं दिव्या सतां योगिना—
माचार्यप्रवरैः शिवाय रचिता श्रीगौडपादाह्वयैः ।
तस्याः श्रीजयमङ्गलेन यतिना वृत्तिः सतामिष्टदा
भावार्थावबुभुत्सया विचरतामेषा पुरः कल्पिता ॥ १ ॥

प्रसीदतु श्रीभुवनेश्वरी मे
प्रसीदतु श्रीभुवनेश्वरोऽपि ।
तयोः प्रसादे किमसत्प्रसादै—
स्तदप्रसादे किमसत्प्रसादैः ॥ २ ॥

तन्त्रान्तराणि परिशील्य सभञ्जनानि ।
सम्यग् विचार्य च वचांसि तदुद्धृतानि ।
व्याख्या कृता समयिनां जयमङ्गलेन
श्रीगौडपादकृतिषु प्रणिधाय चेतः ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीजयमङ्गलाचार्य महामण्डलेश्वर काशिकानन्दस्वामिपादविरचिता सुभगोदयस्तोत्र व्याख्या अमृतझरिका समाप्ता ॥



मूलश्लोकानुक्रमणिका

ग्रन्थकार के मुख्य प्रकाशन

जागदीशी-सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	२५ ००
वैराग्यमन्दाकिनी सानुवाद	दुष्प्राप्य
गोपीगीत हिन्दी अर्थद्वयव्याख्या	,,
दश शान्तयः सानुवादाः	
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र सवार्त्तिकं सानुवादम्	,,
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः सौरभव्याख्या	१२ ००
ईशावास्यं शाकरभाष्यं रहस्यविवरणं	३० ००
शंकरादिग्विजयः सानुवादः अजिल्द २० ०० स०	३० ००
नारदीय भक्ति सूत्र सवार्त्तिक सानुवाद	
प्रथम भाग	१० ००
द्वितीय भाग	१० ००
तृतीय भाग	१० ००
भागवतसारस्तोत्रं सानुवादं	१२ ००
भीष्मस्तुति प्रवचन (गुजराती)	दुष्प्राप्य
महिम्नः स्तोत्रं हरिहरपक्षीय हिन्दी व्याख्या, टिप्पणी	५ ००
शिवमहिम्नः स्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३० ००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्ध	३५ ००
,, (स्थितप्रज्ञदर्शन) उत्तरार्ध	२५ ००
गीताप्रवचन ध्यानयोग सन्दर्भ पूर्वार्ध	३० ००
उत्तरार्ध	२० ००
वेदान्तसिद्धान्तपीयूषबिन्दुः सानुवादः	१० ००
ईशावास्योपनिषत् सवार्त्तिकं शांकरभाष्यं सानुवादं अ० ३० ०० स०	४० ००
वेदान्तसारः वेदान्तमन्दारमाला च सानुवादौ	१२ ००
सुभगोदयस्तोत्रम् अमृतझरिकाव्याख्या, अन्वयबोधिनी, (तन्त्र) अ० ३० ०० स०	४० ००
दिव्यरसतरङ्गिणी कादम्बिनी टीका	१२ ००